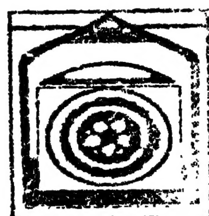
कालजयी
स्वामी विवेकानंद



कालजयी स्वामी विवेकानन्द

(भाग-2)



कालजयी स्वामी विवेकानन्द

(भाग-2)

लेखक

सत्य शकुन

सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली-110007

प्रकाशक : सन्मार्ग प्रकाशन,
16, यू०बी०, बैंग्लो रोड,
जवाहर नगर, दिल्ली-110007

आवरण : सौजन्य सत्यसेवक मुखर्जी
मुद्रक : **आर. के. ऑफसेट. नवीन शाहदरा, दिल्ली-32**

KALJAYE SWAMI VIVAKANAND by Satya Shakun

स्वामी विवेकानन्दजी को लग रहा था मानो जीवन-पथ का एक पड़ाव गुजरा हो। वे लौट नहीं रह थे अपितु अगे बढ़ रहे थे....एक नई स्फूर्ति व शक्ति लेकर। उनके अधरों से शब्द निकले—"जिसने अपने पर विश्वास कर लिया, उसने जग जीत लिया।"

"स्वामीजी, लेकिन उसके लिए आत्मबल चाहिए न ?" कैप्टन सेव्हियर बोले।

"पुरुष तो फिर भी जग जीतने का दुस्साहस कर सकते हैं, पर स्त्री...." कुमारी मूलर बोलीं।

"पुरुष और स्त्री में भेद क्या है ?" स्वामीजी ने पूछा।

"हां, है तो कुछ नहीं, अब देखिए न पूरे जहाज के धनिक यूरोपियनों से मैंने दोस्ती गांठ ली है। इनके संगत में आनन्द आता है। लेकिन इसके लिए पैसा चाहिए। गरीब के पास विश्वास हो भी तो क्या होगा ?" कुमारी मूलर बोलीं।

"आंगिक भेद है।" कैप्टन बोले।

"यह दर्शन की समाप्ति है। भाई, प्रत्येक मनुष्य ब्रह्म है। उपनिषद् में कहा गया है—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वंचसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः।।

तुम्हीं स्त्री हो, पुरुष भी तुम्हीं हो, तुम कुमार, तुम्हीं कुमारी भी हो और तुम्हीं दण्ड का सहारा लिए हुए वृद्ध हो, विश्व में सर्वत्र तुम ही हो। तर्कशास्त्र और विज्ञान को एक ओर रख दें और इस कथन पर विश्वास करें तो कोई कायर नहीं हो सकता ....कोई स्त्री अपने को पुरुष की अपेक्षा अशक्त नहीं समझेगी....यही हमारे आत्मबल को जगाने की नींव है। विश्वास और आत्मबल क्या नहीं कर सकता ? प्रत्येक राष्ट्र का इतिहास उठा कर देख लीजिए, जिन व्यक्तियों ने अपने पर विश्वास किया, वे ही महान और सबल हुए। हम जिस भारत में जा रहे हैं, वहां एक अंग्रेज आया था। वह एक साधारण क्लर्क था। रुपयों के अभाव में और कुछ अन्य कारणों से उसने अपने सिर पर गोली मारकर दो बार आत्महत्या करने की चेष्टा की। जब वह उसमें असफल हुआ तो उसमें आत्मविश्वास जागा कि वह तो बड़े काम करने के लिए

पैदा हुआ है। आत्महत्या करके वह अपने मार्ग का अन्त नहीं करेगा। इसके पश्चात् वही क्लर्क प्रतिष्ठाता बना और लार्ड क्लाइव कहलाया। वही व्यक्ति यदि पादरियों के समक्ष घुटने टेक कर गिड़गिड़ाता रहता—'प्रभु मैं दुर्बल हूं, दीन हूं' तो क्या वह लार्ड क्लाइव बनता ? यहां आप देखेंगे कि धन का महत्व नहीं था।"

"लेकिन यदि क्लाइव रंक ही रहता, तो क्या उसका विश्वास जागता ? उस स्थिति में तो शायद वह तीसरी, चौथी बार आत्महत्या का प्रयास करता।" कुमारी मूलर ने कहा।

"कैप्टन साहब, मैं न्यूयार्क के समुद्र तट पर खड़ा-खड़ा देखा करता था। जहाजों से उतरते भिन्न-भिन्न देशों के लोगों के चेहरे पढ़ने की कोशिश करता था। उनके उतरे चेहरे, लड़खड़ाते पैर, फटे-पुराने कपड़े, मुरझाई आशा देखकर लगता था, मानो वे चलती-फिरती लाशें हों। उनमें इतना भी साहस नहीं होता था कि किसी से दृष्टि मिला सकें। उनकी बगल में एक पोटली दबी रहती थी और पुलिस वाले को देखते ही भय से अपना रास्ता बदल लेते थे। लेकिन कुछ ही महीनों बाद उन्हें मैं ग्रीवा उठाकर चलता देखता। कहिए, उनमें ये परिवर्तन किसने किया ?"

"स्वामीजी, मैं इसके दो कारण मानता हूं। पहला तो उनका खुद का आत्मविश्वास और दूसरा यहां का सामाजिक वातावरण, अमेरिका और इंग्लैंड तथा अन्य विकसित यूरोपियन देश में अन्यों को दबाने की कम प्रवृत्ति है। आपके पास धन है तो आप वही सुविधाएं पा सकते हैं जो एक धनिक पाता है। धन कामने की भी यहां स्वतंत्रता है। आपकी हिम्मत और परिश्रम जितना है, उतना आप धन कमा सकते हैं।"

"ये बातें भी विश्वास अर्जित करने के लिए सहायक होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अपने देश में यह विश्वास और सुकून मिलना ही चाहिए कि मनुष्यों के संसार में वह भी एक मनुष्य है। स्त्री-पुरुष, ऊंच-नीच, गरीब-अमीर सब समान हैं।"

स्वामीजी से इस प्रकार भिन्न-भिन्न विषयों पर चर्चा चलती रहती थी। स्वामीजी अपना अधिकांश समय स्वाध्याय में गुजारते थे। यहां भी कई लोग उनकी वेदान्त चर्चा में भाग लेने लगे थे।

फ्रांस के मध्य में से होकर जहाज गुजरा। उसने आल्पस पर्वत श्रेणी को लांघा। मार्ग में मीलन व पीसा नगरी आई और फिर इटली की फ्लोरेन्स नगरी आई। फ्लोरेन्स अपनी चारुकला के लिए विश्व प्रसिद्ध है। यहां जहाज को काफी रुकना था सो स्वामीजी नगरी को नाम देने वाले स्थानों के भ्रमण के लिए निकल गए। सेव्हियर दम्पति उनके साथ थे। कुमारी मूलर अस्वस्थ थी सो जहाज पर ही रुकी रही।

स्वामीजी ने बड़े चाव से चित्रशाला को देखा और तत्पश्चात् सेव्हियर दम्पति के साथ एक निकट के पार्क में बैठ गए। वहीं उनकी दृष्टि श्री एवं श्रमती हेल पर पड़ी। स्वामीजी बच्चों के समान भागे और गद्गद् भाव से उनसे मिले। सेव्हियर दम्पति आश्चर्यचकित होकर स्वामीजी को देख रहे थे।

स्वामीजी हेल दम्पति को लेकर सेव्हियर दम्पति के पास आए और बोले—"जैसे आप मुझे अपना पुत्रवत् मानते हैं, वैसी ही कृपा मुझ पर हेल दम्पति की भी रही है। अमेरिका में मैं इन्हीं लोगों के आश्रय में रहा। यह मानिए कि इंग्लैंड में जैसे आपका घर मेरा है, वैसे ही अमेरिका में इनका घर मेरा है।"

कब समय निकल गया, पता ही नहीं लगा। स्वामीजी और सेव्हियर दम्पति ने विदा ली और जहाज पर आ गए। ठीक समय पर जहाज ने रोम में प्रवेश किया। रोम भी इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। रोम में जहाज को एक सप्ताह रुकना था। जहाज बन्दरगाह से लगने की तैयारी में था। स्वामीजी विचार कर रहे थे कि दिन भर नगर के ऐतिहासिक एवं अन्य दर्शनीय स्थलों को देखकर नित्य संध्या को जहाज में लौट आया करेंगे। उन्होंने इस विषय में बात की तो श्रीमती सेव्हियर बोलीं—"यहां के अंग्रेज समाज में कुमारी एडवर्ड्स एक जानी-मानी हस्ती हैं। हम उन्हीं के पास चलें।"

"क्या आप उनसे पूर्व परिचित हैं ?"

"आपकी अमेरिकन शिष्या कुमारी मैक्लिऔड की भतीजी कुमारी एलबर्टा स्टार्गिस उनके साथ रहती है।"

"आपको कैसे पता चला "

"मैंने कुमारी मैक्लिऔड से उनका पता लिया था।"

"यह तो सुन्दर बात हुई।"

जहाज ने बन्दरगाह में लंगर डाल दिया। स्वामीजी ने जहान के कप्तान से बात की और तत्पश्चात् सेव्हियर दम्पति के साथ नगर में आ गए। कुमारी एडबर्ड्स की भव्य कोठी में वे सरलता से पहुंच गए। दोनों कुमारियां उन लोगों से मिलकर बहुत प्रसन्न हुईं। स्वामीजी की विद्वता और निष्कपट चरित्र देखकर शीघ्र वे दोनों उनकी भक्त बन गईं। उन्होंने स्वामीजी और सेव्हियर दम्पति को रोम के इतिहास प्रसिद्ध एक-एक स्थान का अवलोकन करवाया। कुमारी मूलर की वे घनिष्ठ मित्र बन गईं। जहाज के नेपल्स रवाना होने से पूर्व ही वे स्वामीजी की भक्त बन गईं।

नेपल्स में जहाज को समय सीमा से अधिक रुकना पड़ा। सौदम्पटन से जहाज अभी नहीं आया था। इन दोनों जहाजों के कुछ यात्री नेपल्स में अपना वाहन बदलते

थे। स्वामीजी व्यग्रता से सौदम्पटन से आने वाले जहाज की प्रतीक्षा कर रहे थे। इस जहाज से गुडविन को आना था।

प्रतीक्षा अधिक नहीं करनी पड़ी। सौदम्पटन से आने वाला जहाज बन्दरगाह पर आकर खड़ा हुआ। जहाज की सीढ़ियां उतरते गुडविन ने दूर खड़े स्वामीजी व सेव्हियर दम्पति को पहचान लिया और प्रसन्नता से हवा में अपना हाथ लहराया। स्वामीजी ने प्रत्युत्तर दिया। निकट आकर गुडविन ने श्रद्धा से स्वामीजी के चरण स्पर्श किए। स्वामीजी बोले—"गुडविन, तुम आ गए। बहुत अच्छा किया।"

"गुरुदेव, आपकी आज्ञा देव वाक्य है।"

"मैं तुम्हारी श्रद्धा का अभिनंदन करता हूं।"

"आपका आशीर्वाद चाहिए।"

चारों यात्री प्रसन्नवदन अपने जहाज पर आ गए। यात्रा अब और आनन्द भरी हो गई। स्वामीजी के जहाज में भी कई भक्त बन गए। यहां भी उनसे आग्रह किया जाने लगा कि वे नियमित रूप से भगवत् चर्चा करें। ऐसी स्थिति में गुडविन हंसकर कहता—"आप कहीं भी जाएं, लोग आपका पीछा नहीं छोड़ने के। हम जैसे तो आपसे चिपक ही गए हैं।"

"स्वामीजी की हंसी गूंज उठी।

"भाई, यह बुराई है या अच्छाई ?"

"यह दोनों ही है।"

"यह कैसे मिस्टर गुडविन ?" कैप्टन सेव्हियर बोले।

"अच्छाई तो ऐसे है, कि लोगों को स्वामीजी से चर्चा करने से लाभ होता है; और बुराई ऐसे कि मैं चाहता हूं कि स्वामीजी अधिक से अधिक मेरे साथ रहें।"

"यह तो कोरा स्वार्थ हो गया, भाई।" स्वामीजी पुनः हंसे।

"स्वामीजी, अपना भी तो कोई स्वार्थ पूरा होना चाहिए ?"

"गुडविन, जीवन का यह उद्देश्य पतन का सूचक है। देने की भावना रखो, लेने की नहीं। कम से कम अपने लिए तो लेने की भावना से मुक्त होना चाहिए। सम्पूर्ण पाश्चात्य आज इसी भावना से घिरा है, और इसीलिए व्यापक असंतोष पनपा हुआ है। मैंने विगत चार वर्षों में यह प्रयत्न किया है वेदान्त की श्रेष्ठ वैचारिक धारा और आध्यात्मिकता की गंगा प्रवाहित करूं, जिसका विश्वास सामूहिकता में है, पूरे विश्व की भलाई में है। पाश्चात्यों की श्रेष्ठ भावनाओं और विचारों को मैंने इसमें समन्वय करके सामंजस्यता बिठाने की कोशिश भी की है। लेकिन यह कार्य कुछ वर्षों को नहीं है। इसमें कई जीवन खपेंगे।"

"आप उस शृंखला का निर्माण कर रहे हैं।" कैप्टन सेव्हियर बोले।

"आपने जो कार्य किया है, वह साधारण इन्सान कई वर्षों में कर पाता।" गुडविन बोला।

"यह सब श्रीरामकृष्णदेव की कृपा है। मेरी इच्छा है कि मुझ जैसे कुछ शिष्य हों, जो मेरे द्वारा बजाई गई रणभेरी की प्रथा को आगे बढ़ाएं। वे पाश्चात्य की शक्ति, साहस, प्रतिभा व वैज्ञानिक उन्नति से की जाने वाली प्रगति को समझें और साथ ही इसकी आड़ में पनपने वाली बुराइयों को भी देखें; और विश्व को इन्हीं बुराइयों से मुक्त करवाने के लिए जूझें।"

"गुरुदेव, यदि ऐसा न हो सका तो ?" गुडविन ने आशंका जताई।

"तो समाज अधिक दिन प्रतीक्षा नहीं करेगा। गुडविन, एक बात ध्यान रखो कि समष्टि के जीवन में व्यष्टि का जीवन है, समष्टि के सुख में व्यष्टि का सुख है। समष्टि को यदि त्याग दिया जाए तो व्यष्टि का अस्तित्व कुछ नहीं है। इस ध्रुव सत्य को कोई नकार नहीं सकता। यह प्रकृति है, और प्रकृति को अधिक दिनों तक धोखा नहीं दिया जा सकता। इस सच्चाई को देखते हुए हमें यह समझना होगा कि या तो इन्सान स्वयं जागे अन्यथा समाज करवट लेगा; और जिस दिन वह जागेगा, उसके जागरण में ऐसी प्रचण्डता होगी कि युगों से संचित स्वार्थपरता बर्फ-सी पिघल जाएगी।"

"स्वामीजी, आपकी इस बात को इतिहास पुष्ट करता है।" कैप्टन सेव्हियर ने कहा।

"लेकिन, क्या ऐश्वयवान यूरोप इस बात को समझ रहा है ? क्या वह भावी संकेतों को ग्रहण कर रहा है ?"

सेव्हियर दम्पति व गुडविन तथा कुमारी मूलर स्वामीजी के प्रश्नों के सम्मुख निरुत्तर हो गए। स्वामीजी सहज हो आए और बोले—"आओ, जहाज के डेक पर चलें और सूर्यास्त का चित्र देखें।"

पांचों जने काफी देर तक लहरों का नृत्य और सूर्य का अवसान देखते रहे। दिन पर दिन गुजरते जा रहे थे। जहाज श्रीलंका के निकट पहुंचता जा रहा था.... और एक दिन स्वामीजी हर्षातिरेक होकर बोले—"देखो....देखो....श्रीलंका की श्यामल तटभूमि दिख रही है। गुडविन, आज क्या तारीख है ?"

"आज 15 जनवरी है।"

जहाज तट के निकट आता जा रहा था।

"कैप्टन सेव्हियर, आपको सोने-सी चमकती रेत दिखाई दे रही है ? देखिए,

हवा के झोंकों से नारियल के वृक्ष कैसे झूम रहे हैं !"

स्वामीजी की बाल सुलभ उत्सुकता देखकर सभी आनन्दित हो रहे थे। जहाज शनैः शनैः कोलम्बो बन्दरगाह में प्रविष्ट हुआ और रुक गया।

स्वामीजी के स्वागत के लिए कोलम्बो की हिन्दू जनता व्यग्र थी। यहां स्वामीजी के कुछ गुरुभाई व मद्रासी शिष्य पहले ही पहुंच चुके थे तथा उनकी अभ्यर्थना हेतु बनी समिति का मार्ग दर्शन कर रहे थे। ये सभी लोग बन्दरगाह पर जन समूह के रूप में खड़े स्वामीजी की बाट जोह रहे थे।

अस्ताचलगामी भास्कर की पीली-लाल किरणें सभी लोगों को भिगो रही थीं। गैरिक वस्त्रों में सज्जित स्वामीजी तीनों अतिथियों को लिए खिलते चेहरे से जहाज से नीचे उतरे। सैंकड़ों लोगों की जयकार ध्वनि से वे अचम्भित हुए। उन्हें अपने स्वागत के आयोजन का ज्ञान नहीं था। क्षण भर के लिए उनके कदम रुक गए। कुछ लोगों ने आगे बढ़कर स्वामीजी के गले में पुष्प मालाएं डालीं। एक व्यक्ति ने उन्हें अपना परिचय दिया—"मेरा नाम पी० कुमारस्वामी है। हम कोलम्बो के हिन्दूजन, इस धरती पर आपका स्वागत करते हैं।"

इसके पश्चात् स्वामीजी फूल मालाओं से लद गए। कोलम्बों का जनसमूह उन्हें लेकर बन्दरगाह से बाहर आया। स्वामीजी व उनके अतिथियों ने घोंड़ों की सजी हुई गाड़ी में बैठकर नगर में प्रवेश किया। राजपथ पर फूलों व पत्तों के वंदनवार से शोभित कई द्वार बनाए गए थे। स्वामीजी का यह स्वागत जुलूस 'दारुचीनी' उद्यान के सम्मुख विशाल मंडप में आकर रुका। वे जैसे ही घोड़ा-गाड़ी से नीचे उतरे.... स्त्री-पुरुष का समूह उनकी पद-रज लेने के व्याकुल हो गया। कठिनता से उन्हें मंच तक ले जाया गया। पी० कुमारस्वामी ने उन्हें समिति की ओर से अभिनंदन पत्र समर्पित किया।

स्वामीजी लोगों के स्नेह से विभोर थे। अभिनंदन पत्र स्वीकार करने के बाद स्वामीजी ने कहा—"आप लोगों के स्नेह बंधन को मैं हृदय से स्वीकार करता हूं। मैं कोई महाराजा अथवा धनकुबेर या महान राजनीतिज्ञ नहीं हूं। मैं एक भिक्षुक सन्यासी हूं। आप लोगों ने मेरी जो सादर अभ्यर्थना की है, उससे आप लोगों की धार्मिक मनोवृत्ति का पता लगता है। यह इस बात का परिचायक है कि हिन्दू जाति अभी तक अपनी आध्यात्मिक शक्ति को बनाए हुए है, अन्यथा एक सन्यासी के प्रति इतनी श्रद्धा भक्ति प्रदर्शित क्यों होती ? हमें यदि अपने राष्ट्र को जीवित रखना है तो धर्म को राष्ट्रीय जीवन का मेरुदण्ड बनाए रखना होगा। धर्म हमारी जातीय जीवन की विशेषता है। हमें विपरीत और प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अपने धर्म के आदर्श

पर डटा रहना है।"

लोग धक्का-मुक्की करने में लगे हुए थे ताकि स्वामीजी के ठीक से दर्शन कर सकें। पी॰ कुमारस्वामी व अन्य सज्जनों ने लोगों को शान्त किया और स्वामीजी को विश्राम स्थल पर ले गए।

16 जनवरी को प्रातः ए॰ कुलवीर सिंहम् व पी॰ कुमारस्वामी ने स्वामीजी से अनुरोध किया कि लोगों को अपनी वाणी से कृतार्थ करें। कुलवीर सिंहम् बोले—"स्वामीजी, यह आपका हम पर उपकार होगा कि आप प्राची में प्रथम व्याख्यान यहां दें। यहां के फ्लोरेल हॉल में आपके प्रवचन की व्यवस्था कर दी गई है।"

स्वामीजी ने अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी।

तीसरे प्रहर उन्होंने भाषण दिया। विषय था—पुण्य भूमि भारतवर्ष।

स्वामीजी का कहना था कि जो थोड़ा-बहुत कार्य उनके द्वारा पाश्चात्य देशों में हुआ, वह उनकी अन्तर्निहित शक्ति के द्वारा नहीं अपितु पर्यटन करते समय, अपनी मातृ-भूमि से मिले उत्साह एवं शुभेच्छा, आशीर्वाद एवं शक्ति द्वारा सम्पन्न हुआ है; उन्होंने पर्यटन से हुए लाभ बताते हुए कहा कि मैं पहले जिन बातों को भावनात्मक प्रकृति के आधार पर सत्य मान लेता था, अब उन्हीं के प्रमाण सिद्ध सत्य के रूप में देख रहा हूं। मैं पहले अन्य हिन्दुओं के समान विश्वास करता था कि भारत पुण्य भूमि है, कर्म भूमि है। लेकिन आज मैं प्रामाणिक रूप से कह सकता हूं कि पृथ्वी पर यदि कोई पुण्य देश है, तो वह भारत है। यही देश है जो आज भौतिकता में जलते संसार को आध्यात्मिकता से सींच सकता है। विश्व इस विषय में भारत का ऋणी है। रोम....यूनान उठे व गिरे, किन्तु भारत आज भी जीवित है। क्यों ? इसलिए कि हमारे पास हजारों वर्षों के सुचिंतित व परीक्षित विधान हैं। हम अपने शताब्दियों के अनुभव और युगों की सुभिज्ञता के फलस्वरूप अपने सनातन आचार-विचार में जी रहे हैं और अपने धर्म के प्रति सजग हैं।

अन्यान्य राष्ट्रों के लिए धर्म, संसार के अनेक कृत्यों में एक धंधा मात्र है। वहां अपनी निस्तेज हुई इन्द्रियों को पुनः उत्तेजित करने के लिए सब कुछ है। नई-नई खोजें हो रही हैं। समस्त पाश्चात्य देश अपने-अपने समाज को नए सांचे में ढालने के लिए प्रयत्नशील हैं। विश्व में बहुत हलचल हो रही है, ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि हो रही है। आपको शायद ही इनकी कुछ जानकारी हो। अमेरिका में एक विराट धर्म महासभा का आयोजन हुआ। उसमें भारत से भाग लेने के लिए एक हिन्दू सन्यासी भेजा गया। आश्चर्य की बात है कि चीन-जापान के युद्ध का हाल आप लोगों को पता नहीं है, पाश्चात्य देशों की राजनीतिक व सामाजिक आन्दोलनों से आपका कोई

मगेकार नहीं है, पर कोई हिन्दू सन्यासी अमेरिका गया है, यह आप सबको पता है। इससे पता लगता है कि हवा किधर चल रही है, हमारे राष्ट्रीय जीवन का मूल कहां है ? अमेरिका, फ्रांस, जर्मनी, इंग्लैंड या जर्मनी के किसी मामूली किसान से आप पूछिए कि वह किस राजनीतिक दल का सदस्य है ? वह तुरन्त उत्तर देगा कि वह रैडिकल या कंलर्वेटिव दल का सदस्य है। वह आपको यह भी बता देगा कि वह किस व्यक्ति को अपना मत देने जा रहा है। अमेरिका का किसान जानता है कि वह रिपब्लिकन दल का है या डिमांक्रेटिक दल का। लेकिन यदि आप उससे उसके धर्म के विषय में पूछो, तो वह केवल कहेगा कि वह गिरजाघर जाया करता है; और उसका सम्बन्ध ईसाई-धर्म की अमुक शाखा से है। वह इतना-जानना ही पर्याप्त समझता है। दूसरी ओर आप किसी भारतीय किसान से राजनीति, श्रम, पूंजी आदि के विषय में पूछें तो वह चुप रहेगा, क्योंकि उसने जीवन में इन बातों के विषय में सुना ही नहीं है। लेकिन यदि आप उसके धर्म के विषय में पूछें, तो वह अपने धर्म सम्बन्धी आपको दो-चार अच्छी बातें बता सकता है। यह है हमारा राष्ट्रीय जीवन।

अतीत काल के कर्मों की समष्टि ही वर्तमान में प्रकट होती है। हम वर्तमान में जो कुछ कर्म कर रहे हैं, उन्हीं के अनुसार हमारा भावी जीवन गठित हो रहा है। व्यक्तिगत रूप से कहा जाता है कि पिछले अनन्त जीवनों के कर्मों द्वारा मनुष्य का वर्तमान जीवन एक निश्चित मार्ग पर चलता है। यह बात जाति के लिए भी सत्य है। हर जाति का एक विशेष जीवनोद्देश्य होता है। राजनीतिक श्रेष्ठता या सामाजिक शक्ति प्राप्त करना कभी भी हमारे राष्ट्र का उद्देश्य नहीं रहा और याद रखो, यह कभी आगे भी नहीं होगा। जब कभी फारस, यूनान, रोम, अरब या इंग्लैंड वालों ने अपनी सामरिक शक्ति से विभिन्न राष्ट्रों को एक सूत्र में बांधा है तो शान्ति प्रिय हिन्दू जाति ने समस्त मानवीय प्रगति में अपना भी कुछ योगदान किया है और वह दान है आध्यात्मिकता का आलोक।

जो लोग विचारशील हैं तथा जिन्होंने भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के विषय में विशेष रूप से अध्ययन किया है, वे देख पाएंगे कि भारतीय चिंतन के इस धीर और अविराम प्रवाह के सहारे संसार के भावों, व्यवहारों, पद्धतियों और साहित्य में कितना बड़ा परिवर्तन हो रहा है।

आपने अनुभव किया होगा कि सवेरे के समय गिरनेवाली कोमल ओस न तो किसी को आंख से दिखाई देती है; और न उसके गिरने की कोई आवाज ही कानों में सुनाई पड़ती है, ठीक उसी के समान यह शान्त, सहिष्णु, सर्वसह धर्मप्राण जाति

धीर और मौन होने पर भी विचार साम्राज्य में अपना में अपना जबरदस्त प्रभाव डालती जा रही है।

आज आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा निरन्तर होने वाले आघातों से आपात सुदृढ़ तथा दुर्वेद्य धर्म, विश्वास की जड़ें तक हिल रही हैं और ज्ञानी लोग भी धर्म सम्बन्धी प्रत्येक विषय को घृणा की दृष्टि से देखने लगे हैं, ऐसी परिस्थिति में भारत का, जहां के अदिवासियों का धर्म जीवन सर्वोच्च दार्शनिक सत्य सिद्धान्तों द्वारा नियमित है, दर्शन संसार के सम्मुख आता है, जो भारतीय मानस की धर्म विषयक सर्वोच्च महत्वाकांक्षाओं को प्रकट करता है। इसलिए आज ये सब महान तत्त्व—असीम अनन्त जगत् का एकत्व, निर्गुण ब्रह्मवाद, जीवात्मा का अनन्त स्वरूप और उसका विभिन्न जीव शरीरों में अविच्छेद्य संक्रमणरूपी अपूर्व तत्त्व तथा ब्रह्मांड का अनन्तत्त्व....सहज रक्षा के लिए अग्रसर हो रहे हैं।

साथ ही मैं यह भी कह देना चाहता हूं कि भारत के बाहर हमारे धर्म का जो प्रभाव पड़ता है, वह वहां के धर्म के उन मूल तत्त्वों का है, जिनकी पीठिका और नींव पर भारतीय धर्म की अट्टालिका खड़ी है। उसकी सैकड़ों भिन्न-भिन्न शाखा-प्रशाखाएं, सैकड़ों सदियों में समाज की आवश्यकताओं के अनुसार उसमें लिपटे हुए छोटे-छोटे गौण विषय, विभिन्न प्रथाएं, देशाचार तथा समाज के कल्याण विषयक छोटे-मोटे विचार आदि बातें वास्तव में 'धर्म' की कोटि में स्थान नहीं पा सकतीं।

हम यह भी जानते हैं कि हमारे शास्त्रों में दो श्रेणी के सत्य निर्देशित किए गए हैं। एक ऐसी श्रेणी जो सदा प्रतिष्ठित रहेगी....मनुष्य का स्वरूप, आत्मा का स्वरूप, ईश्वर के साथ जीवात्मा का सम्बन्ध, ईश्वर का स्वरूप, पूर्णत्व आदि चिरंतन सत्य हैं। इसके साथ ही प्रकृति के वे शाश्वत् नियम जो सार्वभौम नियमों पर आधारित हैं, वे भी आते हैं। द्वितीय श्रेणी के सत्यान्तर्गत गौण नियमों का निरुपण किया जाता है और इन्हीं के द्वारा हमारे दैनिक जीवन के कार्य संचालित होते हैं। ये सब श्रुति के अन्तर्गत नहीं, बल्कि स्मृति और पुराणों के अन्तर्गत हैं। इनके साथ पुर्वोक्त तत्त्वों का कोई सम्पर्क नहीं है। ये निरन्तर बदलते रहते हैं। एक युग के लिए जो विधान हैं, वे दूसरे युग के लिए नहीं होते।

जीवात्मा, परमात्मा और ब्रह्मांड की उदात्त धारणाओं में जो महान तत्त्व निहित हैं, वे भारत में ही उत्पन्न हुए हैं। भारत ही एक मात्र देश है जहां के लोगों ने अपने कबीलों के छोटे-छोटे देवताओं के लिए यह कह कर लड़ाई नहीं की है कि 'मेरा ईश्वर सच्चा है, तुम्हारा झूठा। आओ, हम दोनों लड़कर इस बात का फैसला कर लें।' विश्व में अपने-अपने देवताओं को महानतम सिद्ध करने के लिए संघर्ष हुए। लेकिन भारत

में हमेशा यह उद्‌घोष होता रहा....**'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'** (ऋग्वेद 1/164/46)। हमारे शिव, विष्णु, ब्रह्मा को एक ही सत्ता माना जाता है। इसी कारण हमारी मातृ-भूमि में सभी धर्मों और सम्प्रदायों को सादर स्थान प्राप्त हुआ है।

इस धार्मिक सहिष्णुता की ओर सहानुभूति, भ्रातृभाव और विनम्रता की शिक्षा हमें प्रत्येक बालक, स्त्री-पुरुष, शिक्षित-अशिक्षित को देनी है।

स्वामीजी का भाषण विस्तृत था, पर लोग इस अनुभूत सत्य को रुचि से सुनते रहे और विचार करते रहे कि इस अधिकृत वाणी ने विश्व को जगाना ही था।

भाषण सुनने आए जिज्ञासु विज्ञजनों ने स्वामीजी से निवेदन किया कि वे कल धर्मचर्चा आयोजित करना चाह रहे हैं और उसमें स्वामीजी की उपस्थिति चाहते हैं। स्वामीजी ने अनुज्ञा दे दी। दूसरा दिन धर्म चर्चा व शिव मन्दिर के दर्शन में निकल गया। रात्रि को कुछ ब्राह्मण दिग्गजों से उनकी शास्त्र चर्चा हुई। प्रातः कोलम्बो के पब्लिक हॉल में वेदान्त दर्शन पर उन्होंने एक विस्तृत व्याख्यान दिया। व्याख्यान का सार था कि दुर्बलता छोड़ो और समर्थ तथा शक्तिमान बनो। वेद और उपनिषदों के अनुसार जीवन निर्वाह करो। उन्होंने कहा कि हमारे जीवन का सर्वोच्च दर्शन समस्त जातियों, सकल मतों, प्रत्येक सम्प्रदायों के दुर्बल व पददलित लोगों को अपने पैरों पर खड़े होकर सशक्तता से जीने देने का होना चाहिए। स्वामीजी ने दुःख प्रकट करते हुए कहा कि हम लोगों में विगत एक हजार वर्षों से ऐसी दुर्बलताएं घर कर गई हैं जो हमें दुर्बलतर बनाए जा रही हैं; और आज हम पैर के पास रेंगने वाले ऐसे केंचुए के समान हो गए हैं कि जो चाहे हमें कुचल दे। हमें एक बार फिर से वैसा ही वीर्यमान और तेजस्वी बनना है, जैसे हमारे पुरखे थे।....शौर्यवान, आत्मबली बनो।

स्वामीजी ने श्रोताओं पर एक दृष्टि डाली और दुःखी होकर बोले—हम अपना चाल-चलन भावभंगी, वेशभूषा अंग्रेजों जैसा बनाकर क्या प्राप्त करना चाह रहे हैं ? इससे हम अंग्रेज न बन जाएंगे। ऐसा अनुकरण मूढ़ता है। अपनी जातीयता और उसके संस्कार मत छोड़िए। वे किसी भी प्रकार से अंग्रेजों से क्षीण नहीं हैं। हम किसी भी विषय में विश्व की किसी जाति से हीन नहीं हैं....फिर यह भौंडी नकल क्यों ?

स्वामीजी का कथन सुनकर अंग्रेजी वेशभूषा में आए श्रोताओं ने लज्जा से सिर झुका लिया। उन्नीस जनवरी को स्वामीजी ने कोलम्बो से कांडी के लिए विदा ली। कांडी में भी उन्हें अभिनंदन-पत्र भेंट किया गया। कांडी से अनुराधापुरम पहुंच कर वे जाफना पहुंचे। एक शानदार जुलूस में उन्हें हिन्दू कॉलेज के प्रांगण में सजे एक मंडप में लाया गया। यहां उन्होंने वेदान्त पर विस्तृत व्याख्यान दिया। उन्होंने

भारतीय दर्शन की कठिन अवधारणाओं को सरल शब्दों में व्याख्यायित करते हुए कहा—'मृत्यु और जीवन के फेर में पड़े हुए मनुष्यों की यथार्थ सत्ता है—आत्मा। हमारा स्थूल शरीर तथा मन, दोनों आत्मा से पृथक हैं। आत्मा, मन और सूक्ष्म शरीर के साथ, जन्म व मृत्यु के चक्कर में घूम रहा है। जब समय आता है तो उसे सर्वज्ञत्व तथा पूर्णत्व प्राप्त होता है और उसके साथ ही हमारा जीवन-मरण चक्र भी समाप्त हो जाता है। जीवात्मा का इसीलिए लक्ष्य होता है—मुक्ति प्राप्त करना। हमारे धर्म में स्वर्ग व नरक भी हैं, पर वे चिर स्थायी नहीं हैं। स्वर्ग में सुख अधिक हो सकता है, भोग कुछ ज्यादा होगा, किन्तु इससे आत्मा का अशुभ ही होगा। स्वर्ग अनेक हैं। इहलोक में जो व्यक्ति फल प्राप्ति की इच्छा से सद्कर्म करते हैं, वे लोग मृत्यु के बाद ऐसे ही किसी स्वर्गलोक में देवताओं के रूप में जन्म लेते हैं। यह देवत्व एक पद विशेष होता है। देवता भी किसी समय मनुष्य थे। वे भी मुक्ति के लिए मनुष्य का तन धारण करते हैं। इसी कारण से मनुष्य का जन्म सब जन्मों में श्रेष्ठ कहलाता है। मेरी दृष्टि में स्वर्ग इस योग्य नहीं कि उसकी कामना की जाए। पृथ्वी की कर्म-भूमि है और मनुष्य ही श्रेष्ठ है, जो मुक्ति प्राप्त कर सकता है।'

मुक्ति के लिए हमें वाह्य प्रकृति और अन्तः प्रकृति, दोनों पर विजय प्राप्त करनी होगी। इन्हें रौंद कर महिमा मंडित होना है और उस स्थिति पर पहुंचना है जहां न जीवन है और न मृत्यु। वहां न सुख है और न दुःख। वहां अनन्त आनन्द है, जिसकी हम कामना करते हैं। हमारे धर्म का सार यही है। मैं आपको उस बात का ध्यान दिला दूं, जिसकी हम कामना करते हैं। हमारे धर्म का सार यही है। मैं आपको उस बात का ध्यान दिला दूं। जिसकी इस समय विशेष आवश्यकता है। धन्यवाद है, महाभारत के प्रणेता महान् व्यासजी को, जिन्होंने कहा है—कलियुग में दान ही एक मात्र धर्म है। तप और कठिन योगों की साधना इस युग में नहीं होती। इस युग में दान देने तथा दूसरों की सहायता करने की विशेष आवश्यकता है। दान शब्द का क्या अर्थ है ? सब दानों में श्रेष्ठ है—अध्यात्म दान, फिर है विद्यादान, उसके बाद है प्राण दान, भोजन-कपड़े का दान सबसे निकृष्ट दान है। आध्यात्मिकता ज्ञान-दान के विस्तार से मनुष्य जाति की सबसे अधिक भलाई की जा सकती है।

लेकिन सबसे पहले एक बात आवश्यक है। हम सदियों की घोर ईर्ष्या से जर्जर हो रहे हैं। हम सदा एक दूसरे के प्रति ईर्ष्या भाव रखते हैं....अमुक व्यक्ति क्यों हमसे आगे बढ़ गया है ? क्यों हम अमुक से बड़े न हो सके ? सर्वदा हमारी यही चिन्ता बनी रहती है। धर्म में भी हम इसी ताक में रहते हैं। यदि इस समय भारत में कोई महापाप है, तो वह यही ईर्ष्या की दासता है। हर एक व्यक्ति हुकूमत

चाहता है, पर आज्ञा पालन के लिए कोई तैयार नहीं है। यह सब इसलिए है कि प्राचीन काल के उस ब्रह्मचर्य-आश्रम का अब पालन नहीं किया जाता। पहले आदेश पालन करना सीखो, आदेश देना फिर स्वयं आ जाएगा। पहले सर्वदा दास होना सीखो, तभी आप प्रभु हो सकोगे। हमारे पूर्वजों ने बड़े-बड़े और अद्‌भुत कर्म किए हैं, जिन पर हमें श्रद्धा व गर्व है, परन्तु यह समय हमारे कार्य करने का है, जिसे देखकर हमारी भावी संतान गर्व करेगी और हमें योग्य पूर्वज समझेगी। हमारे पूर्व पुरुष कितने ही श्रेष्ठ और महिमान्वित क्यों न हों, पर प्रभु के आशीर्वाद से, यहां जो लोग हैं, उनमें से हर एक अब ऐसा काम करेगा, जिसके आगे पूर्वजों के कार्य भी धूमिल हो जाएंगे।

स्वामीजी के व्याख्यान की लोगों ने प्रशंसा की। स्वामीजी ने केवल पूर्वजों के श्रेष्ठ कार्यों का गुणगान ही नहीं किया, अपितु वर्तमान पीढ़ी पर विश्वास व्यक्त करते हुए आशा प्रकट की कि वे दो कदम आगे बढ़ेंगे और खुद को योग्य पूर्वज सिद्ध करेंगे।

श्रीलंका को अपनी वाणी से सींच कर स्वामी विवेकानन्द जाफना से स्टीमर द्वारा भारत की ओर रवाना हुए। गुडविन, सेव्हियर दम्पति, स्वामी निरंजनानन्दजी व कई अन्य शिष्यगण प्रमुदित थे। गुडविन स्वामीजी के दिए गए भाषणों को शीघ्र लिपिबद्ध किए जा रहे थे।

जैसे-जैसे भारत की पवित्र भूमि निकट आती जा रही थी स्वामी विवेकानन्द का तन-मन अह्लाद से भरा जा रहा था। वे निरंजानानन्दजी से बोले—"निरंजन, तुम्हें गुरुदेव के शब्द याद होंगे—देख, यदि तू संसारियों के निन्यानवे उपकार करे और एक अपकार करे, तो फिर लोग तुझे देखना भी नहीं चाहेंगे; किन्तु ईश्वर के पास तू यदि निन्यानवे अपराध करे और मात्र एक काम उनकी प्रसन्नता का करे, तो वे तेरे सभी अपराधों को क्षमा करेंगे।"

"याद है, यह तो गुरुमंत्र है।"

"मैंने यह बात गांठ बांध रखी है। लगता है कि श्रीरामकृष्णदेव की प्रसन्नता का एक कार्य किया तो मेरे सभी अपराध माफ कर दिए गए हैं। आज जो कुछ किया, वह सब उन्हीं की कृपा का फल है, किन्तु श्रेय मुझे दिया जा रहा है।"

"मैं आप में बहुत परिवर्तन देख रहा हूं।"

"तुमने अपने में कुछ परिवर्तन किया ? मुझे याद है, तुमने एक बार दक्षिणेश्वर आते समय नाव में क्या किया था। गुरुदेव के विरुद्ध एक टिप्पणी पर तुम नाव उलटने को तैयार हो गए थे। अपनी उस प्रचण्ड अग्नि को कुछ अंकुश

लगाया ?" स्वामी विवेकानन्द हंसे।"

"कुछ तो लगाया है।" निरंजनानन्दजी भी हंसकर बोले।

"कैसे ?"

"गुरुदेव की शाश्वत् वाणी को हृदय में बसाकर। उन्होंने कहा था कि बुद्धिहीन लोग ही बहस-मुबाहिसा और अनर्गल बकवास करते हैं; और उसी में जीवन बिता देते हैं। उनकी बातों की उपेक्षा कर देनी चाहिए।"

"तुमने तो स्वर्ण सूत्र पकड़ लिया, भाई। अब हमें इन्हीं सूत्रों के आधार पर भारत को जगाना है।" स्वामी विवेकानन्द हर्षित थे।

स्टीमर रुका। स्वामीजी सभी लोगों को साथ लिए रामनद के राजा भास्कर वर्मा द्वारा भेजी गई सुसज्जित 'बोट' पर सवार हुए और बोट तट की ओर चली। राजा साहब जनता के साथ पाम्बन में उपस्थित थे।

संध्या का समय था। आकाश लाल-धूसर हो रहा था। सैकड़ों व्यक्तियों की दृष्टि निकट और निकट आती बोट पर टिकी हुई थी। बोट तट से लगी। स्वामी विवेकानन्द के चरणों ने अपनी मातृ-भूमि को स्पर्श किया। उन्होंने भाव विह्वल होकर पुण्य भूमि की मिट्टी चुटकी में लेकर अपने शीश पर रखी। रामनद के राजा साहब ने स्वामीजी के चरण स्पर्श किए। सैकड़ों लोगों की तृषित आंखें स्वामीजी को देख, तृप्ति का अनुभव कर रही थीं।

जय-जयकार की ध्वनि के बीच स्वामीजी लोगों से घिरे हुए शामियाने में पहुंचे। यहां उन्हें नागलिंगम् पिल्ले ने पाम्बन के लोगों की ओर से अभिनंदन-पत्र भेंट किया। राजा साहब व एम०के० नायर ने भावप्रद भाषण दिया और प्रत्युत्तर में स्वामीजी ने बताया कि राजा साहब ही वे पहले व्यक्ति हैं, जिनके मस्तिष्क में मुझे शिकागो भेजने की कल्पना आई। उन्होंने सभी उपस्थित लोगों से आग्रह किया कि वे मातृ-भूमि के कल्याणार्थ जुट जाएं व भरपूर चेष्टा करें कि राष्ट्र उन्नति के मार्ग पर चले।

इस संक्षिप्त कार्यक्रम के पश्चात् स्वामीजी को उनके विश्राम स्थल पर ले जाया गया। अगली प्रातः वे एक बड़े जुलूस के साथ श्रीरामेश्वर मन्दिर के दर्शनार्थ गए।

इस भव्य मन्दिर के दर्शन करने के लिए स्वामीजी पांच वर्ष पूर्व भी आए थे। यहीं उन्होंने अपने परिव्राजक व्रत का उद्यापन किया था।

उस समय उनका मन भटक रहा था। वे सहारे की तलाश में थे और किसी एक दिशा का निर्धारण न कर पा रहे थे। लेकिन आज वे सहस्र स्तम्भों से सुशोभित,

विराट देवालय के सम्मुख नत मस्तक थे; और दृढ़ चित्त से ईश्वर का आभार प्रकट कर रहे थे। उन्होंने देव दर्शन किए और उसके पश्चात् मन्दिर के अमूल्य मणि-मुक्ताओं को देखकर वे बाहर आ गए।

जनता के आग्रह पर उन्होंने प्रवचन दिया और यथार्थ उपासना के विषय में बताया। स्वामीजी ने कहा—"धर्म प्रेम में ही है, अनुष्ठानों में नहीं। प्रेम भी ऐसा हो जो शुद्ध व निष्कपट हो। यदि मनुष्य तन व मन दोनों से शुद्ध नहीं है तो उसका मन्दिर में जाकर शिवोपासना करना व्यर्थ है। आज कलियुग में लोगों का इतना मानसिक पतन हो गया है कि वे समझ बैठे हैं कि वे चाहे जितना भी पाप करते रहें, परन्तु उसके बाद यदि वे किसी पुण्य तीर्थ में चले जाएं, तो उनके सारे पाप नष्ट हो जाएंगे। लेकिन याद रखो कि अशुद्ध मन से मन्दिर व तीर्थों के दर्शन करने से पाप और अधिक बढ़ जाते हैं तथा दर्शनार्थी जब अपने घर आता है तो उसकी निम्नतर स्थिति होती है।

तीर्थ या मन्दिर का अर्थ है, जहां पवित्र लोग रहते हैं; और वह स्थान पवित्र वस्तुओं से परिपूर्ण है। सो ऐसे स्थानों में जाने से पूर्व मनुष्य शुद्ध रहे तथा दूसरों के प्रति भला करे, तभी उसका उद्धार होगा। यही धर्म है। जो व्यक्ति शिव को निर्धन, दुर्बल व रुग्ण व्यक्ति में भी देखता है, वही सचमुच शिव की उपासना कर सकता है। लेकिन जो केवल उन्हें मूर्ति में ही देखता है, तो कहा जा सकता है कि उसकी उपासना प्रारम्भिक अवस्था में है। जिस व्यक्ति ने भी निर्धन मनुष्य की सेवा-सुश्रुषा कर ली, बिना जाति-पांति अथवा ऊंच-नीच के निर्धन को गले लगा लिया, तो मानिए उसमें साक्षात शिव विराजमान हैं।

दरिद्र की सेवा ही श्रेष्ठ कर्म है। स्वयं के सम्बन्ध में पहले सोचना ही पाप है। जो मनुष्य यह सोचता है कि मैं ही पहले खा लूं, मुझे ही सबसे अधिक धन प्राप्त हो जाए तथा मैं ही औरों से पहले स्वर्ग चला जाऊं, वही स्वार्थी है। धर्म की कसौटी तो यह है कि मनुष्य कहे कि मुझे अपनी चिन्ता नहीं है, मुझे स्वर्ग जाने की भी कोई आकांक्षा नहीं है, यदि मेरे नरक में जाने से किसी को लाभ हो सकता है, तो भी मैं उसके लिए तैयार हूं।

इस भूमि में आज तक इतनी खरी बात किसी ने नहीं कही थी। लोग स्वामीजी के कथन से प्रेरित हुए। स्वामीजी के आगमन के उपलक्ष में उस दिन सैकड़ों गरीब लोगों को वस्त्र, धन व भोजन का वितरण किया गया। राजा साहब ने आदेश दिया जिस स्थान पर स्वामीजी ने पहले पहल भारत भूमि पर अपने चरण रखे थे, उस स्थान पर चालीस फिट लम्बा स्मृति स्तम्भ बनाया जाए।

राजा साहब के अनुरोध पर स्वामीजी अपने शिष्यों के साथ रामनद की ओर चले। रामनद में स्वामीजी के स्वागत की तैयारियां पूर्ण थीं। वहां जी-भरकर उनका स्वागत हुआ। राजा साहब के भाई, राजा दिनकर वर्मा सेतुपति ने अभिनंदन-पत्र पढ़ा और उत्साह से स्वामीजी ने लोगों की भीड़ से खचाखच भरे रामनाथपुरम (रामनद) के सहृदय लोगों को प्रेरित किया—**"विषयान् विषवत् त्याज"**—भारतीय शास्त्रों की यही एक बात है। सभी शास्त्रों का यही मूलमंत्र है। दुनिया दो दिन का तमाशा है। जीवन तो और भी क्षणिक है। इसके परे, इस मिथ्या संसार के परे उस अनन्त अपार का राज्य है, आइए; उसी का पता करें। यह देश महावीर और प्रकांड मेधा तथा बुद्धि वाले मनीषियों से उद्भाषित है, जो इस तथाकथित अनन्त जगत् को भी एक गड़रिया मात्र समझते हैं और वे क्रमशः अनन्त जगत् को भी छोड़कर और दूर....अति दूर चले जाते हैं। काल, अनन्तकाल भी उनके लिए कोई चीज नहीं है। वे उनके भी परे चले जाते हैं। उनके लिए देश की कोई सत्ता नहीं है, वे उसके भी पार जाना चाहते हैं। दृश्य जगत के अतीत जाना ही धर्म का गूढ़तम रहस्य है....

इस समय भारत में, हमारे मार्ग में दो बड़ी रुकावटें हैं....एक ओर हमारा प्राचीन हिन्दू समाज और दूसरी ओर अर्वाचीन यूरोपीय सभ्यता। इन दोनों में यदि कोई मुझसे एक को पसन्द करने के लिए कहे, तो मैं प्राचीन हिन्दू समाज को ही पसन्द करूंगा, क्योंकि अज्ञ व अपक्व होने पर भी, कट्टर हिन्दुओं के हृदय में एक विश्वास है, एक बल है....जिसमें वह अपने पैरों पर खड़ा हो सकता है। विलायती रंग में रंगा व्यक्ति सर्वथा मेरुदंडविहीन होता है, वह इधर-उधर के विभिन्न स्रोतों से वैसे ही एकत्र किए हुए अपरिपक्व, विशृंखल, बेमेल भावों की असन्तुलित राशि है....

हमारी राष्ट्रीय उन्नति का एक ही मार्ग है। अपने धर्म, आध्यात्मिकता को एक हाथ से मजबूती से पकड़ कर, दूसरे हाथ को बढ़ाकर अन्य राष्ट्रों से जो कुछ सीखना हो, सीख लीजिए। लेकिन याद रखें कि जो कुछ आप सीखें, उसको मूल आदर्श का अनुगामी ही रखना होगा। अपूर्व महिमा से मंडित भावी भारत का निर्माण तभी होगा। मुझे विश्वास है कि प्राचीन ऋषियों की अपेक्षा श्रेष्ठतर ऋषियों का आविर्भाव होगा और हमारे पूर्वज अपने वंशधरों की इस अभूतपूर्व उन्नति से बड़े सन्तुष्ट होंगे।.... भाइयो, हम सभी लोगों को इस समय कठिन परिश्रम करना होगा। अब सोने का समय नहीं है। हमारे कार्यों पर भारत का भविष्य निर्भर है।"

स्वामीजी अपने शिष्यों के साथ रामनद से विदाई लेकर परम कुड़ी पहुंचे। यहां भी उन्हें मानपत्र भेंट किया गया, जिसके उत्तर में उन्होंने कहा—"संसार में सामाजिक जीवन की बुनियाद डालने के लिए दो प्रकार से यत्न किए गए हैं....एक

तो धर्म के सहारे और दूसरा सामाजिक प्रयोजन के सहारे। एक आध्यात्मिकता पर आधारित था और दूसरे का आधार था भौतिकवाद। एक की भीत्ति है अतीन्द्रियवाद, दूसरे की प्रत्यक्षवाद। पहला इस क्षुद्र जगत् की सीमा के बाहर दृष्टिपात करता है, इतना ही नहीं बल्कि वह दूसरे के साथ कुछ सम्पर्क न रख केवल आध्यात्मिक भाव के सहारे जीवन व्यतीत करने का साहस करता है। इसके विपरीत दूसरा सांसारिक वस्तुओं के बीच ही अपने को सन्तुष्ट मानता है; और इस बात की आशा करता है कि वहीं उसे जीवन का दृढ़ आधार मिल सकेगा। यह एक मनोरंजक बात है कि तरंग गति उसमें से आध्यात्मिकता तथा भौतिकता का उत्थान व पतन क्रम चलता रहता है। एक ही देश में विभिन्न समयों पर भिन्न-भिन्न तरंगें दिखाई देती हैं। एक समय ऐसा होता है कि जब भौतिकवादी भावों की बाढ़ अपना आधिपत्य जमा लेती है और जीवन की प्रत्येक चीज, जिससे आर्थिक अभ्युदय हो अथवा ऐसी शिक्षा जिसके द्वारा हमें अधिकाधिक धन-धान्य और भोग प्राप्त हो सके....पहले बड़ी महिमामयी प्रतीत होती है, परन्तु फिर कुछ समय बाद महत्वहीन होकर नष्ट हो जाती है। भौतिक अभ्युदय के साथ मानव जाति के अन्तर्निहित पारस्परिक द्वेष तथा ईर्ष्या भाव भी प्रबल आकार धारण कर लेते हैं। फल यह होता है कि प्रतिद्वन्द्विता तथा घोर निर्दयता मानो उस समय के मूल मंत्र बन जाते हैं। प्रत्येक मनुष्य केवल अपनी सोचता है और जो बेचारा सब से पीछे रह जाता है, वह पिस जाता है। इस स्थिति में आध्यात्मिकता की एक दूसरी लहर आती है और एक नई इमारत की नींव बनती है। लेकिन यह भी काल धर्म के अनुसार समय के साथ दब जाती है। प्रकृति का यह नियम है कि धर्म के अभ्युदय के साथ ही व्यक्तियों के एक ऐसे वर्ग का उदय होता है, जो इस बात का दावा करता है कि वह संसार की कुछ विशेष शक्तियों का अधिकारी है। इसका तत्काल परिणाम होता है—फिर से भौतिकवाद की प्रतिक्रिया। यह प्रतिक्रिया एकाधिकार के स्रोतों को उद्घाटित कर देती है, फिर अन्ततः ऐसा समय आता है जब समय जाति की केवल आध्यात्मिक समताएं ही नहीं, वरन उसके सब प्रकार के लौकिक अधिकार एवं सुविधाएं भी कुछ मुट्ठी भर व्यक्तियों के हाथ केन्द्रित हो जाते हैं। बस, फिर से थोड़े से लोग जनता की गर्दन पकड़ कर उन पर अपना शासन जमा लेने की चेष्टा करते हैं। उस समय जनता को अपना आश्रय स्वयं ढूंढ़ना पड़ता है। वह भौतिकवाद का सहारा लेती है। आज हमारी मातृ-भूमि का भी यही हाल है।

रही पाश्चात्य की बात। पाश्चात्य अपने शायलॉकों (शैक्सपियर के नाटक का एक पात्र जो प्रबल शोषणकर्त्ता है) के बोझ तथा अत्याचार से जर्जर हो रहा है; और

प्राच्य देश पुरोहितों के अत्याचारों से कातर क्रन्दन कर रहा है। इन दोनों को आपस में एक-दूसरे को संयमित रखना चाहिए।

हमें अपनी आध्यात्मिकता को प्रबल बनाने के लिए वेदान्त की शिक्षा ग्रहण करनी है, जो यह शिक्षा देती है कि अपने भाग्य के निर्माता हम ही हैं। इस प्रकार से हमारी आध्यात्मिक शक्ति किसी अंश में समाज को एक नया रूप देने में आधार स्वरूप होगी।

मद्रास की ओर से स्वामीजी पर दबाव पड़ रहा था कि वे शीघ्र पधारें। सो स्वामीजी मान मदुरा की दिशा में अग्रसर हुए। शिवगंगा तथा मान मदुरा के नागरिकों व जमींदारों ने पाश्चात्य देशों में प्राची के महान सन्देश को अधिकारपूर्वक प्रसार करके लौटने वाले अपने कीर्तिपुरुष के स्वागत की तैयारी कर रखी थी। यहां भी स्वामीजी ने अपने किए गए अभिनंदन का संक्षिप्त उत्तर दिया और मदुरा पहुंचे। मदुरा, त्रिचनापल्ल्ली व तंजौर में अपने स्वागत का उत्तर देकर, वे आगे बढ़े और कुम्भकोणम् आ पहुंचे। यहां स्वामीजी ने वेदान्त के उद्देश्य पर प्रवचन दिया।

स्वामीजी श्रीमद्भगवद् गीता की उक्ति ली—**स्वलपमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्,** धर्म का थोड़ा भी कार्य करने पर परिणाम बहुत बड़ा होता है। स्वामीजी ने कहा—"कि वे सामान्य जीवन में इस कथन की नित्य सत्यता का अनुभव करते हैं।"

विश्व में हमारे धर्म के सिवाय अन्य जितने भी बड़े धर्म हैं, सभी ऐतिहासिक जीवनियों के आधार पर खड़े हैं। हमारा धर्म कुछ तत्त्वों की नींव पर खड़ा है। पृथ्वी में कोई भी व्यक्ति-स्त्री हो या पुरुष, वेदों के निर्माण करने का दम नहीं भर सकता। हमारे ऋषियों ने जिन स्थायी सिद्धान्तों का पता लगाया है, उनके आधार पर वेदों का निर्माण हुआ है। संसार के समस्त धर्मग्रन्थों में एकमात्र वेदान्त ही ऐसा धर्मग्रन्थ है, जिसकी शिक्षाओं के साथ वाह्य प्रकृति के वैज्ञानिक अनुसंधान से प्राप्त परिणामों का सम्पूर्ण सामंजस्य है। हमारे धर्म ग्रन्थों का दर्शन है—मनुष्य जाति को दासता के बंधन से मुक्त करना। यह तभी हो सकता है जब हम अपने आत्म तत्त्व को पहचानें और परमात्मा के साथ-साथ अपने आप पर श्रद्धा रखें।

अब आनन्द पुलकित होकर आंखों से प्रेमाश्रु बरसाने का समय नहीं है। अब हमारे कोमल भाव धारण करने का समय नहीं है। कोमलता की साधना करते-करते हम लोग रुई के ढेर की तरह कोमल और मृतप्राय हो गए हैं। हमारे देश के लिए इस समय आवश्यकता है, लोहे की तरह ठोस मांसपेशियों और मजबूत स्नायुओं वाले शरीरों की। आवश्यकता है इस तरह की दृढ़ इच्छा शक्ति सम्पन्न होने की वि

कोई उसका प्रतिरोध करने में समर्थ न हो। आवश्यकता है ऐसी अदम्य इच्छा शक्ति की, जो ब्रह्मांड के सारे रहस्यों को भेद सकती हो। इसके लिए अपने आप पर श्रद्धा करना सीखो। इसी आत्मश्रद्धा के बल से अपने पैरों पर खड़े हो जाइए और शक्तिशाली बन जाइए।....

मैं एक वेदान्तवादी हूं। इस नाते कई बार अपने मन से सवाल करता हूं कि हमारी अवनति का कारण कौन है ? क्या इसके लिए अंग्रेज उत्तरदायी हैं ? उत्तर मिलता है, अपनी इस दयनीय अवस्था के एकमात्र उत्तरदायी हम स्वयं हैं।....

हमारे अभिजात पूर्वजों ने साधारण जन समुदाय को पैरों से कुचला है। इसके फलस्वरूप वे बेचारे एकदम असहाय हो गए। यहां तक कि वे अपने आपको मनुष्य मानना तक भूल गए। उनकी यह धारणा बन गई कि उन्होंने गुलाम के रूप में जन्म लिया है....लेकिन हमारे वेद, हमारा धर्म तो उद्घोष करता है कि अमीर-गरीब और बड़े-छोटे सभी में उसी एक अनन्त आत्मा का निवास है, जो सर्वव्यापी है। आओ, हम प्रत्येक व्यक्ति के लिए घोषणा करें....उठो, जागो और जब तक तुम अपने अन्तिम ध्येय तक नहीं पहुंच जाते, तब तक चैन न लो। उठो, जागो....निर्बलता के इस व्यामोह से जाग जाओ। वास्तव में कोई भी दुर्बल नहीं है। आत्मा अनन्त, सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ है। इसलिए उठो, और अपने वास्तविक स्वरूप को प्रकट करो। तुम्हारे अन्दर जो भगवान है, उसकी सत्ता को ऊंचे स्वर से घोषित करो। उसे अस्वीकार मत करो। हमारी जाति पर घोर आलस्य, दुर्बलता और व्यामोह छाया हुआ है। इसलिए ये, आधुनिक हिन्दुओ, अपने को इस व्यामोह से मुक्त करो।....इस देश और सारे जगत् का उद्धार करो।....वेदान्त का आलोक घर-घर ले जाओ। प्रत्येक जीवात्मा में जो ईश्वरत्व अन्तर्निहित है, उसे जगाओ। तब तुम्हारी सफलता का परिणाम जो भी हो, तुम्हें इस बात का संतोष होगा कि तुमने एक महान उद्देश्य की सिद्धि में ही अपना जीवन बिताया है, कर्म किया है और प्राणोत्सर्ग किया है।"

कुम्भकोणम् में तीन दिन रुक कर अपने दर्शनों के लिए आतुर लोगों को प्रेरणा देते हुए स्वामीजी मद्रास पहुंचे। मद्रास तो स्वामीजी की प्रतीक्षा कर ही रहा था। न्यायमूर्ति सुब्रह्मंयम अय्यर महोदय स्वागत समिति का नेतृत्व कर रहे थे। सारी मद्रास नगरी रंग-बिरंगे झंडों से सजी हुई थी। छः फरवरी का प्रातःकाल था। रेलवे स्टेशन लोगों से अटा पड़ा था; और हजारों कंठों से स्वामी विवेकानन्दजी का जय-जयकार हो रहा था। स्वामी निरंजनानन्द व स्वामी शिवानन्द तथा विदेश अतिथिगण स्वामी विवेकानन्दजी का अभूतपूर्व स्वागत देखकर अभिभूत थे। स्वामीजी को ले जाने वाली घोड़ा-गाड़ी स्वागत स्थल की ओर बढ़ी। धर्मानुरागी जनता मुक्त

हृदय से स्वामीजी का स्वागत कर रही थी। दिन भर स्वामीजी को विभिन्न समितियों के लोग बधाई देते रहे। अगले दिन अभ्यर्थना समिति की ओर से स्वामीजी को मानपत्र भेंट किया गया। इसी अवसर पर खेतड़ी के महाराजा द्वारा भेजा गया अभिनंदन पत्र भी उन्हें भेंट किया गया। इनके अतिरिक्त संस्कृत, तमिल, तेलगु आदि भाषाओं में भी विभिन्न समितियों द्वारा स्वामीजी को अर्पित किए गए श्रद्धा पत्रों का वाचन भी किया गया। स्वामीजी ने अपने उत्साहपूर्ण स्वागत के लिए आभार प्रकट किया।

स्वामीजी के शिष्य आलासिंगा तथा अन्य मद्रासी शिष्य व भक्तगणों की इच्छा थी कि स्वामीजी मद्रास में अधिक-से-अधिक विषयों पर प्रवचन दें। उनकी इच्छा पूरी हुई। स्वामीजी ने मद्रास के प्रति विक्टोरिया हाल में 'मेरी समरनीति' शीर्षक से विस्तृत भाषण दिया। स्वामीजी का सिंहनाद था....

"मैं भारत से पाश्चात्य देशों में कुछ सन्देश ले गया था और उसे मैंने निर्भीकता से अमेरिका और इंग्लैंड वासियों के सामने प्रकट किया है।....कुछ दिनों से मेरे चारों ओर कुछ ऐसी परिस्थितियां उपस्थित हो रही हैं, जो मेरे कार्य की उन्नति में विशेष रूप से विघ्न डालने की चेष्टा कर रही हैं। यहां तक कि यदि सम्भव हो सके, तो वे एक बारगी मुझे कुचल कर मेरा अस्तित्व ही नष्ट कर डालें। पर ईश्वर को धन्यवाद कि ये सारी चेष्टाएं विफल हो गई हैं। मैं गत तीन वर्षों से देख रहा हूं, कुछ लोग मेरे एवं मेरे कार्यों के सम्बन्ध में कुछ भ्रान्त धारणाएं बनाए हुए हैं, जब तक मैं विदेश में था, मैं चुप रहा। मैं एक शब्द भी न बोला। लेकिन आज मैं अपने देश की भूमि पर खड़ा हूं, मैं स्पष्टीकरण के रूप में कुछ शब्द कहना चाहता हूं। इन शब्दों का क्या फल होगा अथवा ये शब्द तुम लोगों के हृदय में किन-किन भावों का उद्रेक करेंगे, इसकी मैं परवाह नहीं करता। मुझे बहुत कम चिन्ता है, क्योंकि मैं वही सन्यासी हूं, जिसने चार वर्ष पहले अपने दंड व कमंडल के साथ तुम्हारे नगर में प्रवेश किया था।....

स्वामीजी ने थियोसोफीकल सोसायटी की एनी बेसेन्ट की प्रशंसा की और साथ ही देश में फैलती हुई इस अफवाह का खंडन किया कि विदेश की थियोसोफीकल सोसायटी ने उनकी किसी प्रकार की सहायता की। स्वामीजी ने स्पष्ट शब्दों में बताया कि ब्रह्म समाज व थियोसोफीकल सोसायटी ने विदेश में जगह-जगह उनके हाथ बांधने की कोशिश की। उन्होंने सवाल किया कि इन संस्थाओं को साधारण हिन्दुओं के सुधार से क्या शत्रुता है। यदि हिन्दू वेदों की ओर बढ़ना चाह रहे हों, सच्ची शिक्षा ग्रहण करना चाहते हों, स्वच्छ रहना चाहते हों, अपने घरों को साफ-सुथरा रखना

चाहते हों, तो इससे ईसाई मिशनरियां या इन संस्थाओं का क्या बिगड़ता है ? इन संस्थाओं से भिन्न आप कुछ विचार प्रकट करें तो ये ईर्ष्या, द्वेष और घृणा क्यों करने लगते हैं ?

स्वामीजी ने बताया कि शिकागो में थियोसोफीकल सोसायटी के नेता से जब वे मिले और उनसे अनुरोध किया कि वे विदेश में धनहीन, मित्रहीन हैं सो उनसे मदद की अपेक्षा करते हैं। उन नेताजी का उत्तर था कि उनकी सोसायटी के सदस्य बने बिना वे मेरी कोई मदद नहीं कर सकते। खैर ! जो भी हो, मुझे आप लोगों ने सहायता देकर भेजा था, वही मेरा सम्बल था।"

स्वामीजी ने विदेश में उन पर जो कुछ बीती, वह अक्षरशः श्रोताओं के सम्मुख रखा। इसके पश्चात् वे अपनी क्रांतिकारी योजना के विषय पर आए। उन्होंने मद्रास के समाज की स्वाभाविक उन्नति की सराहना की। वे यह जिक्र करना भी नहीं भूले कि समाज सुधार की कुछ संस्थाओं से उन्हें धमकियां मिल रही हैं कि वे उनके सदस्य बन जाएं। स्वामीजी ने निर्भय होकर कहा—"ये संस्थाएं एक ऐसे मनुष्य पर अनुचित दबाव डाल रही हैं, जिसने जीवन के चौदह वर्षों तक निरन्तर फाकाकशी का मुकाबला किया है, जिसे यह भी पता न रहता था कि दूसरे दिन का भोजन कहां से आएगा, सोने के लिए स्थान कहां मिलेगा, ऐसा व्यक्ति सरलता से धमकाया नहीं जा सकता। जो मनुष्य बिना कपड़ों के और बिना यह जाने कि दूसरे समय भोजन कहां से मिलेगा, उस स्थान पर रहा हो, जहां तापमान शून्य से भी तीस डिग्री कम हो, वह भारत में इतनी सरलता से डराया नहीं जा सकता।

इन सुधारकों और मेरे में केवल मतभेद हैं—सुधार प्रणाली में। इनकी प्रणाली विनाशात्मक है, और मेरी संघठनात्मक। मैं सुधार में विश्वास नहीं करता, मैं विश्वास करता हूं स्वाभाविक उन्नति में। मैं अपने को ईश्वर के स्थान पर प्रतिष्ठित कर अपने समाज के लोगों के सिर पर यह उपदेश मढ़ने का साहस नहीं कर सकता कि 'तुम्हें इसी भांति चलना हो, दूसरी तरह नहीं।'

हमारा राष्ट्र का जीवनरूपी यन्त्र युग-युग से कार्य करता आ रहा है। राष्ट्रीय जीवन का यह अद्‌भुत प्रवाह हम लोगों के सम्मुख बह रहा है। कौन जानता है, कौन साहसपूर्वक कह सकता है कि यह अच्छा है या बुरा, और यह किस प्रकार चल सकेगा। उसके चारों ओर हजारों घटना चक्र उपस्थित होकर उसे एक विशिष्ट प्रकार की स्फूर्ति देकर कभी उसकी गति को मन्द और कभी तीव्र कर देते हैं। उसके वेग को नियमित करने का साहस कौन कर सकता है ? इस राष्ट्रीय जीवन को जिस ईंधन की जरूरत है, देते जाओ, बस वह अपने ढंग से उन्नति करता जाएगा, उसकी

उन्नति का मार्ग कोई निर्दिष्ट नहीं कर सकता। हमारे समाज में बहुत-सी बुराइयां हैं, पर इस तरह की बुराइयां तो दूसरे समाज में भी हैं।

इन बुराइयों के निराकरण की चेष्टा करना ही सही उपाय नहीं है। हमारे दर्शनाशास्त्रों में लिखा है कि अच्छे और बुरे का नित्य सम्बन्ध है। ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। अस्तु सामाजिक दोषों का निराकरण का कार्य उतना वस्तुनिष्ठ नहीं है, जितना आत्मनिष्ठ। हम कितनी भी लम्बी-चौड़ी डींगे क्यों न हांकें, समाज के दोषों को दूर करने का कार्य जितना स्वयं के लिए शिक्षात्मक है, उतना समाज के लिए वास्तविक नहीं। इस सच्चाई को जानकर, समाज के दोषों को दूर करने के सम्बन्ध में हमें अपने खून की चढ़ती गर्मी को रोकना होगा, अपनी उत्तेजना को दूर करना होगा। संसार का इतिहास भी हमें यह वताता है कि जहां कहीं इस प्रकार की उत्तेजना से समाज के सुधार करने का प्रयत्न हुआ है, वहां केवल यही फल हुआ कि जिस उद्देश्य से वह किया गया था, उस उद्देश्य को ही उसने विफल कर दिया। इसलिए मेरी योजना है कि हम अपने प्राचीन महान आचार्यों के उपदेशों का अनुकरण करें। भारतवर्ष में कभी भी सुधारकों का अभाव नहीं रहा। रामानुज, शंकर, नानक, चैतन्य, कबीर और दादू जैसे धर्माचार्य यहां हुए हैं। इन लोगों ने कभी अपनी या दूसरी कौमों की समाजिक प्रथाओं की निन्दा नहीं की। हमें भी यही बात सीखनी होगी और सहिष्णुता से अपने धर्म और समाज में समरसता उत्पन्न करनी होगी। तभी हम भारत में सामाजिक सुधार का प्रचार कर सकते हैं। लेकिन इसके लिए हमें यह दिखाना होगा कि चाही गई नई प्रथा से आध्यात्मिक जीवन की उन्नति में कौन-सी विशेष सहायता मिलेगी। इसी प्रकार राजनीति का प्रचार करने के लिए हमें दिखाना होगा कि उसके द्वारा हमारे राष्ट्रीय जीवन की आकांक्षा....आध्यात्मिक उन्नति की कितनी अधिक पूर्ति हो सकेगी। इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति को अपना मार्ग चुन लेना पड़ता है, उसी भांति प्रत्येक राष्ट्र को भी एक निश्चित पथ तय कर लेना पड़ता है। हमने युगों पूर्व अपना पथ निर्धारित कर लिया था, और अब हमें उसी का अनुसरण करना चाहिए। हमारा यह मार्ग बुरा नहीं है। जड़ के बदले चैतन्य का, मनुष्य के बदले ईश्वर का चिंतन करना क्या संसार में कोई बुरी चीज है ? भारत की समाजवादी अथवा राजनीतिक विचारों से प्लावित करने के लिए आवश्यक है कि उसमें आध्यात्मिक विचारों की बाढ़ ला दी जाए। हमारे उपनिषदों, पुराणों और अन्य शास्त्रों में जो अपूर्व सत्य छिपे हुए हैं, उन्हें इन सब ग्रन्थों के पन्नों से बाहर निकाल कर, मठों की चहारदीवारियां भेदकर, वनों की शून्यता से दूर लाकर, कुछेक सम्प्रदाय विशेष के हाथों से छीनकर, देश में सर्वत्र बिखेर देना होगा।....

मेरा विचार है कि—"मैं भारत में कुछ ऐसे शिक्षालय स्थापित करूं, जहां हमारे नवयुवक अपने शास्त्रों के ज्ञान में शिक्षित होकर भारत तथा भारत के बाहर अपने धर्म का प्रचार कर सकें। आवश्यकता है वीर्यवान, तेजस्वी, श्रद्धा सम्पन्न और दृढ़ विश्वासी निष्कपट नवयुवकों की।"

स्वामीजी ने अपने विस्तृत भाषण समाप्त किया। लोगों को अनुभव हो रहा था कि स्वामीजी की वाणी, उनका स्वर अभी भी वातावरण में गूंज रहा है और उनमें संचेतना भर रहा है। मद्रास के प्रबुद्ध जन को स्वामीजी के एक भाषण से संतोष नहीं हुआ। उन्होंने दूसरे दिन स्वामीजी से 'वेदान्त के प्रभाव' पर विचार व्यक्त करने का अनुरोध किया।

लोगों की रुचि को देखते हुए स्वामीजी ने भारतीय जीवन में वेदान्त का प्रभाव बताते हुए, वेदान्त धर्म का आशय, कर्मकांड और ज्ञानकांड, वेद, उपनिषद्, पुराण, द्वैत और अद्वैत की व्याख्या सरल शब्दों में की। सैकड़ों व्यक्ति स्वामीजी का प्रवचन सुनने के लिए आते थे और प्रस्तुत बातों पर मनन करते थे।

मद्रास में स्वामीजी ने नौ दिन व्यतीत किए। इस अवधि में भारत के महापुरुष, हमारा प्रस्तुत कार्य और भारत का भविष्य आदि विषय पर उन्होंने विश्लेषणात्मक भाषण किए। स्वामीजी जो कुछ बोलते थे, उसके प्रमाण में उपनिषद्, गीता, वेद, पुराण आदि के दृष्टान्त देते थे। लोगों को सोचने का अवसर मिलता था और अपनी जिज्ञासाओं का समाधान भी।

नौ दिन का महोत्सव समाप्त हुआ। लेकिन स्वामीजी के मद्रासी शिष्यों ने इस अनुष्ठान को स्थायी रूप देने के लिए वेदान्त का प्रचार कराया। स्वामीजी ने प्रसन्न हृदय से अपना आशीर्वाद देकर आश्वासन दिया कि वे इस कार्य के लिए शीघ्र अपने किसी गुरुभाई को यहां भेजेंगे।

कलकत्ते से निरन्तर पत्र आ रहे थे। श्रीरामकृष्णदेव का जन्मोत्सव निकट था। सो स्वामीजी ने मद्रास के भक्तों से विदा ली और समुद्र मार्ग से कलकत्ते रवाना हुए।

15 फरवरी को जहाज ने मद्रास बन्दरगाह छोड़ा। स्वामीजी निरन्तर व्यस्त रहने के कारण थकान का अनुभव कर रहे थे। पुणे जाने का कार्यक्रम भी उन्होंने इसीलिए स्थगित किया। वे लोकमान्य तिलक का आग्रह टालना न चाहते थे, पर पुणे जाने का अर्थ होता, कलकत्ते देर से पहुंचना। सो उन्होंने स्थल मार्ग टालकर जल-मार्ग अपनाया। उनकी इच्छा थी कि कलकत्ते में कार्य सम्पन्न करने के बाद हिमालय की गोद में शरण लें।

कलकत्ता प्रतीक्षा कर रहा था अपने लाड़ले की। नागरिकों ने अपने इस अमर

पुत्र के स्वागत के लिए न जाने कब से आंखें बिछा रखी थीं। सभी को उत्सुकता थी अपने नरेन को दिग्विजयी स्वामी विवेकानन्द के रूप में देखने की।

स्वामीजी भी जहाज में बैठे नरेन्द्र, बिले, दुर्गादास आदि अपने विभिन्न नामों में से गुजर रहे थे। बचपन के क्रियाकलापों के भिन्न-भिन्न रूप उनके सामने तैर रहे थे। वे नन्हें 'बिले' बने हुए थे और अपने छोटे-छोटे हाथों से आशुतोष का जलाभिषेक कर रहे थे। कभी-कभी वे 'नरेन्द्र' के रूप में शिवमूर्ति के समक्ष ध्यानस्थ होने का खेल खेल रहे थे। स्मृति के इस सागर में गोता लगाने में उन्हें आनन्द आ रहा था। जन्मदायिनी मां, पिता, भाई-बहिनें, गुरुदेव, श्रीमां, गुरुभाई, मित्र आदि दृश्य-पटल पर आते जा रहे थे।

जहाज खिदिरपुर पहुंचा। स्वामीजी के विदेशी शिष्यों को भारत-भूमि देखने का उत्तम अवसर मिला रहा था। वे यदि अकेले भारत आते तो शायद भारत की जनता को इतने निकट से देखने का मौका उन्हें नहीं मिलता। अध्यात्म में रुचि रखने वाले और पश्चिमी सुख-सुविधाओं से ऊबे इन लोगों को आश्चर्य था कि भारत के लोग नाना प्रकार के अभावों में भी प्रसन्नतापूर्वक जी लेते हैं। वे जगह-जगह स्वामीजी का स्वागत देख रहे थे, स्वागत में आए लोगों को देख रहे थे, मार्ग में ग्रामीण बस्तियों का अवलोकन करते थे, उनका रहन-सहन और आपसी हेलमेल देखकर उनकी कई भ्रान्तियां दूर हो रही थी। इन लोगों का भले ही जीवन जीने का तरीका साधारण था। लेकिन चकाचौंध रहित इस जीवन में ईश्वर के प्रति जो आस्था का पुट था, वह उन्हें मुदित जीवन जीने का सम्बल प्रदान करता था। यही बात उन्हें खिदिरपुर में नजर आई।

खिदिरपुर में भी स्वामीजी का भव्य स्वागत हुआ। लोग उन्हें धूमधाम से रेलवे स्टेशन तक लाए। स्टेशन पर इन लोगों को ले जाने के लिए विशेष रेलगाड़ी लगी हुई थी। यह संक्षिप्त रेलयात्रा भी आनन्दपूर्ण रही।

प्रातः साढ़े सात बजे रेलगाड़ी धीरे-धीरे स्यालदह प्लेटफार्म पर आकर रुक गई। स्वामीजी को देखते ही उनके स्वागत में आई भीड़ ने उद्घोष किया—"जय श्रीरामकृष्णदेव, जय श्री विवेकानन्दजी।" बाबू नरेन्द्रनाथ सेन और अन्य लोगों द्वारा पहनाई गई फूल मालाओं से स्वामीजी लद गए। लोगों के नेत्र स्वामीजी के ओजस्वी मुख को देख अघा न रहे थे।

वे सेव्हियर दम्पति व गुडविन के साथ चार घोड़ों वाली बग्घी में बिराजे और दोनों ओर खड़े दर्शनार्थियों का अभिवादन स्वीकार करते हुए रिपन कॉलेज पहुंचे। सेव्हियर दम्पति मार्ग में पत्र, पुष्प, पल्लव, पताका और सैकड़ों लोगों के समूह को

देखकर अनुमान लगा रहे थे कि भारत की अध्यात्म क्षेत्र में विश्व विजय का मूल कारण क्या था।

कैप्टन सेव्हियर अपनी श्रीमती से बोले—"इनके रोम-रोम में अध्यात्म नाच रहा है। इनके प्रतिनिधि विश्व विजय के अधिकारी थे।"

रिपन कॉलेज में स्वामीजी और उनके विदेशी अतिथियों को सम्मानित किया गया। यहां भी लोग आतुर थे ताकि स्वामीजी अध्यात्म पर प्रवचन देकर उन्हें कृतार्थ करें। लेकिन आगे के व्यस्त कार्यक्रम के कारण स्वामीजी ने समयानुकूल चर्चा करके लोगों को संतुष्ट कर दिया।

कलकत्ता के श्रीरामकृष्णदेव भक्त स्वामीजी को अपने-अपने यहां बुलाने की होड़ किए हुए थे। इनमें से विशेष घर था बाग बाजार के राजवल्लभ मोहल्ले का। स्व० प्रियनाथ मुखर्जी का समस्त परिवार श्रीराकृष्णदेव पर अतीव श्रद्धा रखता था। वे स्वामीजी से प्रभावित थे; और उनके कलकत्ते आगमन की व्यग्रता से प्रतीक्षा कर रहे थे। आज मध्याह्न में स्वामीजी का यहां पधारने का कार्यक्रम था। जिस किसी को इस बात का पता लगा, उसके कदम प्रियनाथजी के मकान की ओर बढ़ चले। इन्हीं में से एक भक्त था शरच्चन्द्र चक्रवर्ती। वह स्वामीजी से मिलने की उत्सुकता में पहली बार इस दिशा की ओर, यह सोचता हुआ बढ़ रहा था कि हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता को पाश्चात्य के विकासशील देशों के सम्मुख सिद्ध करने कर देने वाली इस आंधी के समक्ष उस जैसे तृण की क्या बिसात....क्या वे मुझसे मिलेंगे ?

अपनी इसी धुन में वह अपेक्षित भवन में पहुंच गया। उसने देखा कि भवन के विशाल कक्ष में एक गेरुआ वस्त्रधारी व्यक्ति बैठा कुछ अन्य लोगों से चर्चा कर रहा था। शरच्चन्द्र ने अखबार में प्रकाशित स्वामी विवेकानन्द के अवलोकित चित्र के आधार पर सामने बैठे व्यक्ति की मुखाकृति से तुलना की। उसे वह मुखाकृति स्वामी विवेकानन्द की नहीं लगी। इसके बावजूद भी वह आगे बढ़ा और गेरुए वस्त्रधारी से प्रश्न किया—"मैं स्वामी विवेकानन्द से मिलना चाहता हूं।"

जिनसे प्रश्न किया गया, वे स्वामी तुरीयानन्द थे। स्वामी स्नेहिल स्वर में बोले—"आप कुछ प्रतीक्षा करें। स्वामीजी पधारने वाले हैं।"

शरच्चन्द्र अन्य दर्शनाभिलाषियों के साथ बैठ गया। अभी कुछ ही काल हुआ था कि स्वामी विवेकानन्द अपने गुरुभाइयों के साथ कक्ष में पधारे। अन्यों के साथ शरच्चन्द्र ने भी उठकर स्वामीजी को प्रणाम किया। स्वामी तुरीयानन्दजी ने शरच्चन्द्र को निकट आने का इशारा किया और स्वामी विवेकानन्दजी से उसका परिचय करवाया। स्वामीजी ने शरच्चन्द्र से उसका कुशलक्षेम पूछा और श्रीरामकृष्णदेव के

परम भक्त नाग महाशय के स्वास्थ्य के विषय में जानकारी प्राप्त की। शरच्चन्द्र को आश्चर्य हुआ कि स्वामीजी कैसे जानते हैं कि वह नाग महाशय का परिचित है। स्वामीजी ने उसका आश्चर्य लख लिया और बोले—"वत्स, तुम्हें आश्चर्य हो रहा है कि मैं कैसे जान गया कि तुम नाग महाशय के सम्पर्क में हो। लेकिन सीधी-सी बात है कि नाग महाशय, तुम और मैं एक ही कड़ी के मनके हैं। विवेकानन्द से मिलने को आतुर व्यक्ति निश्चित ही श्रीरामकृष्णदेव से परिचित होगा....और जो श्रीरामकृष्णदेव को जानता हो तथा नाग महाशय से परिचित न हो, तो यह हैरानी की बात होगी।"

शरच्चन्द्र ने नाग महाशय का संक्षिप्त विवरण स्वामीजी को दिया।

स्वामीजी ने नाग महाशय के त्याग और ईश्वर अनुराग की प्रशंसा की।

कक्ष में भीड़ बढ़ने लगी थी। स्वामीजी, शरच्चन्द्र एवं तुरीयानन्दजी को लेकर अन्य कक्ष में आ गए और वार्ता में मग्न हो गए। स्वामी विवेकानन्दजी ने शरच्चन्द्र की जिज्ञासा, जिस प्रश्न या विषय में देखी उसी को विस्तृत रूप से समझाया।

उन लोगों में वार्तालाप चल रहा था कि स्वामीजी को सन्देश मिला कि 'मिरर' के सम्पादक नरेन्द्रनाथ सेन उनके दर्शनार्थ आए हैं। स्वामीजी ने नरेन्द्रजी को यहीं ले आने की आज्ञा दी। नरेन्द्रजी ने स्वामी विवेकानन्द को प्रणाम करके अपना आसन ग्रहण किया। नरेन्द्रनाथजी का जिज्ञासु पत्रकार जीवन्त हुआ। वे स्वामीजी से अमेरिका तथा इंग्लैंड के बारे में तर्कपूर्ण सवाल पूछने लगे। इंग्लैंड के विषय में स्वामीजी का मत था कि वे लोग कंजरवेटिव है। विश्व में ऐसी कंजरवेटिव अन्य कोई जाति नहीं है। वे लोग आसानी से किसी नए भाव को ग्रहण नहीं करते। लेकिन अध्यवसाय के साथ उन्हें यदि नए भाव को समझा दिया जाए तो वे फिर उसे कभी नहीं छोड़ते। वे दृढ़ प्रतिज्ञ भी होते हैं और इसी कारण उन्होंने सभ्यता और संस्कृति में तथा शक्ति संचय में पृथ्वी पर श्रेष्ठ स्थान प्राप्त किया है। अमेरिका को उन्होंने उदारचित्त और नवीन भाव को ग्रहण करने वाला राष्ट्र बताया।

नरेन्द्रनाथ सेन ने प्रश्न किया—"स्वामीजी, आपने तो दोनों राष्ट्रों में वेदान्त कार्य किया है। इस कार्य को स्थायित्व मिलने की सम्भावना कहां अधिक है ?"

"सेन साहब, इंग्लैंड में यह स्थायी हो सकता है।"

"स्वामीजी, लेकिन इससे हमें क्या लाभ होगा ?"

"सेन साहब, पाश्चात्य सभ्यता की तुलना में हम बहुत अधिक पिछड़े हुए हैं। लेकिन धर्म के क्षेत्र में वेदान्तवाद का कोई सानी नहीं है। वेदान्तवाद के प्रचार से ये लोग जान सकेंगे कि भारत में कितना अद्‌भुत धर्म-भाव का स्फुरण हुआ था, जो वर्तमान में भी कायम है। निश्चित है, इससे उनकी श्रद्धा वेदान्त व भारत पर बढ़ेगी।

वे हमसे वेदान्त भाव ग्रहण करने के लिए लालायित होंगे ताकि उनका पारमार्थिक लाभ हो सके। हम इसके एवज में ऐहिक जीवन के लिए उनसे वैज्ञानिक शिक्षा ग्रहण करेंगे।"

"स्वामीजी, यह आदान-प्रदान तो ठीक है, किन्तु इससे हमारी राजनीतिक उन्नति की कोई आशा है या नहीं ?"

"नरेन्द्रजी, वे महापराक्रमी विरोचन की सन्तान हैं। उनकी शक्ति से पंचभूत कठपुतली के समान उनकी सेवा कर रहे हैं। हम यदि चाहें कि स्थूल भौतिक शक्ति के प्रयोग से हम उनसे स्वतंत्र हो जाएं, तो यह सम्भव नहीं होगा। इसके लिए सर्वश्रेष्ठ मार्ग यही है कि हम आध्यात्मिक क्षेत्र में उनके गुरु बनें तथा ऐहिक विषय में वे हमें पाठ पढ़ाएं। इस आदान-प्रदान से दोनों पक्षों के बीच एक प्रेमलता उपजेगी जो हमारी स्वतंत्रता का आधार बनेगी।"

"लेकिन, आपसी राजनीतिक चर्चा द्वारा क्या इसका समाधान नहीं निकल सकता ?"

"सेन साहब, मेरे विचार में राजनीतिक चर्चा गौण उपाय है। लेकिन मैं अपने विचारों पर चलने के लिए किसी को वाध्य नहीं करूंगा। यदि लगता है कि किसी अन्य उपाय से भारत का कल्याण होगा तो उसे अपनाने की सभी को स्वतंत्रता है।"

नरेन्द्रनाथ सेन को स्वामीजी की बात जंची। कुछ देर में वे स्वामीजी को धन्यवाद देकर चले गए। शरच्चन्द्र विस्मित थे स्वामीजी की ज्ञान गरिमा पर। स्वामीजी शरच्चन्द्र से बोले—"आओ, दूसरी दिशा में चलें।"

वे दोनों कक्ष से बाहर निकले ही थे कि एक व्यक्ति साधु वेष में सम्मुख आ खड़ा हुआ। स्वामीजी ने प्रश्नात्मक मुद्रा में उस व्यक्ति की ओर देखा। उसने स्वामीजी का अभिवादन किया और बोला—"मैं प्रचारक हूं।"

साधु ने गाय का एक चित्र स्वामीजी को दिया। स्वामीजी ने चित्र लिया और पूछा—"आप लोगों की कोई सभा है ?"

"जी हां।"

"आपकी सभा का क्या उद्देश्य है ?"

"रोगग्रस्त, दुर्बल व कसाइयों के चंगुल से मुक्त करवाई गई गौ-माताओं के लिए गौशालाएं स्थापित करना ही हमारा उद्देश्य है।"

"बहुत सुन्दर कार्य है। आप लोगों की आय का स्रोत क्या है ?"

"आप जैसे धर्मात्माओं की कृपा से हमारा कार्य चलता है। मारवाड़ी सम्प्रदाय इस कार्य में विशेष मदद करते हैं।"

"इस वर्ष मुर्शिदाबाद और आसपास के क्षेत्र में भयंकर अकाल छाया हुआ है। सरकार के अनुसार करीब 9 लाख लोग काल कवलित हो चुके हैं। आपकी सभा ने वहां कुछ सद्कार्य किया ? मैंने वहां स्वामी अखंडानन्दजी को लोगों की मदद के लिए भेजा है।"

"स्वामीजी, हमारा एक मात्र उद्देश्य गौ-माता की सेवा करना है।"

"आपके पास आय के साधन हैं, काफी कोष भी है। मुट्ठी भर अन्न देने से हजारों लोगों के प्राण बचाए जा सकते थे।"

"इस विषय में हमारा विचार है कि यह उन लोगों का कर्मफल है। पाप का घड़ा भरा और उन्हें फल प्राप्त हुआ। इस ईश्वरीय कार्य में हम क्यों हस्तक्षेप करें। कर्मानुसार फल तो भोगना ही होगा।"

शरच्चन्द्र ने देखा की प्रचारक महोदय के इस कथन ने स्वामीजी की मुख की रंगत बदल दी। लेकिन क्षणांश में वे संतुलित हो गए और दृढ़ स्वर में बोले—

"भाई, ऐसी सभा-समिति पर मेरी कोई श्रद्धा नही है जो संकट में पड़े मनुष्य की सहायता न कर सके। आपका यह कथन कि वे लोग अपने कर्मफल भोग रहे हैं, से भी मैं सहमत नहीं हूं। आपके इस सिद्धान्त का प्रयोग तो उन गौ-माताओं पर भी होता है जो कसाइयों के हाथों में फंसती हैं। क्या वह उनका कर्मफल नहीं है ?"

प्रचारक सकपका गया। वह विनीत स्वर में बोला—"स्वामीजी, आप सत्य कहते हैं, परन्तु शास्त्र कहता है कि गौ हमारी माता है। मैं इसी निमित्त अपनी सभा की ओर से आपके पास भिक्षा मांगने आया हूं।"

"मैं तो भाई साधु हूं। यदि कभी मेरे पास धन आया तो सबसे प्रथम उसे मैं मनुष्य सेवा में लगाऊंगा। मेरे लिए सबसे आवश्क चीज है अन्न दान, धर्म दान और विद्या दान। इसके उपरान्त यदि कुछ धन बच गया तो उस पर आपकी समिति का अधिकार होगा।"

प्रचारक स्वामीजी का अभिवादन करके चला गया। स्वामीजी शरच्चन्द्र को साथ लिए हॉल की ओर लौटते हुए बोले—"हिन्दूवाद का कर्मवाद कहां जा पहुंचा है ? मनुष्य का मनुष्य के लिए जी नहीं दुखता। ऐसा मनुष्य अपने को मनुष्य कहता कैसे है ? सच, ऐसे विचार सुनकर मेरा जी बड़ा दुःख पाता है। मैं क्षोभ से भर जाता हूं। अब समय हो गया है। तुम फिर कभी आकर मुझसे भेंअ करना। तब वेदान्त पर चर्चा करेंगे। हो सके, तो तुम 'विवेक चूड़ामणि' का अध्ययन करना।"

शरच्चन्द्र ने घर लौटते समय स्वामीजी द्वारा निर्दिष्ट ग्रन्ध क्रय किया और बटतले मोहल्ले से होता हुआ अपने घर दर्जीपाड़े में पहुंच गया।

स्वामी विवेकानन्द कलकत्ता प्रवास के दौरान कार्यक्रमानुसार कभी आलमबाजार के मठ तो कभी काशीपुर, कभी गोपाललाल शील की बगीची में निवास करते थे। वे जहां भी जाते थे, प्रेमीजनों और वेदान्त प्रेमियों की भीड़ लगी रहती थी। इनमें सभी प्रकार के लोग होते थे....प्रशंसक, दुराग्रही, उपहास और व्यंग्य करने वाले, अन्य मत-मतान्तरों के अन्ध भक्त, श्रीरामकृष्णदेव के विरोधी, स्वामी विवेकानन्दजी से ईर्ष्या रखने वाले आदि। कलकत्ता का वह उच्च ब्राह्मण वर्ग जो अपने ढकोसलों से अपनी रोटी-रोजी कमा रहा था, विशेषकर उसे संताप था कि स्वामीजी लोगों को चेतन कर रहे हैं, असली धर्म की रोशनी लोगों को दिखा रहे हैं, सामाजिक कुरीतियों को कुरेद रहे हैं, इस सबसे अन्ततः हानि तो उन्हें ही होगी। वस्तुतः ये लोग जन जागरण के विरोधी थे।

स्वामीजी इन सच्चाइयों से आज नहीं, अपितु वर्षों पूर्व से परिचित थे। वे इन लोगों से खुला संघर्ष न करके, जन-चेतना फैलाने में लगे हुए थे। फलस्वरूप ये लोग कसमसाने के सिवाय और कुछ न कर पा रहे थे। स्वामीजी की लोकप्रियता दिनों-दिन बढ़ती जा रही थी। शिष्य व भक्तगण उनकी अद्भुत स्वर लहरी में डूबे रहने को आतुर रहते थे।

इस समय स्वामीजी गिरिशचन्द्र घोष के मकान से गोपललाल शील के भवन की ओर प्रस्थान करने के उपक्रम में थे कि शरच्चन्द्र पहुंच गया। स्वामीजी उसे देखकर प्रसन्न हुए।

"आओ, शरच्चन्द्र। मेरे साथ चलोगे ?"

"यह मेरा अहोभाग्य होगा।"

"आओ।"

शरच्चन्द्र, स्वामीजी के साथ घोड़ा-गाड़ी में जा बैठा। घोड़ा-गाड़ी चल पड़ी। गाड़ी शीघ्र चितपुर मार्ग पर आ गई। स्वामीजी टकटकी लगाकर बहती गंगा को देख रहे थे। चितपुर पुल की ओर आती रेलगाड़ी ने उनकी एकाग्रता भंग की। वे शरच्चन्द्र से बोले—"तुमने पूछा नहीं कि हम कहां जा रहे हैं ?"

"मैंने इसकी आवश्यकता नहीं समझी।"

"यह तो जड़ता है, भाई।"

""स्वामीजी, तो चेतना क्या है ?"

"प्रकृति के विरुद्ध संघर्ष करना चेतना है। इसे हमें अपने भीतर की अनन्त शक्ति, अपार ज्ञान और अदम्य उत्साह के सन्दर्भ में लेना होगा।"

"लेकिन यह चेतना शक्ति आए कहां से ? कौन सिखाए और कौन बताए

कि हमारे भीतर अनन्त चेतना शक्ति छिपी हुई है। कौन जगाए इसे ? ऐसे शिक्षक और विद्यालय हैं कहां ? आज तो पठन-पाठन, घर-विद्यालय सभी जगह बताया जाता है कि चेतना शक्ति नौकरी के लिए है। यही कारण है कि हमारी समस्त चेतना बाबू बनने तक सीमित हो गई है।"

"अरे ! कमाल है। तूने इतना सोचा तो है। तू जब इस बात को समझता है, तो इसके विरुद्ध खड़ा क्यों नहीं हो जाता ? अपने इस भाव को गांव-गांव, पुरवे-पुरवे में फैला। मेरा कहना है कि तुम इस प्रतीक्षा में क्यों हो कि कोई तुम्हें जगाए....उठो, तुम तो अपूर्व शक्ति के मालिक हो। तुम शिक्षक बनो और सरल भाषा में विज्ञान, दर्शन, भूगोल और इतिहास की मूल बातों को जन-जन में फैला दो। मेरी इच्छा है कि अविवाहित नवयुवकों का एक ऐसा केन्द्र स्थापित किया जाए, जहां इन्हें जन-प्रचार हेतु शिक्षित करके देश के कोने-कोने में फैल जाने को निर्दिष्ट किया जाए।"

"लेकिन स्वामीजी महाराज, इस कार्य के लिए तो बहुत धन की जरूरत पड़ेगी।"

"मनुष्य ही तो धन कमाता है।"

"लेकिन...." शरच्चन्द्र अपने विचार प्रकट करने ही वाला था कि स्वामीजी ने टोक दिया।

"लेकिन....लेकिन से कुछ नहीं होने का। यही असफलता की जड़ है। तुम एक बार किसी चींटी को मारने की चेष्टा करो, तुम देखोगे कि वह अपनी जीवन रक्षा के लिए एक बार प्राणप्रण से संघर्ष करेगी। कितना अल्प प्राण है उसमें, क्या आकार है उसका, क्षण भर में वह कुचली-मसली जा सकती है, पर उसमें एक अतुल संघर्ष की उत्कट क्षमता भी है। भाई, क्यों दीन बनकर प्राण त्यागे जाएं ? हम चेतन हैं, तो हम में सत् को प्राप्त करने के लिए संघर्ष करने की भावना भी होनी चाहिए।"

"महाराज, मैं आपकी बात को नहीं टाल रहा हूं। अपने मन की भ्रांतियां आपके सम्मुख प्रकट कर रहा हूं।"

"कहो। मुझे तुम्हें टोकना नहीं चाहिए था।"

"महाराज, आप जिस सत्कार्य का बीड़ा उठाए हुए हैं, वह सम्पन्न हो जाएगा। पहले भी पचासों महापुरुषों ने नानाविध सद्कार्यों का अनुष्ठान किया है। समय उन्हें पचा गया। आपके द्वारा किए गए कार्य की भी यही दशा होगी। मैं सोचता हूं कि इस दशा में ऐसे उद्यम की क्या आवश्यकता है ?"

स्वामीजी हंसे—"जन्म से ही अविवेकी मानव इस जाल में फंसा हुआ है।

अरे ! जीवन बहुत छोटा है यदि किसी कार्य के लाभालाभ का विचार करते रहे, तो जीवन व्यर्थ गंवा दोगे। हमारा कार्य तो केवल सत्कार्य किए जाना है....फलाफल की चिन्ता करने के लिए ईश्वर हैं। तेरी दृष्टि में जो सत्य है, उसे बिना शंका के तुरन्त कर डाल।"

गन्तव्य आ चुका था। स्वामीजी के दर्शनाभिलाषी हर्षित हो उठे। स्वामीजी अपने नियत कक्ष में पहुंचे और भक्तों से बातचीत करने में मग्न हो गए। शरच्चन्द्र, गुडविन के साथ बैठकर स्वामीजी की विदेश यात्रा के सम्बन्ध में चर्चा करने लगा।

स्वामीजी का कार्यक्रम दिन भर अति व्यस्त रहा। दिन ढलने से पूर्व गुडविन और शरच्चन्द्र को एकान्त दिखा और उन्होंने अवसर का लाभ उठाया। गुडविन ने बात शुरू की—"स्वामीजी, उपनिषदों में सबसे अच्छा ग्रन्थ कौन-सा है ?"

"कठोपनिषद् सबसे सुन्दर ग्रन्थ है। हमें नचिकेता के समान श्रद्धा, साहस, सुविचार और त्याग तथा वैराग्य से अपने जीवन को परिपूर्ण करना चाहिए।"

"इसके लिए क्या बाहर की सहायता की जरूरत नहीं है, महाराज ?" शरच्चन्द्र ने सवाल किया।

"कोई किसी को क्या दे सकता है। बीज की शक्ति से वृक्ष बनता है। जल और वायु उसके सहायक होते हैं।"

"गुरु कृपा तो आवश्यक है ?" गुडविन ने प्रश्न खड़ा किया।

"गुरु एवं अन्य हितैषियां की कृपारूपी वायु धारा सर्वदा बहती रहती है, पाल तो कोई उठाए। ईश्वर ने आत्मानुभूति के लिए सभी को अवसर दिया है, क्योंकि सभी ब्रह्म हैं। जरूरत है पाल उठाने की और आत्मानुभूति हेतु व्याकुलता की। यह जितनी बढ़ेगी, ब्रह्मप्रकाश के पथ के बादल उतने ही छंटेंगे। मनुष्य की आत्मा को यही बादल ढके रहते हैं, अन्यथा वह तो प्रखर सूर्य के समान हमेशा चमकती रहती है। मैं यह बातें केवल ग्रन्थों या अपने ज्ञान के आधार पर नहीं कह रहा हूं अपितु इन्हें मैंने अनुभूत किया है। आज हमारी मुख्य आवश्यकता कुरुक्षेत्र के कृष्ण बनने की है। चारों ओर भयानक कोलाहल है, विद्रूपताएं हैं, असमानताएं हैं। ऐसी दशा में वृंदावन वाला लीलामय कृष्ण जैसा व्यक्तित्व सफल नहीं हो सकता। हमें कुरुक्षेत्र वाले कृष्ण जैसा स्थिर, गम्भीर व शान्त व्यक्तित्व धारण करना होगा और लोगों को स्वधर्म की ओर उत्साहित करना होगा। आज वंशीधारी कृष्ण की नहीं अपितु गीता के सिंह नादकारी श्रीकृष्ण, धनुर्धरी राम तथा कालीमाई की पूजा की जरूरत है।"

"गुरुदेव, वर्तमान में मनुष्य तमोगुणी हो गया है। वे धर्म की रट लगा रहे हैं, पर हैं अधिकांश उन्मादग्रस्त व विकृत मस्तिष्क वाले लोग। इनसे राष्ट्र के लोगों

का क्या भला होगा ?" शरच्चन्द्र ने पीड़ायुक्त स्वर में पूछा।

"ये राष्ट्र के लोगों का भला नहीं कर रहे हैं। ये तो इस जीवन में दासत्व और पर जीवन में नरक के याचक हैं।"

चर्चा चल रही थी कि कुमारी मूलर आई और स्वामीजी से कुछ बातें करके ऊपर की मंजिल में चली गईं। स्वामीजी ने कहा—"देखो, इसे कहते हैं धर्म की ओर उन्मुख होना। यह एक धनवान की बेटी है पर धर्म लाभ के लिए, उसके गूढ़तम संदेशों को समझने के लिए भारत चली आई। मैं भारत में ऐसे ही लोगों की तलाश में हूं।" काफी समय हो गया था सो शरच्चन्द्र स्वामी विवेकानन्दजी से विदा लेकर पैदल ही कलकत्ते की ओर लौट पड़ा।

कलकत्ते के पंडितों में स्वामीजी के कथनों से हलचल मची हुई थी। वे भयाक्रांत थे कि स्वामीजी धर्म की जो व्याख्या कर रहे थे, उससे उन्हें हानि होगी। वे नहीं चाहते थे कि धर्म पर से सदियों की पड़ी धूल को साफ किया जाए। धर्म की झूठी व्याख्याएं यद्यपि मान्यता प्राप्त कर चुकी थीं, किन्तु समय-समय पर कुछ युग पुरुषों ने इन मान्यताओं के विरुद्ध जेहाद भी किया था, झूठी मान्यताओं और अन्ध विश्वासों की परतों को उघाड़ा था। ऐसे काल को कठमुल्ला लोगों ने सदा विपत्ति काल कहा है; और धर्म के नाम पर एक होकर अपने सभी वैर-भाव ताक पर रखकर लोगों को यह समझाने की कोशिश की है कि धर्म संकटग्रस्त है।

इस समय में कलकत्ते में ऐसा ही हो रहा था। ये लोग जितना विरोध किया करते थे, उतनी ही स्वामीजी की शक्ति बढ़ती तथा उनका यश भारत में फैलता था। सभी पंडित लोग स्वामीजी के विरोध में हों, ऐसी बात नहीं थी, कुछ वेद मर्मज्ञ पंडित ऐसे भी थे जो स्वामीजी के कथनों एवं क्रियाकलापों को वेद सम्मत स्वीकार करते थे। ऐसे वेदज्ञों का छद्म जनेऊधारी गुप्त रूप से विरोध करते थे। ऐसे ही कुछ अवेदज्ञ पंडितों ने कलकत्ते के बड़े बाजार के वेदज्ञों के बीच सवाल उछलवाया कि वे जाकर स्वामी विवेकानन्द की परीक्षा लें। वेदज्ञ एवं दार्शनिक पंडितों ने निर्णय किया कि काशीपुर जाकर स्वामीजी को तोला जाए। वे एकत्रित होकर स्वामीजी के निवास स्थान पर आए और उनसे शास्त्रार्थ करने की इच्छा प्रकट की। स्वामीजी तत्काल राजी हो गए।

ये सभी पंडित धर्मानुरागी एवं संस्कृत के विद्वान थे। इनका संवाद स्वामीजी से संस्कृत में शुरू हुआ। पंडितों ने दर्शन शास्त्रों के कूट प्रश्न किए। स्वामीजी ने अविचलित होकर उनका उत्तर दिया। स्वामीजी के गुरुभाई भी इस शास्त्रार्थ सभा में उपस्थित थे। वे सभी स्वामी विवेकानन्दजी को धारा प्रवाह संस्कृत बोलते देख

विस्मित थे। वेदज्ञ पंडितों को भी यह आशा नहीं थी कि लगभग छः वर्ष यूरोप में व्यतीत करने वाला तथा प्रारम्भ में देववाणी का अ ब स न जानने वाला कोई व्यक्ति संस्कृत भाषा पर इतना अधिकार रख सकता है।

शास्त्रार्थ के मध्य एक बार स्वामीजी से चूक भी हुई। वे एक बार 'अस्ति' के स्थान पर 'स्वस्ति' का प्रयोग कर बैठे। पंडितगण उनकी अशुद्धि पर हंसे। लेकिन स्वामीजी तत्काल बोले—**'पण्डितानां दासोऽहं क्षन्तव्यमेतत् स्खलनम्।'** स्वामीजी की इस नम्रता को देख, पंडितों की हंसी रुक गई। वे लोग स्वामीजी के सिद्धान्त पक्ष की मीमांसा की अपेक्षा अपने पूर्वपक्ष पर स्थिर थे। उनमें से एक वृद्ध पंडित ने कहा—'स्वामीजी, आपको व्याकरण का गम्भीर ज्ञान नहीं है। लेकिन शास्त्रों के गूढ़ अर्थों को आप समझते हैं। आपकी मीमांसा अद्‌भुत है तथा वाद खंडन में आपको पांडित्य हासिल है।' सभी पंडितगण संतुष्ट होकर विदा लेकर प्रीतिपूर्वक चले गए। स्वामीजी उन्हें विदाई देने बाहर तक आए। जैसे ही स्वामीजी अपने कक्ष में लौटे तो उनके गुरुभाई तुरीयानन्द बोल पड़े—"भाई, रामकृष्णानन्द एकान्त में जप कर रहे हैं। उन्हें तो उठा लाइए।"

"क्यों ? वह जप में मग्न क्यों हैं ? आप सभी तो मेरे सम्मुख थे।"

"वे शास्त्रार्थ शुरू होने से पूर्व ही जप में बैठ गए थे। इसका कारण तो वे ही बता पाएंगे।" स्वामीजी के गुरुभाई योगानन्द बोले।

स्वामीजी ने रामकृष्णानन्द को आवाज दी। कुछ उपरान्त वे प्रकट हुए। स्वामीजी ने मुस्करा कर कहा—"शिवानन्द, निर्मलानन्द, योगानन्द आदि सभी शास्त्रार्थ का लाभ उठा रहे थे, पर आप एकान्तवास में चले गए ?"

"आपके विजयार्थ जप कर रहा था।"

"इसका अर्थ यह हुआ कि आपको अपने सामर्थ्य पर विश्वास नहीं है।"

"नहीं, ऐसी बात नहीं है। लेकिन प्रिय के लिए शुभ कामना भी आवश्यक है।"

रामकृष्णानन्द के उत्तर पर स्वामीजी तुरीयानन्द हंसे और बोले—"स्वामीजी, इसका कोई उत्तर है आपके पास ?"

स्वामी विवेकानन्द बोले—"नहीं, इसका कोई उत्तर नहीं है। लेकिन फिर भी ऐसे वाद-विवाद के समय उपस्थित रहना लाभदायक होता है। इससे ज्ञान बढ़ता है। आप लोगों ने अनुभव किया होगा कि पंडितगण पूर्व मीमांसा पर अटल थे। वे इस मीमांसा में निष्णात थे। मैंने उत्तर-मीमांसा का आश्रय लेकर ज्ञानकांड को श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयत्न किया। शास्त्रार्थ के समय ध्यान रखना चाहिए कि विषय पर अधिक-से-अधिक पकड़ हो। हमें भाषा की अल्प त्रुटियों पर ध्यान नहीं देना चाहिए।

वह तो स्वयंमेव शुद्ध हो जाती हैं। आप लोग भी देववाणी में अधिक-से-अधिक संवाद करें। इसमे अपनी सभ्यता के प्रति आपका मोह जाग्रत होगा।"

"सभ्यता किसे कहते हैं ?" योगानन्दजी ने सवाल किया।

"आप सभ्यता किसे समझते हैं ?" स्वामीजी ने प्रश्नाकुल योगानन्दजी से पूछा।

"चहुंमुखी विकास करके जीवन को सुखी एवं समृद्ध बनाने वाली बातें ही सभ्यता है।"

"केवल यही सभ्यता नहीं है। मात्र ऐसी सभ्यता कालान्तर में जीवन को क्लेशपूर्ण बना देगी। मेरी दृष्टि में जो जाति या समाज आध्यात्मिकता के क्षेत्र में भी उत्थान करे, वही सभ्य कहलाएगी। सभ्यता में आध्यात्मिकता का समावेश होना अत्यावश्यक है। आप देख सकते हैं कि प्राचीन भारतीय सभ्यता में आध्यात्मिकता का बोलबाला था। मैं इसी कारण प्रयासरत् हूं कि भारत पश्चिमी देशों को आध्यात्मिकता दे और उनसे भौतिक विकास का मूलमंत्र लेकर सर्वसाधारण के जीवन को पूर्ण समृद्ध बनाए।"

"आध्यात्मिक भाव को उच्च कोटि तक पहुंचाने के लिए भाव समाधि या निर्विकल्प समाधि तक पहुंचना जरूरी है। इनमें क्या अन्तर है ?" स्वामीजी निर्मलानन्दजी ने सवाल किया।

अपने गुरुभाइयों के प्रश्नों से स्वामीजी को प्रसन्नता हुई। उन्हें अपने गुरुदेव श्रीरामकृष्णदेव की याद आई। वे भी गुरुदेव से इसी प्रकार प्रश्न पर प्रश्न पूछा करते थे। उन्होंने अपने को लौटाया और पुनः अपनी वाणी मुखरित की।

"मान लो, कोई साधक हनुमानजी जैसी भक्ति भाव से साधना कर रहा है। उसका यह भाव जितना प्रबल होगा, उतना ही प्रभाव उसकी चाल-ढाल और शरीर के गठन पर भी पड़ता है। यहां तक कि वह अपने भावानुसार आकार भी परिवर्तित कर लेता है। यह भाव की चरमावस्था है। इसे ही भाव-समाधि कहा जाता है। निर्विकल्प समाधि वह कहलाती है, जब कोई ज्ञानी साधक—मैं शरीर नहीं हूं, मन नहीं हूं, बुद्धि नहीं हूं आदि नेति नेति करते हुए चिन्मय सत्ता मे अवस्थान करते हैं। इस प्रकार के किसी एक भाव को ग्रहण कर उसकी सिद्धि होने में या उसकी चरम अवस्था पर पहुंचने में कई जन्मों की चेष्टा की आवश्यकता होती है। हमारे गुरुदेव श्रीरामकृष्णदेव अट्ठारह भिन्न-भिन्न भाव समाधियों के अधिराज थे। वे साक्षात् ब्रह्मज्ञ थे।"

"ऐसे ही लोग देश व समाज का भला कर सकते हैं।" तुरीयानन्दजी बोले।

"भाई, यदि किसी भी एक जीव में ब्रह्म का विकास हो जाए तो वह सहस्रों मनुष्यों को रोशनी दिखा सकता है। ऐसे ही ब्रह्मज्ञ लोकगुरु हो सकते हैं।"

"और सब ठीक है, पर एक बात समझ में नहीं आई।" रामकृष्णानन्दजी बोले।

"अब कौन-सी बात शेष रह गई है ?" स्वामीजी ने उपहास में पूछा।

"आपने पाश्चात्य देशों में श्रीरामकृष्णदेव को अवतार के रुप में प्रचारित क्यों नहीं किया ?"

"पाश्चात्य देशों के लोग दर्शन और विज्ञान पर आस्था रखते हैं। वहां किसी भी विषय की प्रतिष्ठा तभी होगी जब युक्ति, विचार, दर्शन और विज्ञान के माध्यम से सिद्ध काम किया जाए। मैं यदि पहले से ही अवतारवाद की बात करता तो वे बोल उठते कि आप नई बात क्या सिखाते हैं ? हमारे प्रभु ईसा भी तो अवतार थे। श्रीरामकृष्णदेव के निमित्त बात करने जो भी मेरे पास आया, उससे मैं उनके अवतार होने की बात किया करता था।"

"महाराज, अपने इसी बुद्धि कौशल से आप वहां सफल हुए अन्यथा अपनी धरती पर कौन विजातीय पौधा लगाने देगा ?" योगानन्दजी ने कहा।

संवाद समाप्त हुआ। स्वामीजी कक्ष की ओर बढ़ गए। करीब एक सप्ताह इसी प्रकार की नाना स्वाध्याय के लिए दूसरे कक्ष की ओर बढ़ गए। करीब एक सप्ताह इसी प्रकार की (नाना प्रकार की) चर्चाओं में निकल गया। स्वामी विवेकानन्द शिष्यों एवं गुरुभाइयों व अन्य उत्सुकजनों से अलग-अलग प्रकार की चर्चा करते। लेकिन उनका उद्देश्य यही होता था कि प्रत्येकजन धर्म की ओर उन्मुख हो और आडम्बरों से परिचित हो।

वे गुरुभाइयों से गहन चर्चा करते और उनकी जिज्ञासाओं का सही समाधान प्रस्तुत करते। उनका प्रयास रहता कि वे उनके गुरुज्ञान से संकोचित न हों और खुल मन से अपनी हृदय की बात प्रकट करें। उन्हें अपने भक्तगणों की हार्दिक मांग का भी ध्यान रहता था। यदि श्रीरामकृष्णदेव ने निमित्त कोई कार्य हो रहा हो तो वे व्यस्त रहते हुए भी अपनी स्वीकृति प्रदान कर देते थे।

श्रीरामकृष्णदेव के एक भक्त नवगोपाल घोष भी थे। घोष उनमें अथाह श्रद्धा रखते थे। उन्होंने भागीरथी के पश्चिमी तट पर रामकृष्णपुर में अपनी एक नई हवेली बनाई थी। इस गांव में हेवली बनाने का उनका मुख्य उद्देश्य यही था कि इसके नाम की सामंजस्यता श्रीरामकृष्णदेव से थी।

भव्य हवेली बनकर तैयार थी। सुयोग ऐसा बैठा कि स्वामी विवेकानन्द विदेश

से स्वदेश आ चुके थे। नवगोपाल घोष की प्रसन्नता की सीमा न थी। वे इस सुयोग को श्रीरामकृष्णदेव का वरदान मान रहे थे। वे प्रसन्न वदन स्वामीजी के पास पहुंचे और उनसे अनुनय की कि वे अपने कर कमलों द्वारा हवेली में श्रीरामकृष्णदेव की मूर्ति की स्थापना करें। उन्होंने मठ के सभी सन्यासियों और गृहस्थ भक्तजनों को हवेली में पधारने का निमंत्रण दिया।

स्वामीजी विवेकानन्द ने आत्मीयता से घोष द्वारा दिया गया निमंत्रण स्वीकार कर लिया। घोष खुशी से घर लौटे और पत्नी को यह सुखद समाचार दिया। पत्नी की प्रसन्नता का भी पारावार न था।

अन्ततः उत्सव का दिन आ गया। हवेली को ध्वजा और पताकाओं से सजाया गया। प्रवेश द्वार पर पूर्ण घट स्थापित किए गए और कदली स्तम्भ, देवदार के पत्तों से बने तोरण, आम की पत्तियों व कुसुम मालाओं की वन्दनवार से हवेली का रूप दमक रहा था। सम्पूर्ण गांव श्रीरामकृष्णमय दृष्टिगत हो रहा था।

स्वामी विवेकानन्द श्रीरामकृष्णदेव की स्मृतियों को साथ लिए बालब्रह्मचारियों, सन्यासियों एवं भक्तगणों के साथ रामकृष्णपुर के घाट पर उतरे और हवेली की ओर बढ़े। मार्ग के दोनों ओर खड़े लोग श्रद्धा से इनका दर्शन कर रहे थे। स्वामीजी सिर पर पगड़ी पहले और गेरुए वस्त्र धारण किए हुए नंगे पैर चल रहे थे। वे अपने सुमधर कंठ से गायन कर रहे थे। उन्हीं पंक्तियों को उनके पीछे चलने वाले ब्रह्मचारीगण एवं सन्यासी व भक्तगण दोहराते हुए गा रहे थे। गांव का वातावरण दैवीय हो रहा था। दर्शनार्थी इन सबके पीछे चल रही मंडली के मृदंग और नृत्य तथा गायन के एक सुर व लय से अभिभूत हो रहे थे। स्वामीजी की अति साधारण वेशभूषा देखकर वे चकित थे और आपस में पूछते थे—'क्या सबसे आगे प्रेमानन्द में चलने वाले पगड़ीधारी ही स्वामी विवेकानन्द हैं ?' कहीं से दूसरी आवाज उभरती—'अरे ! ये तो मृदंग बजाने लगे।' कुछ आगे से तीसरी ध्वनि कौंधती—"देखो ! देखो ! कैसे आनन्दमग्न होकर नाच रहे थे।"

जैसे ही ये लोग नवगोपाल के घर के द्वार पर पहुंचे, वैसे ही अन्दर से शंख की ध्वनि गूंज पड़ी और घड़ियाल बजने लगे। घोष आदर से स्वामीजी तथा अन्य सभी को ऊपरी मंजिल पर ठाकुर घर दिखाने के लिए ले गए। स्वामीजी धवल संगमरमर के मन्दिर में सिंहासन पर बिरोज। वे श्रीरामकृष्ण की दिव्य मूर्ति को देखकर भाव विह्वल हो गए और खुशी में अश्रुपात करने लगे।

नवगोपाल घोष की पत्नी ने कई महिलाओं के साथ आकर स्वामीजी को प्रणाम किया और भावोद्रेक होकर बोलीं—"गृह छोटा और धन सामान्य है। लेकिन हमारी

विपन्नता को न देख, स्वामीजी; आप आज श्रीगुरुदेव की प्रतिष्ठा कर हमें कृतार्थ कीजिए ताकि हमें श्रीगुरुदेव की सेवा का अधिकार मिल सके।"

स्वामीजी हास्य करते हुए बोले—"आपके गुरुदेव ने गांव की फूस की झोंपड़ो में दिन काटे हैं। वे श्वेत संगमरमर के मन्दिर में न बिराजेंगे तो फिर कहां जाएंगे ? आपकी उत्तम भावना देखकर मैं खुश हूं।"

उनकी हास्ययुक्त बात सुनकर सभी मुस्करा उठे। स्वामीजी ने स्वामी प्रकाशानन्दजी को अपने सम्मुख बैठने का इशारा किया और मंत्रादि का उच्चारण करके श्रीरामकृष्णदेव का आह्वान करने लगे। सभी लोग भाव-विभोर होकर की जा रही पूजा-अर्चना में भाग ले रहे थे। पूजा सम्पन्न हुई, आरतो का शंख व घंटा बजा। अन्त में एक शिष्य ने श्रीरामकृष्णदेव के स्तोत्र पाठ किया। इसके उपरान्त भोजन हुआ और सांयकाल में सबकी विदाई। स्वामीजी भी बागबाजार लौट पड़े।

स्वामी विवेकानन्द का यश निरन्तर बढ़ता जा रहा था। उनके पास बंगाल व भारत के अन्या राज्यों से निमंत्रण आने लगे। वे पूर्व में भारत भ्रमण कर चुके थे और सभी लोगों को ज्ञात था कि वे धर्म विजय हेतु अमेरिका व इंग्लैंड गए हैं; तथा विजय प्राप्ति के बाद अब स्वदेश लौट आए हैं। उनकी धीर-गम्भीर वार्णा सुनने के लिए सभी उत्सुक थे। लेकिन कलकत्ते के लोगों के बीच वे इतने व्यस्त थे कि अभी बाहर जाने की सोच भी नहीं सकते थे।

28 फरवरी, 1897 को कलकत्ता निवासियों ने शोभा बाजार के सर राजा राधाकान्त देव के विशाल प्रसाद के प्रांगण में स्वामीजी का अभिनंदन किया। स्वामीजी को यह देखकर प्रसन्नता हुई कि सैकड़ों लोगों में युवा वर्ग का आधिक्य है। उन्होंने अपने अभिनंदन का उत्तर देते हुए कहा—"मैं आप लोगों के मध्य सन्यासी के रूप में या धर्म प्रचारक की हैसियत से नहीं आया हूं। मैं तो कलकत्ते के बालक के रूप में आपके सामने प्रस्तुत हुआ हूं। मेरी इच्छा होती है कि आज इस नगर के रास्तों की धूल पर बैठकर बालक की तरह सरल अन्तःकरण से आपसे अपने मन की बात खुलकर कहूं।....

मैं कहीं भी रहा हूं, मेरे कानों में एक ही स्वर गूंजता रहा है—जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयती....मैं शिकागो धर्म महासभा का उद्देश्य लेकन नहीं गया था।

मैं पाश्चात्य देश के लोगों से भ्रातृत्व भावना पैदा करने तथा उन्हें समझने गया था....पश्चिमी देशवालों की धारणा में आध्यात्मिकता तथा नैतिकता सांसारिक उन्नति के साथ चिरसंशलिष्ट है। ये जब कभी भारत आते हैं और यहां दुःख, दारिद्रय, देखते

हैं तो निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि इस देश में धर्म और नैतिकता नहीं टिक सकती। लेकिन मेरा अनुभव है कि भारत में जो जितना निर्धन है, वह उतना ही अधिक साधु है। इसे जानने के लिए समय की जरूरत है। केवल भारत ही एक ऐसा देश है जहां ऐसी जाति का वास है जिसके निकट गरीबी का मतलब अपराध नहीं लगाया जाता बल्कि उसे ऊंचा स्थान दिया जाता है। यहां निर्धन सन्यासी को सबसे ऊंचा स्थान मिलता है। ऐसा ही पश्चिमी देशों के विषय में भी बात है। उनके भी कुछ पहलू श्रेष्ठ हैं। इन्हें जानने के लिए धैर्यपूर्वक अध्ययन की आवश्यकता है।....

आपने मेरे हृदय के एक दूसरे तार को भी छेड़ा है। यह मेरे हृदय का सबसे कोमल तार है। श्रीरामकृष्णदेव मेरे गुरुदेव, आचार्य, जीवनादर्श, इष्ट एवं प्राणों के देवता हैं। मैं जो कुछ हूं और जो कर रहा हूं, इसमें मेरा कुछ भी नहीं है....सब गुरुदेव का है। लेकिन यदि कभी कोई अनुचित कार्य मुझसे हुआ हो तो वह मेरा है। मैंने जो जीवन अपनी आंखों से देखा है, जिसकी छाया में मैं रह चुका हूं, जिनके चरणों पर बैठकर मैंने सीखा है, उन श्रीरामकृष्णदेव का जीवन जैसा उज्जवल और महिमान्वित है, वैसा मेरे विचार में किसी महापुरुष का नहीं।....

मेरा कहने का तात्पर्य है कि किसी महान और आदर्श पुरुष का विशेष अनुरागी बनकर उनके झंडे के नीचे खड़े हुए बिना कोई भी राष्ट्र ऊंचा नहीं उठ सकता। यदि यह राष्ट्र ऊंचा उठना चाहे तो मैं ऊंचे स्वर में घोषित करता हूं कि श्रीरामकृष्णदेव के नाम पर हम सबको मतवाला बनना होगा।....

इसके साथ एक बात और तुम्हें समझनी होगी। आज आध्यात्मिकता की बाढ़ के प्रबल वेग से आने के पहले समाज में कुछ छोटी-छोटी तरंगे उठती दीख पड़ती हैं। इन्हीं में से एक अज्ञात, अनजान, अकल्पित तरंग आती है, क्रमशः प्रबल होती है; और मानो कि यह दूसरी छोटी-छोटी तरंगों को अपने में मिला लेती है। इस तरह यह अत्यंत विपुलाकार और प्रबल होकर एक बहुत बड़ी ऐसी बाढ़ के रूप में समाज पर वेग से गिरती है कि कोई उसकी गति को नहीं रोक सकता। इस समय भी ऐसा ही हो रहा है। यदि आपके पास आंखें हैं, तो आप उसे अवश्य देखोगे। यदि आपका हृदय द्वार खुला है, तो आप उसको अवश्य ग्रहण करोगे। यदि आपमें सत्यान्वेषण की प्रकृति है, तो तुम उसे अवश्य प्राप्त करोगे। अन्धा, बिलकुल अन्धा है वह, जो समय के चिह्न नहीं देख रहा है, नहीं समझ रहा है। क्या आप नहीं देखते हो वह निर्धन ब्राह्मण बालक (श्रीरामकृष्णदेव) जो दूर गांव में जन्मा था, इस समय पूरे गांव में पूजा जा रहा है। उसे वे भी पूज रहे हैं जिन्होंने शताब्दियों से मूर्तिपूजा के विरोध में आवाज उठाई थी। यह किसकी शक्ति है ? यह आपकी शक्ति है या मेरी ? नहीं,

यह और की शक्ति नहीं है। यह वही शक्ति है जो श्रीरामकृष्णदेव के रूप में आविर्भूत हुई है। मैं, आप, साधु, महापुरुष यहां तक कि अवतार और सम्पूर्ण ब्रह्मांड भी न्यूनाधिक रूप में उसी पूंजीभूत शक्ति की लीला मात्र हैं।....

श्रीरामकृष्णदेव का प्रचार हम, आप या चाहे जो कोई करे, इससे प्रयोजन नहीं। आपके सामने मैं इस महान आदर्श पुरुष को रखता हूं। इस पर विचार करने का भार अब आपका है।....

आज संसार सर्वांगीण सभ्यता की अपेक्षा कर रहा है। शत-शत शताब्दियों की अवनति, दुःख और दुर्भाग्य के भंवर में पड़कर भी हिन्दू जाति अपने उत्तराधिकार में प्राप्त धर्मरूपी मूल्य रत्नों को यत्नपूर्वक अपने हृदय से लगाए हैं, उन्हीं रत्नों की आशा में संसार उनकी ओर आग्रह भरी दृष्टि से निहार रहा है। आपके पूर्वजों के इन्हीं अपूर्व रत्नों के लिए भारत से बाहर के मनुष्य किस तरह उद्ग्रीव हो रहे हैं, यह मैं तुम्हें कैसे समझाऊं ? यहां हम अनर्गल बकवास किया करते हैं। आपस में झगड़ते रहते हैं, श्रद्धा के जितने विषय गम्भीर हैं, उन्हें हंसकर उड़ा देते हैं, यहां तक इस समय प्रत्येक पवित्र वस्तु को हंसकर उड़ा देने की प्रवृत्ति एक राष्ट्रीय दुर्गुण हो गई है। इसी भारत में हमारे पूर्वज जो संजीवक अमृत रख गए हैं, उसका एक कण मात्र पाने के लिए भारत से बाहर के लाखों लोग कितने आग्रह के साथ हाथ फैलाए हुए हैं, यह हमारी समझ में भला कैसे आ सकता है ?....

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत....उठो, जागो, जब तक अभीप्सित वस्तु को प्राप्त नहीं कर लेते, तब तक बराबर उसकी ओर बढ़ते जाओ। कलकत्ता निवासी युवको ! उठो, जागो, शुभ मुहूर्त्त आ गया है। सब चीजें अपने आप तुम्हारे सामने खुलती जा रही हैं। हिम्मत करो और डरो मत। केवल हमारे ही शास्त्रों में ईश्वर के लिए 'अभीः' विशेषण का प्रयोग किया गया है। हमें 'अभीः' निर्भय होना होगा, तभी हम अपने कार्य में सिद्धि प्राप्त करेंगे। उठो, जागो, तुम्हारी मातृभूमि को इस महाबलि की आवश्यकता है। इस कार्य की सिद्धि युवकों से ही हो सकती है। 'युवा. शिष्ठ, द्रढ़िष्ठ, बलिष्ठ, मेधावी....ऐसे ही युवकों के लिए यह कार्य है। ऐसे सैकड़ों युवक कलकत्ते में हैं।....

आप में से जिन लोगों ने उपनिषदों में सबसे अधिक सुन्दर कठोपनिषद् का अध्ययन किया है, उन्हें स्मरण होगा कि किस तरह राजा ने एक महायज्ञ का अनुष्ठान किया था। यज्ञोपरांत उन्होंने दक्षिणा के निमित्त अच्छी-अच्छी चीजें न देकर अनुपयोगी गायें और घोड़े दे रहे थे। कथा के अनुसार उसी समय उनके पुत्र नचिकेता के हृदय में श्रद्धा का आविर्भाव हुआ। मैं आपके लिए इस 'श्रद्धा'

शब्द का अंग्रेजी अनुवाद नहीं करूंगा क्योंकि वह गलत होगा। अर्थ की दृष्टि से समझने के लिए यह एक अद्‌भुत शब्द है; और बहुत कुछ इसके समझने पर निर्भर करना है। हम देखेंगे कि यह किस तरह फल देने वाली है। श्रद्धा के आविर्भाव के साथ ही हम नचिकेता को आप ही आप बातचीत करते हुए देखते हैं—'मैं बहुतों से श्रेष्ठ हूं, कुछ लोगों से छोटा भी हूं, परन्तु कहीं भी ऐसा नहीं हूं कि मैं सबसे छोटा होऊं, अतः मैं कुछ भी कर सकता हूं।' उसका यह आत्मविश्वास और साहस बढ़ता गया और जो भी समस्या उसके मन में थी, उस बालक ने उसे हल करना चाहा।....यह समस्या मृत्यु विषयक थी। इसकी मीमांसा यम के घर जाने से ही हो सकती थी। सो वह बालक वहीं गया। निर्भीक नचिकेता यम के घर जाकर तीन दिन तक प्रतीक्षा करता रहा और तुम जानते हो कि उसने किस तरह अपना अभीप्सित पूरा किया।

हमें जिस चीज की आवश्यकता है, वह वही श्रद्धा है। दुर्भाग्यवश भारत में इसका लोप हो गया है; और यही हमारी दुर्दशा का कारण भी है। इस श्रद्धा के भेद से ही मनुष्य और मनुष्य में अन्तर पाया जाता है। यह श्रद्धा ही है जो एक मानव को बड़ा और दूसरे को छोटा बनाती है। हमारे गुरुदेव कहा करते थे, जो अपने को दुर्बल सोचता है, वह दुर्बल ही हो जाता है। इस श्रद्धा को तुम्हें पाना ही होगा। आप लोग पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा प्राप्त की हुई भौतिक शक्ति को देख रहे हो। यह इस श्रद्धा का ही फल है, क्योंकि वे अपने दैहिक बल के विश्वासी हैं। आप यदि अपनी आत्मा पर विश्वास करो तो वह कितना अधिक कारगर होगा?....द्वैतवादी हो, चाहे विशिष्ट द्वैतवादी हो, सभी का दृढ़ विश्वास है कि आत्मा में सम्पूर्ण शक्ति अवस्थित है, केवल उसे व्यक्त करना होता है। इसके लिए हमें श्रद्धा की जरूरत है। हमारे राष्ट्रीय खून में एक प्रकार से भयानक रोग का बीज समा रहा है, और वह है प्रत्येक विषय को हंसकर उड़ा देना। इस रोग का सम्पूर्ण रूप से त्याग करो।

....पिछले दस वर्षों में मैंने सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया है। इससे मेरी दृढ़ धारणा हो गई है कि बंगाल के युवकों के भीतर से ही उस शक्ति का प्रकाश होगा, जो भारत को उसके आध्यात्मिक अधिकार पर फिर से प्रतिष्ठित करेगी।....आओ, मेरे साथ, और संकल्प करो जीवन के बलिदान का उनके लिए, जो दुःखी, पतित व उत्पीड़ित हैं। आप समग्र जीवन भर इन तीस करोड़ भारतवासियों के उद्धार का व्रत ग्रहण करो जो दिन प्रति दिन डूब रहे हैं।"

बंगाली नवयुवकों ने इस प्रकार का संवाद पहली बार सुना। यह सही बात थी कि उन्हें देश व जाति, आजादी या गुलामी, वेद और अवेद से कुछ लेना-देना

नहीं था। वे आराम पसन्द थे और ठाकुर सुहाती बातें पसन्द करते थे। स्वामीजी ने जिस दिशा की ओर इंगित किया था, वह निश्चित ही चुनौती भरी थी।

बंगाली युवक भावुक होते हैं। उन्हें कोई बहा ले जाने वाली शक्ति चाहिए। स्वामीजी इस तथ्य को जानते थे। वे यह भी जानते थे कि आज युवावर्ग को जो शिक्षा दी जा रही है वह आध्यात्मिकता से कटी हुई है और इसीलिए मूलभूत गुणों को उपजाने में असमर्थ है। इसमें परजनहितार्थ सोचने की शक्ति नहीं है, यह मात्र स्वार्थपरकता से लिपटी हुई है। अंग्रेज अपने शासन के हितार्थ एक निश्चित ढांचे में इसे जनता के सम्मुख परोस रहे हैं और जनता का सिरमौर बना प्रबुद्ध वर्ग तथा पांडित्य से सम्पन्न वर्ग चुप है। उसकी चुप्पी भारतीय युवा वर्ग को प्रमादी बनाए जा रही है।

स्वामीजी इस सुषुप्त युग धर्म को चेतन करना चाह रहे थे। वे केवल युवावर्ग को ही नहीं, अपितु अपने गुरुभाइयों व शिष्यों को भी झिंझोड़ रहे थे। उनके गुरुभाइयों में से कुछ ऐसे थे जो पुरानी लीक पर चलना पसन्द करते थे। स्वामीजी द्वारा प्रचारित सन्यास व कर्मयोग के नवरूपान्तरित आदर्श को वे मन से ग्रहण न कर पा रहे थे। वे तो ध्यान, तप आदि साधनों की सहायता से मुक्ति प्राप्त करना चाहते थे तथा इसी निमित्त सन्यास जीवन को अपनाए हुए थे। स्वामीजी ने उन्हें लताड़ा।

"क्या हम लोग इतने गए गुजरे हैं कि चिरपरिचित प्रथा का अनुसरण करते रहें। सांसारिक सुख-दुःख, उन्नति-अवनति की चिन्ता न करके क्या हम अपनी मुक्ति की चेष्टा में प्राण गंवा दें ? यह तो हमारी स्वार्थपरता हो जाएगी....इस मार्ग से यदि मुक्ति मिलती है तो ऐसी मुक्ति हमें नहीं चाहिए। देश के करोड़ों लोग भूख और अशिक्षा से जूझ रहे हैं....उनका चीत्कार यदि हम नहीं सुनेंगे तो कौन सुनेगा ? हमें युगधर्म के अनुकूल अपने को ढालना है। अपने गुरुदेव श्रीरामकृष्णदेव को मन्दिर व प्रतिमा की सीमा में नहीं बांधना है। उनका आदेश था, **'यत्र जीव तत्र शिव'** ....हमें इसी 'विराट' की पूजा की ओर अग्रसर होना है। प्राचीन संन्यासियों के समान गुफाओं व कुटियों में बैठकर आत्म साक्षात्कार की चेष्टा करना आज प्रासंगिक नहीं है। हमें संसार के कर्मक्षेत्र में खड़े होकर मानव को उच्च कार्यों की ओर उन्मुख करना होगा ताकि उनकी अज्ञानता व हृदय का अन्धकार दूर हो सके।

उन्होंने अपने गुरुभाइयों का आह्वान किया कि, उन्हें एक नवीन सन्यासी सम्प्रदाय की स्थापना करनी होगी जो मानव सेवा के व्रत में अपनी मुक्ति की कामना का परित्याग तो करेंगे ही, साथ ही आवश्यक हो तो नरक में जाने तक को तैयार

होंगे।"

वे सभी स्वामी विवेकानन्दजी का सम्मान करते थे और उनके पथ-प्रदर्शन में एकजुट होकर आगे बढ़ना चाहते थे। स्वामीजी चाहते थे कि उनके गुरुभाई स्वयं आगे बढ़ें। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि शशि (स्वामी रामकृष्णानन्द) दक्षिण भारत जाएं और अपनी विद्वता से उनके द्वारा रखी गई नींव को मजबूत करें। आलासिंगा तथा अन्य दक्षिण भारतीय भक्तों के साथ मिलकर मठ की स्थापना करके ठाकुर की छवि की स्थापना करें।

स्वामीजी ने शशि से कहा—"शशि, तुम वराहनगर मठ को त्यागने का मानस बना लो।"

"महाराज, ऐसा क्यों ? मैंने तो कभी एक दिन के लिए भी मठ छोड़ने की नहीं सोची। मेरे लिए ठाकुर को छोड़ना सम्भव नहीं है।"

"लेकिन ठाकुर कहां नहीं है। उन्हें इस मठ तक सीमित न करो। तुम्हें ठाकुर के निमित्त यह स्थान छोड़ना होगा। तुम्हें मद्रास जाना होगा। वहां मात्र तुम ही ठाकुर का कार्य कर सकते हो। मैं दक्षिण भारत के शिष्यों को वचन देकर आया था कि शीघ्र अपने एक गुरुभाई को उनके निकट भेजूंगा। तुम पूजा, शास्त्र, ज्ञान एवं ध्यान में अतुलनीय हो। मेरी दृष्टि में वहां के योग्य तुम ही हो। तुम अपने साथ सदानन्द (गुप्ता) को ले जाओ।"

शशि, स्वामीजी के अगाध विश्वास को तोड़ न सके। उन्होंने मद्रास जाकर 'आइस हाउस' को केन्द्र बनाया और भावधारा एवं वेदान्त प्रचार करने लगे। नए स्थान पर उन्हें शारीरिक, मानसिक व अर्थाभाव जनित क्लेशों को सहना पड़ा. पर वे इन बातों को अपने तक सीमित रखते थे। वे श्रीरामकृष्णदेव को समर्पित थे। उनका विचार था—'यह शरीर तो मात्र यंत्र है तथा उसमें भी अकिंचन, फिर यंत्री के लिए ही तो यंत्र है। यंत्री के निकाल लेने पर तो इसका रहना एवं न रहना दोनों समान हैं।'

वे कष्ट सहने के बाबत कहते—'जरा सोचो कि एक कलम यदि कहे कि मैं सौ-सौ पत्र लिखती हूं, तो क्या सचमुच वही लिखती है ? नहीं, लिखता तो वह आदमी है जो लेखनी को पकड़े हुए है।' उनके दर्शन ने दक्षिण भारतीय शिष्यों को मोह लिया।

स्वामी विवेकानन्दजी की प्रेरणा व दिशा निर्देश शिष्यों व गुरुभाइयों का मार्ग प्रशस्त करने लगे। वे कभी आलम बाजार मठ तो कभी काशीपुर के गोपाललाल शील के बाग में रहते। आलम बाजार का मठ जो कभी भूत भवन कहलाता था आज

संन्यासियों के सत्संग, साधन, भजन, जप, तपस्या, शास्त्र प्रसंग और नाम कीर्तन से गूंजता रहता था। कलकत्ते में स्थायी मठ के लिए बेलूड़ गांव में जमीन ले ली गई थी और वहां स्वामी ब्रह्मानन्द की देखभाल में मठ के भवन का कार्य चल रहा था।

इन दिनों स्वामीजी अपने शिष्यों के साथ श्रीरामकृष्णदेव के जन्मोत्सव मनाने की तैयारी में लगे हुए थे। गुरुभाई उन्हें कहते—'आप अधिक परिश्रम न करें। अपनी इच्छा व्यक्त करें, सब हो जाएगा।'

"भाई, निष्क्रिय होना तो मैंने सीखा ही नहीं है और फिर यह तो ऐसा कार्य है जिससे मैं अलग हो ही नहीं सकता।'

"महाराज, दक्षिणेश्वर का रानी रासमणि का काली मन्दिर इस निमित्त सजा दिया गया है। आपकी उपस्थिति सभी का उत्साहवर्द्धन कर रही है। श्रीरामकृष्ण के सेवकों, भक्तों ने सारा वातावरण जीवन्त कर डाला है। अब आपकी प्रतीक्षा वहां हो रही है।"

स्वामीजी गुरुभाइयों व कुछ शिष्यों को लेकर दक्षिणेश्वर पहुंचे। पहले से ही वहां सैकड़ों भक्त एकत्रित हो चुके थे। मन्दिर की दक्षिण दिशा में प्रसाद बन रहा था। कुछ गुरुभाई भक्तों को सम्मानपूर्वक यथास्थान बिठाने में लगे हुए थे।

ठीक समय पर स्वामीजी ने आकर जगन्माता को भूमिष्ठ होकर प्रणाम किया। उनके पीछे खड़े लोगों ने भी मां की वंदना की। इसके पश्चात् स्वामीजी ने श्रीराधाकान्तजी की प्रतिमा को प्रणाम किया और श्रीरामकृष्णदेव के वासगृह में प्रवेश किया। वहां तिल धरने की जगह भी न थी। कलकत्ते से लोग अभी तक जहाज और नावों से आए जा रहे थे और 'जय रामकृष्ण' का उद्घोष कर इस आनन्दोत्सव में एकाकार हो जाते। दक्षिणेश्वर में सभी उपस्थितजनों को आभास हो रहा था मानो उत्साह, आकांक्षा, धर्मपिपासा व अनुराग की छटा साक्षात देह धारण कर श्रीरामकृष्णदेव के भक्तों के रूप में चारों ओर अठखेलियां कर रही हैं।

इस उत्सव में कुमारी मूलर व श्रीमती सेव्हियर भी भाग ले रही थीं। स्वामीजी ने उन्हें पंचवटी व बिल्ववृक्ष दिखलाया। पंचवटी में श्रीरामकृष्णदेव के गृहस्थ भक्तजन उत्तर दिशा में गंगा की ओर मुंह किए बैठे थे। गिरीशचन्द्र घोष श्रीरामकृष्ण देव के कथा-प्रसंग सुन रहे थे। स्वामी विवेकानन्द चंचल बालक सदृश बोले—"अरे ! घोषजी यहां बैठे हैं।" उन्होंने गिरीशजी को नमस्कार किया।

"हां स्वामीजी; समय की धारा को देख रहा हूं। काल खंड को समझने का प्रयास कर रहा हुं। उस समय और इस समय की तुलना कर रहा हूं।"

"इसी में बुद्धिमानी है।" स्वामीजी हंसते हुए पंचवटी के उत्तर-पूर्वी दिशा की

ओर निकल गए। भक्त मंडली स्वामीजी की सौम्यता से प्रभावित हुई, उनमें से एक भक्त बोला।

"विद्वता की विशाल सौम्यता है। धन्य है बंग भूमि जिसने ऐसा लाल जन्मा।"

"रवि महाशय, यहां तो रोज लाल जन्मते हैं।" एक भक्त ने उपहास किया।

"अरे ! ये तो पत्थर हैं। बंग समाज की दशा तो देखो।"

यह संवाद आगे बढ़ता कि गिरीश बाबू ने हस्तक्षेप किया—"आलोचना से कोई लाभ नहीं होने का। प्रत्येक पर विश्वास रखो। मुझे याद है एक दिन हरिमोहन मित्र ने संवाद-पत्र में पढ़कर कहा था कि अमेरिका में स्वामीजी के नाम पर निन्दा प्रकाशित की गई है। मैंने तब कहा था कि यदि मैं अपनी आंखों से नेरन्द्र को कोई बुरा काम करते देखूं तो यह अनुमान करूंगा कि मेरी आंखों में विकार उत्पन्न हुआ है; और मैं अपनी आंखों को निकाल दूंगा। नरेन्द्र तो सूर्योदय से पहले निकाले हुए माखन सदृश स्वच्छ व निर्मल हैं। क्या वे संसार रूपी पानी में फिर घुल सकते हैं। उनमें जो दोष निकालेगा, वह नरक का भागी होगा।"

गिरीश बाबू की बातचीत चल रही थी कि स्वामी निरंजनानन्दजी आकर उनकी बातों में शामिल हो गए। उन्होंन भक्त मंडली को स्वामीजी की कालेम्बो से कलकत्ते तक लौटने की गाथा सुनाई और कहा—"गिरीशजी, आप ठीक कहत हैं। जन-जन उसे ही सिर आंखों पर बिठाता है जो गुणी हो।"

दक्षिणेश्वर में दो प्रहर बीते। कुमारी मूलर को आज इंग्लैंड लौटना था, सो वे विदा लेकर चली गईं। स्वामीजी ने अपने शेष पाश्चात्य भक्तों का परिचय स्थानीय भक्त मंडली से करवाया। तीसरे प्रहर उन्होंने स्वामी निरंजनानन्दजी तथा अन्य शिष्यों के साथ आलमबाजार मठ के लिए विदा ली। मार्ग में स्वामी विवेकानन्द शिष्यों से बोले—"गुरुदेव का जन्मोत्सव आनन्दपूर्ण रहा। मेरी समझ में किसी भी उत्सव का उद्देश्य यही होना है कि हमारे जिन भावों को अपने जीवन या कार्य में सफलता प्राप्त न हुई हो, वे उत्सवों से धीरे-धीरे फैलें। हिन्दुओं के बारह महीनों में कितने ही पर्व होते हैं, इन सबका यही उद्देश्य होता है।"

"लेकिन, ऐसा होता कम है। साधारण लोग तो केवल उत्सवों में ही मग्न हो जाते हैं। इनके पीछे छिपी भावना को समझने का प्रयास बहुत कम लोग करते हैं।" एक भक्त ने अपने विचार प्रकट किए।

"यह कार्य एकदम से नहीं हो सकते। ये उत्सव धर्म के बाहरी वस्त्र होते हैं जो कि समान धर्म के यथार्थ भावों को ढके रहते हैं। कुछ लोग इन यथार्थ भावों को जानने की जरूर कोशिश करते हैं। आज जो श्रीरामकृष्ण का जन्मोत्सव हुआ है,

इसमें जो लोग आए थे, उनके हृदय में श्रीगुरुदेव के विषय में जानने की इच्छा जरूर उत्पन्न हुई होगी। जिनके मन में ऐसे भाव न भी आए हों, वे वर्ष में एक बार तो भजन सुनने व प्रसाद पाने के निमित्त आएंगे ही। इससे उन्हें गुरुदेव के भक्तों के दर्शन तो होंगे, इससे उनका उपकार ही होगा।"

"लेकिन महाराज, मेरे मन में एक संशय है।" एक शिष्य बोला।

"क्या संशय है ?" स्वामीजी ने पूछा।

"कुछ लोग इस उत्सव और भजन-गान को ही धर्म का सार समझ बैठेंगे। हमारे देश में षष्ठी पूजा, मगंल चंडी पूजा आदि नित्य नैमित्तिक हो गई हैं। बहुत सारे लोग मृत्यु काल तक पूजा करते रहते हैं। लेकिन क्या आज तक इससे कोई ब्रह्मज्ञ हो पाया है ?"

"मेरा मानना है कि भारत में जितने धर्मवीरों ने जन्म लिया है, वे सब इन्हीं पूजाओं के आश्रय से आगे बढ़े हैं और ऊंची अवस्था को प्राप्त हुए हैं। वे इन्हीं पूजाओं का आश्रय लेकर साधना करते हुए आत्मदर्शन करते थे। उस समय उनका इन पर कुछ भी ध्यान नहीं रहता। लेकिन लोकसंस्थिति के लिए अवतार सदृश महापुरुष भी इन सभी पूजाओं को मानते हैं।"

"लेकिन महाराज, आत्मज्ञ पुरुष इस संसार को इन्द्रजालवत्, मिथ्या मानते हैं, तब इन बाहरी लौकिक व्यवहारों को वे कैसे सत्यभाव से स्वीकार कर सकते हैं; और उनके लिए इनका औचित्य भी क्या है ?"

"सत्य क्या है ? जिनको हम सत्य समझते हैं, वे भी तो देश, काल व पात्र के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं। इसी कारण आत्मज्ञों के अनुसार बाहरी लौकिक व्यवहारों का प्रयोजन है। श्रीरामकृष्ण कहते थे—माता किसी सन्तान को पुलाव पकाकर देती है, तो किसी को साबूदाना। यही बात बाहरी लौकिक व्यवहारों के विषय में भी है।"

मठ आ चुका था। शिष्यों की इस विषय में और चर्चा करने की इच्छा थी, किन्तु स्वामीजी की दिन भर की व्यस्तता को ध्यान में कर वे अपने निवास स्थलों को लौट गए।

स्वामीजी अपने निर्धारित कक्ष में आए और जमीन पर बिछी दरी पर बैठ गए। स्वामी निरंजनानन्द ने उनके क्लान्त मुख पर दृष्टि डाली व बोले—"महाराज, लगता है आज आपकी तबियत ठीक नहीं है ?"

"मैं दो-चार दिन से अस्वस्थता का अनुभव कर रहा हूं। आज तो पूरा शरीर टूट रहा है।"

"आप कहें तो वैद्यजी को सूचित करूं।"

"नहीं, आज लंघन लूंगा और आराम करूंगा। सुबह तक सब ठीक हो जाएगा।"

प्रातः स्वामीजी को तेज बुखार हो गया। शिष्यगण व गुरुभाई चिंतित हो उठे। वे आपस में परामर्श करने लगे।

"महाराज को कुछ दिन विश्राम करना चाहिए। अनेक वर्ष के कठोर परिश्रम ने उनके वज्र सदृश शरीर को क्षीण कर डाला है।"

"लेकिन, उन्हें विश्राम की कौन कहे। वे जब से भारत लौटे हैं, अपनी शारीरिक अस्वस्थता की परवाह किए बिना मठ के ब्रह्मचारियों व उन दीक्षित शिष्यों को गीता, उपनिषद् व भाष्य पढ़ाने में लगे हुए हैं।" स्वामी अद्भुतानन्द बोले।

"हम सभी उनसे निवेदन करें।"

गुरुभाइयों ने उनसे निवेदन किया। इनकी बात को डॉक्टर ने पुख्ता किया।

"स्वामीजी, आप कुछ दिन कलकत्ते को छोड़ दार्जिलिंग चले जाइए। आपको शारीरिक विश्राम से अधिक मानसिक विश्राम की आवश्यकता है। आप जितनी जल्दी इस विषय में निर्णय लेंगे उतनी जल्दी स्वस्थ होंगे।"

"बड़ी कठिन शर्त लगा दी डॉक्टर महाशय आपने।" स्वामीजी मुस्कराए।

अन्ततः निर्णय किया गया कि स्वामीजी के साथ सेवियर दम्पति, स्वामी ब्रह्मानन्द, गिरीशचन्द्र घोष, गुडविन, डॉक्टर टर्नबुल, आलासिंगा, जी॰जी॰ नरसिंहाचार्य और सिंगरावेलु मुदलीयर जाएंगे। गुरुभाई व अन्य प्रिय शिष्यगण भी साथ जाना चाहते थे पर स्वामी ब्रह्मानन्द ने टोक दिया।

"इस स्थिति में क्या महाराज विश्राम कर पाएंगे ? स्वामीजी तो वहीं अध्ययन और अध्यापन में जुट जाएंगे।"

पूर्व निर्णय के अनुसार स्वामी विवेकानन्द विश्राम के लिए दार्जिलिंग पहुंचे। वर्दवान के महाराजा बहादुर ने 'रोज बैंक' भवन के एक भाग को उनके विश्राम के लिए दे दिया। दार्जिलिंग के एम॰एम॰ बनर्जी ने स्वामीजी एवं उनके साथियों का आतिथेय पद ग्रहण किया।

दार्जिलिंग के स्वास्थ्यप्रद वातावरण में स्वामीजी रोज दूर-दूर तक घूमने जाते। पुरानी स्मृतियां उभरती, वे किंचित उसमें बहते व पुनः वापस लौट आते। उनके साथ बहुधा साथीगण रहते और धर्मचर्चा चलती रहती।

स्वामीजी के शिष्यगण व गुरुभाई उन्हें दार्जिलिंग इसलिए लाए थे ताकि वे निर्मुक्त होकर आराम कर सकें, किन्तु स्वामीजी की यह प्रकृति नहीं थी। उनका

चितंन चलता रहता। वे स्वामी रामकृष्णानन्द व सदानन्द की चिन्ता में थे। उन्हें मद्रास से पत्र द्वारा सूचना मिली थी कि सदानन्द (गुप्ता) को कुत्ते ने काट खाया है। उन्होंने तुरन्त गंगाधरजी को वहां दवा भिजवाने के लिए पत्र लिखा और एक पत्र स्थायी रामकृष्णानन्द को भी अलग से लिखा। उन्होंने स्वामी रामकृष्णानन्दजी को मद्रास में कार्य करने के लिए दिशा निर्देश भेजे। स्वामी विवेकानन्दजी का मानना था कि युवक-युवतियों के लिए राधाकृष्ण लीला विषयक शिक्षा विष तुल्य है। उन्होंने निर्देश दिया कि केवल सीताराम तथा महादेव-पार्वती विषयक शिक्षा उचित है। ऐसी शिक्षा देने में ध्यान रखा जाए कि जो लोग रामोपासक हैं, उन्हें राम की शिक्षा व जो कृष्णोपासक हैं, उन्हें कृष्ण की शिक्षाओं का ज्ञान दिया जाए। उनके विशुद्ध भाव जिसके प्रति हैं, वे कायम रहने चाहिए।

स्वामीजी के पास निरन्तर यत्र्-तत्र् से पत्र आते रहते थे। यहां भी ये बराबर पहुंच रहे थे। इनमें एक पत्र 'भारती' पत्रिका की सम्पादिका का भी था। उसने स्वामीजी से निवेदन किया था कि वे अपनी कार्यप्रणाली के विषय में सूचित करें। यह सम्पादिका कुमारी मूलर की अच्छी मित्र बन गई थीं, सो उसने इसका हवाला भी दिया था। स्वामीजी ने पत्र का उत्तर लिखना श्रेष्ठ समझा।

दार्जिलिंग
द्वारा श्रीयुत एम॰एन॰ बनर्जी
24 अप्रैल, 1897

महोदया,

आपने मेरी कार्यप्रणाली के विषय में पूछा है। उस विषय में पहले यह कहना है कि 'किसी भी काम की जांच उसके फलानुसार करनी चाहिए।' अतः कार्य उस रूप में प्रारम्भ किया जाए जो अपेक्षित परिणामों के अनुरूप हो। अपनी मित्र कुमारी मूलर के मुंह से आपकी उदार बुद्धि, स्वदेश प्रेम और दृढ़ अध्यवसाय की बातें मैं सुन चुका हूं। ये सारी बातें आपकी विद्वता का प्रमाण हैं। आप मेरे क्षुद्र जीवन की तुच्छ चेष्टाओं की बात जानना चाहती हैं, मैं इसको अपना बड़ा सौभाग्य मानकर इस छोटे से पत्र में यथा सम्भव निवदेन करता हूं। लेकिन पहले मैं आपके विचार के लिए अपने अनुभव किए गए सिद्धान्तों को आपके सम्मुख उपस्थित करता हूं।

हम लोग सदा पराधीन हैं अर्थात् इस भारत भूमि में साधारण मनुष्यों को कभी भी अपने अधिकारों का ज्ञान प्राप्त करने का अवसर नहीं दिया गया। पश्चिमी देश आज कई सदियों से स्वाधीनता की ओर बड़े वेग से बढ़ रहे हैं। इस भारत में कौलीन्य प्रथा से लेकर खानपान तक सभी विषय राजा लोग ही निपटाते आए हैं।

पश्चिमी देशों में सभी कार्य प्रजा अपने आप करती है।

अब राजा किसी सामाजिक विषय में हाथ नहीं डालते, तो भी भारतीय जनता में अब तक आत्मनिर्भरता तो दूर रही, थोड़ा-सा आत्मविश्वास भी पैदा नहीं हुआ। जो आत्मविश्वास वेदान्त की नींव है, वह अब भी यहां कार्य में बिलकुल परिणत नहीं हुआ है। इसीलिए पश्चिमी प्रणाली....अर्थात् पहले उद्देश्य की चर्चा, जो कुछ करना है, उसे मिलजुल कर डालना है—इस देश में अभी तक सफल नहीं हुई है। इसीलिए हम विजातीय राजाओं के आधीन इतने अधिक स्थितिशील (Conserva-tive) दिखाई पड़ते हैं। इस अवस्था में जनता में चर्चा या सार्वजनिक वाद-विवाद के द्वारा किसी काम को सिद्ध करने की चेष्टा करना वृथा है।....'जब सिर ही नहीं तो सिर में दर्द कैसा ?' जनता कहां है ? इसके सिवाय हम इतने निर्बल हैं कि यदि हम किसी विषय पर चर्चा करते हैं, तो उसी में हमारा सारा बल लग जाता है और कोई काम करने के लिए कुछ भी शेष नहीं रह जाता। शायद इसलिए हम बंगदेश में 'बड़ी-बड़ी तैयारियां और छोटा-सा फल' सदा देखते हैं। दूसरी बात यह है कि जैसा मैं पहले ही लिख चुका हूं....भारतवर्ष के धनिकों से हमें कुछ आशा नहीं है। जिनसे आशा है, अर्थात् जो युवक हैं; उनमें चुपचाप काम करते रहना ही अच्छा है। अब कार्य के विषय में कहता हूं।

वर्तमान सभ्यता, जो पश्चिमी देशों की है और प्राचीन सभ्यता, जो भारत, मिश्र व रोम आदि देशों की है। इनके बीच अन्तर उसी दिन से शुरू हुआ जब से शिक्षा, सभ्यता आदि उच्च जातियों से धीरे-धीरे निम्न जातियों में फैलने लगी। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि जिस जाति की जनता में विद्या-बुद्धि का जितना अधिक प्रचार हुआ है, उस जाति ने उतनी ही उन्नति की है। भारतवर्ष के सत्यानाश का मूल कारण यही है कि देश की सम्पूर्ण विद्या-बुद्धि राज शासन और दम्भ लोगों की मुट्ठी में रखी गई। यदि हमें उन्नति करनी है और फिर से अपने को प्रतिष्ठित करना है तो जनता में शिक्षा का प्रचार करना होगा।

मैंने दस वर्षों तक भारत के विभिन्न स्थानों पर घूमकर देखा है। देश में समाज सुधारकों की बाढ़ आई हुई है, आधी सदी से समाज सुधार की धूम मच रही है। लेकिन जिनके रुधिर का शोषण करके हमारे 'भद्र लोगों' ने अपनी यह उपाधि प्राप्त की है और कर रहे हैं, उन असहायों के लिए कुछ भी होता नजर नहीं आ रहा है। मुसलमान कितने सिपाही लाए थे ? आज यहां अंग्रेज कितने हैं ? सात सौ वर्ष के मुसलमान काल में छः करोड़ भारतीय, मुसलमान बने व सौ वर्ष के अंग्रेजी काल में बीस लाख भारतीयों ने ईसाई धर्म स्वीकार किया....क्यों ? हमारी मौलिकता को

क्या हुआ ? क्यों आज हमारे सुदक्ष शिल्पी यूरोप के शिल्पियों के समक्ष हीन बन रहे हैं ? सोचने की बात है कि जर्मन कारीगरों ने किस बल पर अंग्रेज कारीगरों के कई सदियों से स्थापित दृढ़ आसन को हिला दिया ?

इस सबका एक ही कारण है—शिक्षा का अभाव। मैं यूरोप के बहुतेरे नगरों में घूमा। वहां के गरीबों की शिक्षा व शान्ति देखकर, मुझे अपने यहां के गरीबों की याद आती थी और मैं आंसू बहाता था। यह अन्तर क्यों आया ? जवाब पाया—शिक्षा। शिक्षा से आत्मविश्वास आता है और आत्मविश्वास से अन्तर्निहित ब्रह्म भाव जाग पड़ता है। किन्तु हमारा ब्रह्मभाव क्रमशः निद्रित, संकुचित होता जा रहा है। न्यूयार्क में मैंने देखा कि आयरिश उपनिवेशवादी आ रहा है, अंग्रेजों के पैर से कुचला हुआ, क्रान्तिहीन, निःसम्बल, अति दरिद्र और महामूर्ख....साथ में एक लाठी और उसके सिरे पर लटकती हुई फटे कपड़ों की एक छोटी-सी गठरी है। उसकी चाल व चितवन में भय की झलक पाई जाती है। छः महीने के बाद यही दृश्य बिलकुल बदल गया। अब उसकी चाल-ढाल में कोई भय नहीं दिखाई देता है। उसकी वेशभूषा तक बदल जाती है। ऐसा क्यों हुआ ? हमारा वेदान्त कहता है कि वह आयरिश अपने देश में चारों ओर से घृणा से घिरा रहता था। सारी प्रकृति एक स्वर से उससे कहती थी—'बच्चू, तेरे लिए कोई आशा नहीं है। तू गुलाम ही पैदा हुआ है और गुलाम ही बना रहेगा।' आजन्म यही सुनते-सुनते उसे इसी बात का विश्वास हो गया। वह सम्मोहित हो गया कि वह अति निम्न है। उसका ब्रह्मभाव संकुचित हो गया लेकिन जब उसने अमेरिका में पैर रखा तो चारों ओर से ध्वनि उठी—'भाई, तुम भी वही आदमी हो, जो हम लोग हैं। आदमियों ने ही सारे काम किए हैं। तेरे और मेरे समान आदमी ही सब कुछ कर सकते हैं। उस आयरिश की आंखें खुलीं, उसका ब्रह्म जाग उठा और मानो प्रकृति ने कहा—'उठो, जागो, रुको मत, जब तक मंजिल तक न पहुंच जाओ।'

हमारे यहां भी लड़कों को ऐसी ही नकारात्मक शिक्षा दी जा रही है। यहां स्कूल के लड़के कुछ भी नहीं सीखते। इससे उनका जो कुछ भी है, वह भी समाप्त हो जाता है। इसका फल श्रद्धा का अभाव है। जो श्रद्धा वेद-वेदान्त का मूल मंत्र है, जिस श्रद्धा ने नचिकेता को प्रत्यक्षतः यम के पास जाने का साहस प्रदान किया, जिस श्रद्धा के बल पर यह संसार चल रहा है—उसी श्रद्धा का आज की शिक्षा से लोप हो जाता है। गीता में कहा गया है—**'अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।'**....अज्ञ तथा श्रद्धाहीन और संशययुक्त पुरुष का नाश हो जाता है। इसीलिए हम मृत्यु के इतने समीप हैं। इससे बचने का एक ही उपाय है—शिक्षा का प्रचार। सबसे पहले आत्म

शिक्षा या विद्या का प्रसार करना होगा। इस आत्म विद्या से मेरा मतलब, जटाजूट, दंड, कमंडल और पहाड़ों की कन्दरा‍ओं से नहीं है। आत्म ज्ञान या विद्या से मेरा मतलब है, वह ज्ञान जिससे मनुष्य संसार बंधन से मुक्ति पा जाता है। क्या इस ज्ञान से तुच्छ वैषयिक उन्नति नहीं हो सकेगी। मुक्ति, वैराग्य, त्याग; ये तो सब बड़े श्रेष्ठ आदर्श हैं। लेकिन गीता में लिखा है—**'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।'** अर्थात् इस धर्म के ज्ञान का थोड़ा सा भाग भी महाभय से त्राण दिलवाता है। द्वैत, विशिष्टाद्वैत, अद्वैत, शैव सिद्धान्त, वैष्णव, शाक्त, यहां तक कि बौद्ध व जैन आदि जितने सम्प्रदाय भारतवर्ष में स्थापित हुए हैं, सभी इस विषय पर सहमत हैं कि इसी जीवात्मा में अनन्त शक्ति अव्यक्त भाव से निहित है। चींटी से लेकर ऊंचे से ऊंचे सिद्ध पुरुष तक में वह आत्मा विराजमान है। इसमें जो कुछ अन्तर है, वह मात्र प्रकाश के तारतम्य में है—**'वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्।'** किसान जैसे खेतों की मेंढ़ तोड़ देता है और एक खेत का पानी दूसरे खेत में चला जाता है, वैसे ही आत्मा भी आवरण टूटते ही प्रकट हो जाती है। (पातंजल योग सूत्र, कैवल्यपाद)। उपयुक्त अवसर और देश-काल मिलते ही उस शक्ति का विकास हो जाता है। लेकिन चाहे विकास हो या न हो, वह शक्ति प्रत्येक जीव में निहित है....ब्रह्मा से लेकर घास तक में, इस शक्ति को सर्वत्र जाकर जगाना होगा।

यह हुई पहली बात। दूसरी बात यह कि इसके साथ-साथ विद्या भी सिखानी पड़ेगी। यह बात तो बड़ी सरल हुई, पर इसे काम में कैसे लाया जाए ? हमारे देश में हजारों निःस्वार्थ, दयालु और त्यागी पुरुष हैं, जिनमें से कम से कम आधे उस तरह की विद्या देने वाले शिक्षक बनाए जा सकते हैं। वे बिना पारिश्रमिक लिए देश में घूम-घूमकर ऐसी धर्म शिक्षा दे सकते हैं।

इसके लिए पहले राज्यों की राजधानियों में एक-एक केन्द्र बनाना होगा और फिर धीरे-धीरे इन्हें पूरे भारत में फैलाना होगा। कलकत्ते में हाल ही में ऐसे केन्द्र बनाए गए हैं। मद्रास में भी एक केन्द्र स्थापित किया गया है। एक बात और है, हमें गरीबों की शिक्षा प्रायः बातों ही बातों में या मौखिक रूप से देनी चाहिए और शनैः शनैः इन्हें केन्द्रों में उन्हें लाकर खेती, व्यापार व शिल्प आदि की शिक्षा देनी पड़ेगी, क्योंकि अभी स्कूल आदि की स्थापना का समय नहीं आया है। इन लोगों द्वारा तैयार किया गया माल यूरोप व अमेरिका में बेचने का प्रयास किया जाए।

यह प्रबन्ध केवल पुरुषों के लिए ही नहीं, अपितु स्त्रियों के लिए भी होना चाहिए। लेकिन इस देश में ऐसा होना अत्यन्त कठिन है....यह आप जानती हैं। इन सब कार्यों के लिए जिस धन का प्रयोजन हो, वह पश्चिमी देशों से आएगा। मुझे

इस बात का दृढ़ विश्वास है कि जिस सांप ने काटा है, वही अपना विष उतारेगा। इसीलिए मेरा विचार है कि हमारे धर्म का प्रचार यूरोप और अमेरिका में होना चाहिए।

आधुनिक विज्ञान ने ईसाई आदि धर्मों की भित्ति को चूर-चूर कर डाला है। वहां की विलासिता ने उनकी धर्मवृत्ति का नाश कर डाला है। ये देश आशा भरी दृष्टि से भारत की ओर ताक रहे हैं। शत्रु के किले पर अधिकार जमाने का यही मौका है। पश्चिमी देशों में नारियों का ही राज, नारियों का ही बल और उन्हीं की प्रभुता है। यदि आप जैसी वेदान्त जानने वाली तेजस्विनी व विदुषी महिला इस समय इंग्लैंड जाए, तो मैं निश्चित रूप से कहता हूं कि एक-एक साल में कम-से-कम दस हजार विदेशी नारियां भारतीय धर्म ग्रहण कर कृतार्थ हो जाएं। हमारे यहां से अकेली रामाबाई ही विदेश गई थी, उनकी अंग्रेजी भाषा या पश्चिमी विज्ञान और शिल्प आदि में गति कम थी, तो भी उन्होंने सभी को आश्चर्य में डाल दिया था। यदि आप जैसी कोई नारी वहां पधारे तो इंग्लैंड व अमेरिका हिल जाए। मैं दिव्य दृष्टि से देख रहा हूं कि यदि भारतीय नारियां देशी पोशाक पहने भारत के ऋषियों के मुंह से निकले हुए धर्म का प्रचार करें, तो एक ऐसी उत्तुंग लहर उठेगी जो सारी पश्चिमी भूमि को डुबो देगी। क्या मैत्रेयी, लीलावती, सावित्री और उभय भारती की इस जन्म भूमि में किसी और नारी का यह साहस न होगा ? प्रभु ही जानें। हम लोग धर्म के बल पर इंग्लैंड पर अधिकार कर सकते हैं—**'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।'** इसके सिवाय और कोई दूसरा रास्ता नहीं है। क्या सभा-समितियों के द्वारा इस प्रतापी असुर के हाथ से उद्धार हो सकता है ? इस असुर को देवता बनाना होगा।

मैं तो एक दीन भिक्षुक, परिव्राजक हूं। मैं क्या कर सकता हूं। मैं तो अकेला और असहाय हूं। आप लोगों के पास धन है, बुद्धि और विद्या भी है। क्या आप लोग इस अवसर को हाथ से जाने देंगी ? अब इंग्लैंड, यूरोप व अमेरिका पर विजय पानी है—यही महामंत्र है। इसी से देश का भला होगा।

Expansion is the sign of the life and we must spread the world over with our spritiual ideals.

विस्तार ही जीवन का चिन्ह है। हमें सारी दुनिया में अपने आध्यात्मिक विचारों को फैलाना होगा। हाय ! मेरा शरीर कितना दुर्बल है, तिस पर बंगाली का शरीर ....थोड़े से परिश्रम ने ही प्राणघातक व्याधि से इसे घेर लिया है। परन्तु आशा है—**'उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा, कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।'** (भवभूति)....अर्थात् मेरे समान गुणवाला कोई और है या होगा, क्योंकि काल का

अन्त नहीं और पृथ्वी भी विशाल है। सर्वशक्तिमती विश्वेश्वरी आपके हृदय में अवतीर्ण हों।

भवदीय
विवेकानन्द

स्वामीजी ने पत्र पूरा किया। उन्हें कुछ शान्ति मिली, यह सोचकर कि कुछ तो हलचल हो रही है देश में....जाग्रति के कुछ तो चिन्ह मिल रहे हैं। उन्हें अपने पर भी कभी-कभी क्रोध आता और झुंझलाहट होती....वे अपने शरीर से अथक परिश्रम करवाना चाहते थे, किन्तु वह था कि बार-बार थक जाता। अमेरिका से कुमारी हेल का पत्र आया था। उसने लिखा था कि हैरियट का विवाह हो चुका है। स्वामीजी ने पत्र के उत्तर में अपनी गतिविधियों से परिचित करवाया। भारत के कोने-कोने में अपने होने वाले स्वागत के विषय में भी उन्होंने लिखा। उन्होंने लिखा कि अमेरिका और इंग्लैंड में किए गए परिश्रम के परिणाम स्वरूप तथा भारत में दक्षिण भारत की भीषण गर्मी की वजह से उनका स्वास्थ्य काफी गिर गया है। दार्जिलिंग में रहने से अब स्वास्थ्य पहले की अपेक्षा कुछ ठीक है।

कुमारी मेरी हेल ने स्वामीजी को लिखा था कि उन्हें एक बार फिर से अमेरिका का चक्कर लगाना चाहिए ताकि डॉक्टर बैरोज द्वारा किया जा रहा दुष्प्रचार समाप्त किया जा सके। स्वामीजी ने हेल की इस बात का उत्तर लिखा कि उन्होंने यूरोप आने का एक अवसर अभी-अभी खो दिया है। राजा अजीत सिंह (खेतड़ी के राजा) इंग्लैंड रवाना हो रहे हैं। उनका प्रबल आग्रह था कि मैं उनके साथ चलूं। लेकिन अभाग्यवश डॉक्टरों ने मेरे विदेश जाने की बात पर स्पष्टतः अपनी असहमति व्यक्त की। सो मुझे विचार छोड़ना पड़ा। डॉ॰ बैरोज के सम्बन्ध में मेरा इतना ही लिखना है कि वे यहां अति कट्टर ईसाई धर्म का प्रचार करने आए थे। लेकिन यहां उनकी एक न सुनी गई। मेरे पत्र के कारण भारतवासियों ने उनका भावभीना स्वागत किया था, पर मैं उनको बुद्धि नहीं दे सकता था ! इसके अलावा मेरे भारत लौटने पर राष्ट्र में जो खुशियां मनाई गईं, इससे भी उन्हें ईर्ष्या ही हुई। आप लोगों को यहां किसी बुद्धिमान व्यक्ति को भेजना चाहिए था। डॉ॰ बैरोज के क्रिलाकलापों से भारतवासियों के मन पर यह छाप पड़ी कि धर्म-प्रतिनिधि सभा एक स्वांग था।

अध्यात्म विद्या में पृथ्वी का कोई भी राष्ट्र हिन्दुओं का मार्गदर्शन नहीं कर सकता। विचित्र बात यह है कि ईसाई देशों से जितने लोग भी यहां आते हैं, वे सब एक मूर्खतापूर्ण तर्क देते हैं कि ईसाई धनवान और सर्वशक्तिमान हैं सो उनका धर्म

श्रेष्ठ है।....स्वामीजी ने कुमारी हेल को दार्जिलिंग का परिचय देते हुए लिखा कि *दार्जिलिंग एक रमणीय स्थान है। बादलों के हटने पर देदीप्यमान कांचनचंगा* (28,146 फुट) का दृश्य दिखाई देता है। कभी-कभी इसके समीपवर्ती शिखर गौरीशंकर (29,002 फुट) की झलक भी दिखाई देती है। यहां के लोग तिब्बती, नेपाली आदि सुन्दर हैं....'जो', श्रीमती एडम्स, भगिनी जोसेफिन और अन्य मित्रों के क्या हाल हैं ? मेरे प्राणप्रिय मिल्स कहां हैं ? मैं हैरियट को विवाह के निमित्त कुछ उपहार भेजना चाहता था, परन्तु आपके यहां की भयंकर चुंगी के कारण किसी निकट भविष्य के लिए यह स्थगित कर दिया।....

स्वामीजी ने कुमारी हेल को अपने विषय में लिखा—'मेरे केश झुंड के झुंड सफेद हो रहे हैं; और मेरे मुख पर चारों ओर झुरियां पड़ रही हैं; शरीर का मांस घटने से मेरी आयु बीस वर्ष अधिक लगती है। मैं यहां एक ब्राह्मण परिवार के साथ रहता हूं। ये लोग स्त्रियों को छोड़कर सभी ढीले पायजामें पहनते हैं। मैं भी वही पहनता हूं।....मैं यहां बहुत अच्छा हूं क्योंकि शहरों में मेरा जीवन कष्टप्रद हो गया था। लोगों को यदि राह में मेरी झलक भी दीख जाती थी तो तमाशा देखने वालों का जमघट लग जाता था। ख्याति में केवल दूध और शहद ही घुला हुआ नहीं मिलता। अब मैं बड़ी-सी दाढ़ी बढ़ाने वाला हूं, जिसके बाल अब सफेद हो रहे हैं। इससे रूप पूजनीय हो जाता है और वह मुझे अमेरिकन निन्दा से बचाती है। हे श्वेत केश, तुम कितना क्या न छिपा सकते हो, धन्य हो तुम !

स्वामीजी को अमेरिका से ही एक पत्र और प्राप्त हुआ था जिसमें पतित बौद्धमत पर उनके व्यक्त किए गए विचारों पर डॉक्टर जेम्स की आलोचना की बात थी। स्वामीजी का विचार था कि आलोचना का हर एक को अधिकार है, किन्तु वह सर्वसम्मत निर्णयों के आधार पर और प्रबुद्धजनों की व्याख्याओं तथा टिप्पणियों और विचारों की आश्रित होनी चाहिए। स्वामीजी का दृढ़ विश्वास था कि आज जो आधुनिक हिन्दू धर्म कहलाता है और जो सदोष है, वह अवनत बौद्धमत का ही एक रूप है। बौद्धमत का प्राचीन रूप जिसका उपदेश बुद्धदेव ने दिया था और स्वयं बुद्ध को स्वामीजी श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। हिन्दू लोग अवतार मानकर उनकी पूजा करते हैं। लेकिन आज के बौद्धों के पाखंडों को स्वामीजी ने अपनी दृष्टि से देखा था। वे लंका की यात्रा के दौरान वहां के बौद्धों का क्रियाकलाप देख चुके थे। वे बौद्ध धर्म के नाम पर विलायती तौर-तरीकों से अपना जीवनयापन कर रहे थे। बुद्ध के अहिंसा के सिद्धान्त की वे धज्जियां उड़ा रहे थे। उन्होंने जगह-जगह कसाईखाने खोल रखे थे और उनके पुरोहित इनका संचालन करते थे। स्वामीजी का मत था

कि बौद्धों के इसी व्याभिचारी आचार-विचार के कारण बौद्ध धर्म को भारत से निकाला गया। वे चाहते थे कि लंकावासी भी बौद्ध धर्म के इन अवशेषों को अपने यहां से उखाड़ कर फेंक दें।

स्वामीजी समय-समय पर चिंतन करते रहते थे कि जब भारत के लोग उनके विचारों को सुन रहे हैं, उनका विश्लेषण कर रहे हैं, उन्हें सत्य मान रहे हैं, तो वे जो कुछ बोलें, वह राष्ट्रवासियों के कल्याणार्थ होना चाहिए। भले ही कुछ लोगों को उनके विचार अप्रिय क्यों न लगें। लोकप्रियता के लिए छल-कपट क्यों किया जाए? थियोसोफिस्ट भी स्वामीजी को अपने पक्ष में करने के लिए यदा-कदा प्रयत्न करते थे, पर स्वामीजी नहीं चाहते थे कि धर्म के नाम पर कोई पाखंड हो, सो उन्होंने निश्चित शब्दों में उनका भी खंडन किया। वे सत्य की धार पर चल रहे थे और चाहते थे कि जगह-जगह प्रचारक तैयार कर दिए जाएं जो धर्म के असली स्वरूप की व्याख्या करके तथा खुद उन सिद्धान्तों पर चलकर लोगों को दिखाएं। स्वामीजी बहुधा इन्हीं विचारों में खोए रहते और शिष्यों को पत्र लिखकर सचेष्ट करते रहते।

दो महीने बीत गए। सेव्हियर दम्पति कुछ दिन पूर्व शिमला रवाना हो चुके थे। स्वामीजी के स्वास्थ्य में कोई सुधार नहीं हुआ। उनके साथियों को चिन्ता थी किन्तु स्वामीजी निष्फिक्र थे। उनके मन में विचार आता था।

"दो महीने में हिमालय की न जाने कितनी बर्फ पिघल चुकी होगी। उन्होंने बेकार में इतना लम्बा समय गंवा डाला। उनका तो एक-एक क्षण अमूल्य है। उन्हें कलकत्ते लौट जाना चाहिए।"

और वे साथियों के न चाहने पर भी कलकत्ते लौट आए। आलम बाजार मठ एक बार फिर सक्रिय हो गया। वहां शिक्षा और दीक्षा का कार्य पूरी गति से चलने लगा। ब्रह्मचर्य व्यतीत करने वाले शिष्य उत्साह से स्वामीजी की शिक्षाओं पर खरा उतरने की कोशिश कर रहे थे। स्वामीजी को इस पीढ़ी से अपेक्षा थी कि वे भारत की प्राचीन मूल्य युक्त धर्म व संस्कृति के रक्षार्थ छद्म तत्त्वों के समक्ष निष्ठा से खड़े होंगे। ये युवक चाहते थे कि स्वामीजी उन्हें अपने हाथों से दीक्षा दें ताकि वे कर्म-पथ पर चल सकें। स्वामीजी उनका उत्साहवर्द्धन करना चाहते थे। उन्होंने इस विषय में गुरुभाइयों से चर्चा की।

"आप इन ब्रह्मचारियों के अग्रज हैं। आपने क्या इनका मूल्यांकन किया ? मैं इन्हें दीक्षा देना चाहता हूं।"

"ये सभी समर्थ हैं महाराज। लेकिन इनमें से एक युवक का अतीत

कालिमायुक्त रहा है। इसे दीक्षित करना ठीक नहीं रहेगा।" स्वामी अखंडानन्द ने अपने विचार प्रस्तुत किए।

"लेकिन अब तो उसका चरित्र निर्मल है ?" स्वामी विवेकानन्द ने सवाल किया।

"मेरे विचार में इस युवक को सन्यास देकर मठ में स्थान देने से मठ की गरिमा गिरेगी।" स्वामी ब्रह्मानन्द के विचार भी विपक्ष में थे।

"क्या हमें पापियों को सुधरने का अवसर नहीं देना चाहिए ? वह भविष्य में पवित्र जीवन व्यतीत करने का संकल्प लेकर सन्यास लेना चाहता है। हो सकता है, उसकी समझ में इस संसार की असारता आ गई हो। इसकी सहायता करना हमारा कर्त्तव्य है। मेरी राय में यदि आप लोग उच्छृंखल व पतित व्यक्तियों के चरित्र को उठाने में असमर्थ हैं, तो गैरिक वस्त्र धारण करके अपने आचार्यत्व को लजा रहे हैं।"

गुरुभाइयों का विरोध समाप्त हुआ। वैशाख के उन्नीसवें दिन को शुभ जानकर स्वामीजी ने दीक्षा लेने वाले शिष्यों को आज्ञा दी कि वे गंगा स्नान करके आएं। सभी दीक्षा लेने वाले युवक गंगा स्नान करके पवित्र हृदय से दृढ़ संकल्प के साथ स्वामीजी के सम्मुख बैठ गए। इन्हीं में शरच्चन्द्र चक्रवर्ती भी थे। स्वामीजी स्वाभाविक मुस्कान से बोले—"आज तुम लोगों को बलिदान देना होगा।"

"हम हर तरह का बलिदान देने के लिए तैयार हैं।" एक स्वर गूंजा।

"मैं जब भी जिस कार्य की आज्ञा दूंगा क्या तुम उस आज्ञा का पालन यथाशक्ति से करोगे ?"

"निश्चित करेंगे।"

"तुम लोगों का मंगल समझ कर यदि मैं तुम्हें गंगा में डूबकर मर जाने या छत से कूदने की आज्ञा दूं, तो क्या तुम बिना विचारे उसका पालन करोगे ?"

"पालन करेंगे।"

"एक बार पुनः विचार कर लो। बिना विचारे किसी को गुरु नहीं बनाना चाहिए। याद रखो, सच्चा गुरु वही है जो इस मायारूपी संसार से किसी को पार ले जाता है। वह कृपा करके हमारी सब मानसिक आधि-व्याधि नष्ट करता है। पूर्वकाल में शिष्यगण समितपाणि होकर गुरु के आश्रम में जाते थे। गुरु उनको अधिकारी समझने पर दीक्षा दान करके वेद पढ़ाते थे और तन-मन-वाक्य-दंडरूप व्रत के चिन्ह स्वरूप त्रिरावृत मूंज-मेखला उसकी कमर में बांध देते थे। शिष्य अपनी कौपीनों को उससे तानकर बांधते थे। उस मूंज-मेखला के स्थान पर अब यज्ञसूत्र या जनेऊ

धारण करने की प्रथा शुरू हो गई है।"

"गुरुदेव, हम तो सूत के उपवीत धारण किए हुए हैं, क्या ये वैदिक प्रथा सम्मत नहीं हैं।"

"वेद में कहीं भी सूत के उपवीत का प्रसंग नहीं है। गुरु के पास होने वाले इस वैदिक संस्कार को ही शास्त्रों में उपनयन कहा गया है। आजकल देश की कैसी दुरावस्था हो गई है। शास्त्रपथ को छोड़कर केवल कुछ देशाचार, लोकाचार तथा स्त्री आचार से सारा देश भरा हुआ है। इसी कारण में कहता हूं कि जैसा प्राचीन काल में था, वैसा ही काम शास्त्र के अनुसार करते जाओ। श्रद्धावान बनकर अपने देश में भी श्रद्धा लाओ। नचिकेता के समान यमलोक में चले जाओ। आत्म तत्त्व जानने के लिए, आत्मा के उद्धार के लिए, इस जन्म-मृत्यु की समस्या की यथार्थ मीमांसा जानने के लिए यदि यम के द्वार पर भी जाकर सत्य का लाभ कर सको, तो निर्भय हृदय से वहां जाना उचित है। भय ही मृत्यु है। आज से भय शून्य हो जाओ। थोड़ी-सी हड्डी तथा मांस का बोझ लिए फिरने से क्या होगा ? ईश्वर के निमित्त सर्वस्व त्याग रूप मंत्र में दीक्षा ग्रहण करके दधीची मुनि के समान औरों के निमित्त अपनी हड्डी और मांस दान कर दो। शास्त्र में लिखा है जो अन्य को भय के पार ले जाने में समर्थ हैं, वे ही यथार्थ गुरु हैं।"

प्रातः के नौ बज चुके थे। स्वामीजी अस्वस्थता के कारण आज गंगा स्नान को नहीं जा सके। उन्होंने मठ में ही स्नान किया और नया गैरिक वस्त्र धारण करके पूजा घर में आकर आसन पर बैठ गए। स्वामीजी मुक्त पद्मासन लगाकर ध्यानस्थ हो गए। तन-मन-प्राण स्पंदनहीन हो गए। कुछ देर बाद उन्होंने शिष्यों को बुलाकर अपने वाम पार्श्व में बिठाया और एक-एक करके उन्हें दीक्षा दी। सभी के हृदय कांप रहे थे। स्वामीजी ने अपने हाथ को एक-एक कर शिष्यों के मस्तक पर रखा और कुछ गुह्य बातें पूछीं। इसके उपरान्त उन्होंने उनके कान में महाबीज मंत्र का तीन बार उच्चारण किया और करवाया तथा साधना के विषय में उपदेश प्रदान किया। सभी के दीक्षित हो जाने पर उन्होंने गुरु दक्षिणा के रूप में लीचियां ग्रहण कीं और शिष्यों के सन्यासी नाम से उन्हें पुकारा।

स्वामीजी प्रसन्न थे। उचित अवसर देखकर स्वामी शुद्धानन्द ने प्रश्न किया—"महाराज, पाप और पुण्य का भाव कहां से उत्पन्न हुआ है ?"

"यह सब बहुत्व के भाव के हुआ है। मनुष्य एकत्व की ओर जितना बढ़ता जाता है उतना ही 'हम-तुम' का भाव कम होता जाता है। यह हमसे पृथक् है, ऐसा भाव मन में उत्पन्न होने से ही अन्यान्य द्वन्द्व भावों का विकास होता है किन्तु सम्पूर्ण

एकत्व अनुभव होने पर मनुष्य को शोक या मोह नहीं रह जाता। मन की ये दुर्बलताएं ही पाप कहलाती हैं। इस दुर्बलता से हिंसा तथा द्वेष का जन्म होता है। हृदय में आत्मा सर्वदा प्रकाशमान है। जो पुण्य भाव को जन्म देता है किन्तु इधर कोई ध्यान नहीं देता।"

"इसका मतलब यह हुआ कि व्यावहारिक सत्ता में कुछ भी सत्य नहीं है ?"

"जब तक 'मैं शरीर हूं' यह ज्ञान है, तब तक यह सत्य है। लेकिन जब 'मैं आत्मा हूं' यह अनुभव होता है, तब यह सब व्यावहारिक सत्ता मिथ्या प्रतीत होती है। 'मैं' पाप है और 'मैं आत्मा हूं' पुण्य है। श्रीरामकृष्णदेव कहते थे—'मैं' के नाश में सभी दुःखों का अन्त है।"

"यह विषय समझ में नहीं आता।" शिष्य निराश होकर बोला।

"इस विषय को समझाने के लिए कितने ही शास्त्र लिखे गए हैं, तिस पर भी लोग इसे समझ नहीं पाते। मधुर चांदी के रुपए और स्त्रियों के क्षण भंगुर सौन्दर्य से मोहित व्यक्ति अपने दुर्लभ मनुष्य जन्म को खो रहा है। यह महामाया का आश्चर्यजनक प्रभाव है। माता महामाया तुम सबकी रक्षा करो।"

"महाराज, स्त्री क्या इतनी हेय है ?" एक नए शिष्य ने जिज्ञासा प्रकट की।

"नहीं रे। लेकिन मुझे यह बाताओ कि यहां महिलाओं के पठन-पाठन एवं प्रशिक्षण की क्या व्यवस्था है ? मैंने देश का चप्पा-चप्पा देखा है। पुरुष के सुख-दुःख की भागी को देखा है, दासी के समान प्राण देकर सेवा करने वाली पूजनीय स्त्रियों को देखा है। इनकी शिक्षा के लिए, उत्थान के लिए हम क्या कर रहे हैं ? हम तो इसे केवल भोग्या मानकर बर्ताव कर रहे हैं। क्या यह स्त्री के क्षणभंगुर सौन्दर्य की अभिप्रेरणा नहीं है ? क्या इससे हमें मोक्ष का द्वार मिलेगा ?"

"महाराज, आजकल की स्त्रियां खूब पढ़ रही हैं।"

"यह तो पाश्चात्य ढंग से हो रहा है। इससे भारत का भला नहीं होने का। हमारे धर्मशास्त्र और देश की रीति के अनुसार क्या कहीं कोई पाठशाला बालकों की है ?....महिलाओं की बात तो जाने दो। यहां पुरुष शिक्षा मात्र दस प्रतिशत है। महिलाओं की बात न करें तो ठीक है। स्त्रियों की शिक्षा का विस्तार तथा ज्ञान का उन्मेष हुए बिना देश व जाति की उन्नति कैसे होगी ? तुम जैसे शिक्षित लोग इस ओर जाग्रत नहीं हो। इसलिए मेरी इच्छा है कि कुछ ब्रह्मचारिणियां समय पर सन्यास लेकर शिक्षा का प्रचार करें। ब्रह्मचारिणियों को देश की महिलाओं को जगाने का उत्तरदायित्व सौंपा जाना चाहिए। लेकिन यह कार्य देश की प्रतिष्ठा व रीति-रिवाज के अनुसार होना चाहिए। पुराण, इतिहास, गृहकार्य, शिल्प, गृहस्थी

आदि सारे विषय आधुनिक विज्ञान की सहायता से ब्रह्मचारिणियां शैक्षिक केन्द्रों में कुमारियों को पढ़ाएंगी। इससे शिक्षित कुमारियां धर्मपरायण व नीतिपरायण सुगठित सद्गृहणियां बनेंगी। ऐसी माताओं के यहां जो बच्चे जन्म लेंगे वे निश्चित ही उन्नति करेंगे। आज तो स्त्रियों को मात्र यंत्र बनाया हुआ है। इनसे देश का उद्धार कैसे होगा ?"

"महाराज, आपने चोरबागान के मार्ग पर स्थित महाकाली पाठशाला का अवलोकन किया है।"

"अरे ! तुमने अच्छी याद दिलाई। पाठशाला की स्थापनाकर्त्री तपस्विनी माताजी ने मुझे इस पाठशाला को देखने का निमंत्रण दिया हुआ है। चलो, अब उधर ही चलते हैं।"

स्वामीजी अपने नव शिष्यों को लेकर घोड़ा-गाड़ी में महाकाली पाठशाला का अवलोकन करने के लिए निकले। घोड़ा-गाड़ी ब्राह्मसमाज मन्दिर से आगे बढ़ी और चोर बागान में राजेन्द्र मल्लिक के मकान की पूर्व दिशा की ओर के मकान के आगे रुक गई।

घोड़ा-गाड़ी रुकी कि चार सज्जनों ने आकर स्वामीजी के चरण स्पर्श किए और उन्हें आदर से अन्दर ले गए। तपस्विनी मां ने स्वामीजी का सत्कार किया और उन्हें एक कक्षा की ओर ले गईं। कुमारियों ने स्वामीजी की अभ्यर्थना की और मां के आदेश से शिवजी के ध्यान की स्वर सहित आवृत्ति आरम्भ की। पाठशाला में पूजन की शिक्षा की विधि भी कुमारियों ने दर्शायी।

स्वामीजी ने पाठशाला की अन्य कक्षाओं का निरीक्षण भी किया। एक कक्षा में उन्होंने एक कुमारी से रघुवंश के तृतीय अध्याय के प्रथम श्लोक की व्याख्या करवाई। कुमारी ने संस्कृत में श्लोक की सटीक व दोष रहित व्याख्या कर दी। स्वामीजी के हर्ष की सीमा न रही। उन्होंने विनयपूर्वक माताजी से कहा—

"मैं छात्राओं की शिक्षा देखकर संतुष्ट हूं। आप धन्य हैं।"

माताजी ने नम्र शब्दों में उत्तर दिया—"मैं छात्राओं की सेवा उन्हें देवी भगवती समझ कर रही हूं। विद्यालय स्थापित करके यश लाभ करने का मेरा कोई विचार नहीं है।"

स्वामीजी ने माताजी की प्रशंसा की और विदा लेते समय निर्दिष्ट पुस्तक में अपना मत लिखा—'कार्य उचित मार्ग पर हो रहा है।'

लौटते समय स्वामीजी ने शिष्यों से कहा—"यह है त्याग और कार्य करने की समर्पण भावना। इन माताजी की जन्म भूमि कहां है ?....यहां से हजारों मील दूर है।

इन्होंने सर्वत्र त्याग किया है। एक शिक्षित और विद्यानुरागी महिला ही कुमारियों को सही ज्ञान दे सकती है। पाठशाला में सभी प्रबन्ध ठीक था। लेकिन गृहस्थ पुरुषों का शिक्षक के रूप में कार्य करना मुझे ठीक नहीं लगा। पाठशाला का भार महिलाओं को ही सौंपा जाना चाहिए। महिला पाठशालाओं में पुरुषों का किंचित मात्र भी संसर्ग नहीं होना चाहिए।"

"महाराज, क्या आपको आशा है कि इस देश में एक बार फिर से गार्गी, लीलावती, मैत्रेयी, सीता व सावित्री का उद्‌भव हो सकता है ?"

"प्रिय शुद्धानन्द, एक बात का ध्यान रखो। इस पुण्य क्षेत्र में अभी तक भारतीय स्त्रियों में चरित्र, सेवाभाव, स्नेह, दया, तुष्टि व भक्ति के जो गुण पाए जाते हैं, वे विश्व भर में और कहीं नहीं दिखते। पाश्चात्य देशों की स्त्रियों को देखकर तो हमें कुछ देर भ्रांति हो जाती है, कि क्या वे स्त्रियां हैं। वे पुरुषों के समान लगती हैं और उन्हीं के समकक्ष कार्य करती हैं। ऐसा कोई कार्य नहीं है, जिस पर मात्र पुरुष वर्ग का आधिपत्य हो। भारत ही एक ऐसा देश है जहां की नारियों में लज्जा व विनय है। इन स्त्रियोचित गुणों को देखकर शान्ति मिलती है। दुःख की बात है कि ऐसी गुणवती नारियों को भी हम शिक्षित नहीं कर सके, उन्हें उन्नति का मार्ग न दिखा सके। यदि इन्हें उचित रीति से शिक्षा दी जाए तो ये आदर्श सिद्ध हो सकती हैं।"

"महाराज, यह सब तो ठीक है। लेकिन महाकाली पाठशाला में जिन कुमारियों को शिक्षा दी जा रही है, उनसे क्या अपेक्षा की जा सकती है। कल उनका विवाह होगा और कुछ समय बाद वे अन्य साधारण स्त्रियों के समान हो जाएंगी। अच्छा होता कि उन्हें ब्रह्मचर्य के मार्ग पर ले जाया जाता ताकि वे समाज को कुछ दे पातीं।"

"बड़ा टेढ़ा सवाल है यह। यहां अभी तक ऐसे धीर-वीर पुरुष नहीं हुए हैं जो समाज का विरोध सहकर भी अपनी कन्याओं को अविवाहित रख सकें। आज हम समाज के भय से अल्प वयस्क बालिकाओं का विवाह कर देते हैं। समाज के इस कलंक को दूर युवा ही कर सकते हैं। स्त्री-पुरुषों को शिक्षित करके ही इन बीमारियों को जड़ से दूर किया जा सकता है।"

घोड़ा-गाड़ी बाग बाजार आकर रुकी। अनेक युवक स्वामीजी की प्रतीक्षा कर रहे थे। स्वामीजी ने उनसे भी चर्चा की। उनके गुरुभाई प्रातः मध्याह्न और सायंकाल, यहां तक कि देर रात्रि तक उनकी व्यस्तता देखकर खिन्न थे। स्वामीजी उनकी खिन्नता से परिचित थे। वे हंसकर बोले—"द्वार आए जिज्ञासुओं को कैसे लौटा दूं ? अरे ! इनका उत्साह देखो। धर्म और दर्शन के तत्त्वों को समझने के लिए व्यग्र हैं।

ऐसे में मेरा क्या कर्त्तव्य है ?"

काफी रात गए तक स्वामीजी शिष्यों से वार्तालाप करते रहे। रात को शयन पर जाने से पूर्व स्वामी योगानन्दजी बोले—"महाराज, कल सूर्य ग्रहण है। हमारे लिए कोई विशेष आदेश ?"

"कल तुम सभी लोग भोजन पकाकर मुझे खिलाओगे।"

"लेकिन, कल नो ग्रहण है।" एक शिष्य आश्चर्य से बोला।

"नभी तो मैं तुम लोगों के हाथों से बना भोजन ग्रहण करूंगा।"

अगले दिन सर्वग्रासी ग्रहण शुरू हुआ। धर्म के अनुरागी नरनारी गंगा स्नान करने आए हैं। स्वामीजी को इस कर्म कांड में कोई रुचि नहीं थी। वे शिष्यगणों के साथ रसोईघर में हंसी-मजाक करने में लगे हुए थे।

"देखो तो, आज बलराम बाबू की रसोई जीवित हो गई है। वे खुद तो न जाने कहां भटक रहे हैं; और अपना मकान हमारे हवाले कर गए।"

रसोईघर में योगीन मां शिष्यों को बता रही थी कि तरकारी का झोल कैसे तैयार होगा। स्वामी विवेकानन्द हंसते हुए बोले—"मां, इन्हें भोजन पकाने में दक्ष कर दो।"

"महाराज, इन्हें यही समझा रही हूं कि कैसे भात, दाल, झोल, खटाई, सुक्तुनी, भाजा, टक डालना, चच्चडी आदि पकाने से ही बंगवासियों का भोजन तैयार होगा। इन सबको तैयार करने में बड़ी मेहनत करनी पड़ती है।"

"मां, तरकारी में मसाला व लाल मिर्च खूब डाल देना।"

"आपके मन पसन्द का भोजन बनेगा।"

"ओह ! खूब आनन्द आएगा। मैं स्नान करके आता हूं।"

स्वामीजी स्नान करके आए और रसोई घर में से एक पत्तल उठा अपने सम्मुख बिछाकर बैठ गए। योगीन मां व शिष्य मुस्कराए और बोले—"अभी रसोई बनी नहीं है।"

"बड़ी भूख लगी है, अब प्रतीक्षा नहीं हो सकती। जो है, वही दे दो।"

शिष्य ने भात व सुक्तुनी स्वामीजी के पत्तल में परोस दिया। स्वामी प्रेमानन्द ने कटोरी में शाक लाकर परोसा और वहीं खड़े हो गए।

"प्रेमानन्द, कलकत्तेवासी पूर्व बंग की सुक्तुनी की हंसी उड़ाते हैं, पर मैंने तो ऐसी अच्छी रसोई पहली बार खाई है। झोल और चटनी का क्या कहने।"

स्वामी योगानन्दजी ने अन्त में संदेश व दही लाकर स्वामीजी को परोसे। स्वामीजी ने भोजन समाप्त किया और आचमन करके उठ खड़े हुए। स्वामी

योगानन्दजी ने पूछा—"स्वामीजी, आप तृप्त हुए ?"

"अरे ! तृप्त न होता तो भला पत्तल छोड़ता। योगानन्द, जो अच्छी रसोई नहीं बना सकता, वह साधु भी नहीं बन सकता। यदि मन शुद्ध न हो तो किसी से भी अच्छी रसोई नहीं बन सकती।"

स्वामीजी विश्राम के लिए चले गए। उनके जाने के बाद अन्य शिष्यों ने रसोई ग्रहण की। प्रेमानन्दजी व योगानन्दजी ने भी अपनी बनाई रसोई खाई। उन्हें रसोई अटपटी लगी। एक भी चीज स्वादिष्ट नहीं थी।

रसोई का काम निबटा। ग्रहण लग चुका था। चारों ओर शंखनाद हो रहा था। स्वामीजी गहरी नींद में थे। ग्रहण समाप्त हुआ तो उनकी नींद खुली। उन्होंने हाथ-मुंह धोए और शिष्यों से बोले—"लोग कहते हैं कि ग्रहण के समय यदि कुछ किया जाए, तो उससे करोड़ गुना अधिक फल प्राप्त होता है। मैं यही सोचकर आज सोया था कि महामाया ने तो इस शरीर को अच्छी नींद दी ही नहीं है। यदि इस समय कुछ देर सो जाऊं तो आगे अच्छी नींद मिलेगी। लेकिन नींद अधिक आई नहीं।"

सभी शिष्य हंस पड़े। स्वामीजी ने उन्हें बैठने का इशारा किया और बोले—"योगानन्दजी, तुम उपनिषद् के विषय में कुछ बोलो।"

योगानन्दजी को बोलने का अभ्यास नहीं था। लेकिन स्वामीजी ने पुनः आदेश दिया। योगानन्दजी संकोच में गुरुभक्ति और त्याग की महिमा पर बोले तथा अन्त में ब्रह्मज्ञान ही परम पुरुषार्थ है, कहकर बैठ गए। स्वामीजी ने उनकी वक्तृता की प्रशंसा की और स्वामीजी शुद्धानन्दजी व प्रकाशानन्दजी से बोलने के लिए कहा। इन दोनों ने प्रभावशाली वाणी में अपने विचार रखे। स्वामीजी ने सभी को प्रोत्साहित किया और अपनी-अपनी जिज्ञासा प्रकट करने को कहा। स्वामी शुद्धानन्द इसी अवसर की ताक में थे। उन्होंने प्रश्न किया—"महाराज, ध्यान का स्वरूप क्या है ?"

"किसी विषय पर मन को एकाग्र करना ही ध्यान है। किसी एक विषय पर मन की एकाग्रता होने से चाहो उससे जो करवा सकते हो।"

"शास्त्र में 'ध्यान' दो प्रकार के बताए गए हैं। उनमें कौन-सा श्रेष्ठ है ?"

"प्रथम किसी एक विषय पर आश्रित होकर ध्यान का अभ्यास करना पड़ता है। मैं किसी समय एक छोटे-से काले बिन्दु पर मन को एकाग्र किया करता था। कुछ दिन के अभ्यास के बाद मुझे वह बिन्दु दीखना बन्द हो जाता था। मैं विचार नहीं कर सकता था कि वह मेरे सामने है या नहीं। वायुहीन समुद्र के समान मन का सम्पूर्ण निरोध हो जाता था। वृत्तिरूपी कोई लहर शेष नहीं रहती थी। ऐसी अवस्था में मुझे अतीन्द्रिय सत्य की परछाई कुछ-कुछ दिखाई देती थी। सो मेरा

विचार है कि किसी सामान्य बाहरी विषय का भी आश्रय लेकर ध्यान का अभ्यास करने से मन की एकाग्रता होती है। जिसमें जिसका मन लगता है, उसी का आश्रय लेकर ध्यान का अभ्यास करने से मन शीघ्र एकाग्र हो जाता है। इसीलिए हमारे देश में इतने देवी-देवताओं की मूर्तियां पूजने की व्यवस्था है। देव-देवी पूजा से ही शिल्प की उन्नति हुई है। खैर ! इस बात को छोड़ो। ध्यान का बाहरी अवलम्बन सबका एक नहीं हो सकता। जिसका जिस विषय के आश्रय से ध्यान सिद्ध हो गया, वह उस अवलम्बन का प्रचार कर गया। ये मन को स्थिर करने के लिए हैं। इस बात के भूलने पर लोगों ने इन बाहरी अवलम्बनों को श्रेष्ठ समझ लिया। जो उपाय था, उसको लेकर लोग मग्न हो रहे हैं; और जो उद्देश्य था, उस पर लक्ष्य कम हो गया है। मन को वृत्तिहीन करना ही उद्देश्य है। किन्तु किसी विषय में तन्मय न होने से यह कभी नहीं हो सकता।"

"मनोवृत्ति के विषयाकार होने से उसमें फिर ब्रह्म की धारणा कैसे हो सकती है ?" स्वामी प्रकाशानन्द ने पूछा।

"वृत्ति पहले विषयाकार होती है, यह ठीक है; पर तत्पश्चात् उस विषय का कोई ज्ञान नहीं रहता, तब शुद्ध 'अस्ति' मात्र का ही बोध रहता है।"

"महाराज, मन की एकाग्रता होने पर भी कामनाओं व वासनाओं का उदय क्यों होता है ?"

"यह सब पूर्व संस्कार से होता है। बुद्धदेव जब समाधि अवस्था को प्राप्त करने ही वाले थे, उस समय भी 'मार' उनके सामने आया था। 'मार स्वयं' कुछ भी नहीं था, वरन मन के पूर्व संस्कार का ही छाया रूप था जिससे बाहर प्रकाश हुआ था। मेरे विचार में जीवन-समस्या का गूढ़ अर्थ निकालना और किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। इसके लिए 'त्याग' ही सर्वोपरि है।"

शिष्य की जिज्ञासाएं समाप्त हुई। सूर्य छिप चुका था। स्वामीजी 'शिव ! शिव!!' कहते हुए खड़े हो गए।

2

स्वामीजी अपने कार्य क्षेत्र के प्रत्येक पहलू पर गम्भीरता से विचार कर रहे थे। उन्होंने श्रीरामकृष्णदेव के भक्तजनों की एक सभा की और संघ के प्रधान संचालक को चुनने की बात की। स्वामीजी का विचार था कि श्रीरामकृष्णदेव के नाम

पर विश्वास करके वे सब उनके भक्त व सन्यासी बने हैं। उन्होंने उन्हें अपना जीवन आदर्श स्वीकार किया है, सो श्रीरामकृष्ण के नाम पर एक संघ बनना आवश्यक है ताकि सारा कार्य सुचारु रूप से चलता रहे। स्वामीजी ने भक्तगणों से निवदेन किया कि वे इस कार्य में उनका सहयोग करें।

गिरीशचन्द्रजी व अन्य गृहस्थजनों ने स्वामीजी के प्रस्ताव पर अपनी सहमति प्रदान की और मिलजुल कर एक रूप रेखा बना डाली। संघ का नाम 'रामकृष्ण मिशन' रखा गया। इस संघ का उद्देश्य मनुष्य मात्र की दैहिक, मानसिक व पारमार्थिक उन्नति रखी गई। इसके संचालन के लिए एक समिति का गठन किया गया, जिसके साधारण सभापति स्वामी विवेकानन्द नियुक्त किये गये। कलकत्ता केन्द्र के सभापति स्वामी ब्रह्मानन्द नियुक्त किये गए, तथा सहायक के रूप में स्वामी योगानन्द को नियुक्त किया गया। समिति ने डॉक्टर शशिभूषण व शरच्चन्द्र सरकार को अंडर सैक्रेटरी तथा एटर्नी, बाबू नरेन्द्रनाथ मित्र को सचिव बनाया।

समिति में यह तय किया गया कि प्रत्येक रविवार को स्व० बलराम वसु के मकान पर मीटिंग हुआ करेगी। इस मीटिंग में स्वामीजी उपदेश किया करेंगे।

स्वामीजी के आशानुरूप बड़ी सुगमता से समिति का गठन हो गया। उन्होंने सभी सदस्यों को धन्यवाद दिया और स्वामी योगानन्द से बोले—"एक महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुआ। अब देखें, श्रीगुरुदेव की इच्छा कहां तक पूर्ण होती है। मैं जो कुछ कर रहा हूं, श्रीगुरुदेव की अनुकम्पा से कर रहा हूं। प्रभु की इच्छा से सर्वत्र विजय होगी। श्रीगुरुदेव के एक कटाक्ष से लाखों विवेकानन्द पैदा दो सकते हैं।"

"महाराज, गुरुदेव कहा करते थे कि नरेन्द्र में ऋषियों का वेद ज्ञान, शंकर का त्याग, बुद्ध का हृदय, शुकदेव का मायारहित भाव और ब्रह्मज्ञान का पूर्ण विकास एक साथ निहित है।"

"अरे ! यह सब, कुछ नहीं है—गुरुदेव की अनुकम्पा महान है। यह गर्व कभी न पाल लेना कि—मैं या तुम कुछ हैं।"

स्वामीजी ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की और उस दिशा में कार्य करवाने लगे। कुछ रामकृष्ण भक्तों को इस कार्य में वैदेशिक पद्धति दृष्टिगत हुई। यहां तक कि उनके एक गुरुभाई ने भी इस विषय में सन्देह प्रकट किया।

"श्रीरामकृष्णदेव एकान्त भक्ति के साथ अनन्यचित्त होकर साधन-भजन की सहायता से ईश्वर प्राप्त का सन्देश देते हैं। इस दृष्टि से हमारे कार्यों का श्रीरामकृष्ण देव की शिक्षाओं से कोई सामंजस्य नहीं है।"

"इसका आशय यह हुआ कि आप श्रीरामकृष्णदेव को समझ नहीं पाए।"

स्वामी विवेकानन्द बोले।

"महाराज, आप सभी को कर्म, दीन दुःखियों को सेवा, शिक्षा का विस्तार, धर्म का प्रचार आदि करने का उपदेश दे रहे हैं। इन सब कार्यों से मन स्वाभाविक रूप से बहिर्मुख हो जाता है; और साधना में मन नहीं लगता। श्रीरामकृष्णदेव का उद्देश्य कभी भी मठ, मिशन, वेदान्त समिति, सेवाश्रम आदि की स्थापना करना नहीं रहा। ये सब पाश्चात्य कर्म हैं।" मुखरित स्वामीजी ने गुरुभाई को प्रत्युत्तर दिया।

"आपके कहने का क्या यही उद्देश्य है कि हमें जन साधारण में शिक्षा का प्रचार, धर्म का प्रचार, आर्त्त, रोगी, दरिद्रनारायण, अनाथ आदि की सेवा की ओर उन्मुख नहीं होना चाहिए। आप शायद इन सभी कार्यों को करने की चेष्टा को माया में आबद्ध होना मानते हैं। आप जिस भक्ति की बात करते हैं वह कापुरुषों की भावुकता है। मेरा मानना है कि हमें ज्ञान के शुष्क या कोरी भक्ति के पांडित्य का दिखावा नहीं करना है। हमें कर्म से विमुख नहीं होना है। कोई भी भक्ति या ज्ञान ऐसा उपदेश नहीं देता। मैं तो उस अलौकिक पुरुष का भृत्य हूं जो यह उपदेश दे कि दरिद्रनारायण की सेवा में अपना जीवन उत्सर्ग कर दो।"

गुरुभाई स्वामीजी की वाणी की सत्यता और दृढ़ता के सम्मुख खामोश हो गए। स्वामीजी आंधी से मथित जलनिधि सदृश कुछ देर भाव समाधि में रहे। कुछ कालोपरान्त उन्होंने अपने नेत्र खोले और गम्भीर स्वर में बोले—"मैंने गुरुदेव को प्रत्येक दृष्टि से खंगाला है, प्रत्येक कोण से तोला है। मैं एकाएक उनकी शरण में नहीं गया। मेरी उत्कट जिज्ञासा का जब हर दृष्टि से शमन हो गया, तो मैं उनका शरणागत हुआ। मेरी उनको जानने की प्रबल इच्छा का जब अन्त हुआ, तो उनके प्रति मेरी भक्ति व श्रद्धा जागी। इस भक्ति व श्रद्धा का वेग इतना प्रबल है कि आज मैं यदि श्रीरामकृष्णदेव के सम्बन्ध में अधिक देर बात करूं, तो उन्हीं के भाव से अभिभूत हो जाता हूं। अपने हृदय की इस भाव-भक्ति के प्रवाह की गति को रोकने की मैं निरन्तर कोशिश करता रहता हूं....जानते हो क्यों ?"

प्रश्न पूछने वाले गुरुभाई की दृष्टि ऊपर न उठ पा रही थी। स्वामीजी पुनः बोले—"मैंने कर्म की कठिन शृंखला से अपने को बींध रखा है, क्योंकि जगत को मेरा सन्देश देने का समय समाप्त नहीं हुआ। इसलिए जब भी मैं देखता हूं कि भक्ति का प्रबल प्रवाह मुझे बहाकर ले जाना चाहता है, तो उसी समय मैं कठोर ज्ञान के कठिन दंड को उठाकर आघात करता हुआ उन भावों को संयत कर लेता हूं। अभी मुझे अनेक कर्म करने होंगे....मुक्ति कहां है ? मैं तो श्रीरामकृष्णदेव का क्रीतदास हूं। वे जो अपने कर्मों का भार मेरे कन्धों पर छोड़ गए हैं, जब तक उसे समाप्त

न कर सकूं, तब तक वे विश्राम न करने देंगे। इसलिए मेरा कहना है कि बहस छोड़ो और श्रीरामकृष्णदेव के निमित्त अर्पित हो जाओ।"

वे सभी चर्चा में मग्न थे कि श्रीरामकृष्णदेव के परम भक्त साधु नाग महाशय पधारे। सभी ने उठकर उनका स्वागत किया और तदुपरान्त चर्चा आगे बढ़ी। नाग महाशय श्रीरामकृष्णदेव के अंतरंग संस्मरण सुनाने लगे। काफी देर बाद नाग महाशय उठे और लौटने का उपक्रम करने लगे कि स्वामी विवेकानन्द ने पूछ लिया—"नाग महाशय, मैं मठ, सेवाश्रम आदि की जो स्थापना कर रहा हूं, क्या वे पूजनीय गुरुदेव के उपदेशानुसार उचित हैं या नहीं ? कहीं ऐसा तो नहीं, मैं गलत दिशा में चल पड़ा हूं।"

नाग महाशय ने बेबाकी से अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया—"महाराज, आप जो कुछ कर रहे हैं, मानव जाति के हितार्थ कर रहे हैं। श्रीरामकृष्णदेव का उद्देश्य यही था।"

सभी जानते थे कि नाग महाशय श्रीरामकृष्णदेव को अर्पित थे; और दिन के प्रत्येक क्षण में उन्हीं के भाव में डूबे रहते थे। उनके कथन से सारा विवाद समाप्त हो गया। स्वामी विवेकानन्दजी के गुरुभाइयों के मन का संशय भी छंट गया।

स्वामी विवेकानन्दजी की शारीरिक अवस्था ठीक नहीं थी। लेकिन उनके दृढ़ मन और संकल्पित भावना के कारण शारीरिक अस्वस्थता गौण हो जाती। बलराम बाबू का मकान बंगाली नवयुवकों की प्रशिक्षण स्थली बनी हुई थी। ऋग्वेद की ऋचाओं के सामूहिक गान की ध्वनि और वैदिक चर्चा आसपास के वातावरण को निर्मल करती रहती थी। स्वामीजी शिष्यों को सायनाचार्य के भाष्य की व्याख्या समझाते और इस सम्बन्ध में विद्वान मैक्समूलर द्वारा की गई टिप्पणियों पर चर्चा करते चलते। उनकी मैक्समूलर के प्रति श्रद्धा थी और यही श्रद्धा कभी-कभी संस्मरण का रूप ले लेती। वे मैक्समूलर दम्पति को वशिष्ठदेव और देवी अरुन्धती के रूप में मानते थे। उन्हें स्मृति हो आती थी कि इंग्लैंड से उन्हें विदाई देते समय कैसे इस वृद्ध दम्पति के नेत्र भर आए थे !

स्वामीजी अध्यापन के साथ-साथ शिष्यों से खुली चर्चा भी करते थे। शिष्य निःसंकोच होकर सवाल पूछते थे। वे सायन और मैक्समूलर के मतों से संतुष्ट न होते थे तो स्वामीजी से पूछ बैठते—"इस विषय में आपका क्या मत है ?" स्वामीजी उन्हें अपना मत पूर्ण व्याख्या के साथ समझाते।

एक दिन इसी प्रकार का एक अहम् सवाल उभरा—"क्या सृष्टि का विकास वेद का आश्रय लेकर हुआ है ?" स्वामीजी का उत्तर था।

"सायन का यही मत है।"

"उन्होंने नाना प्रकार से सायन के मत को सिद्ध किया।" उनका कहना था।

"वेद का अर्थ अनादि सत्यों का समूह है। वेदज्ञ ऋषियों ने इन सत्यों को प्रत्यक्ष किया था। बिना अतीन्द्रिय दृष्टि के ये सत्य प्रत्यक्ष नहीं होते। इसी से वेद में ऋषि का अर्थ मंत्रार्थदर्शी है न कि यज्ञोपवीतधारी ब्राह्मण। ब्राह्मणादि जाति विभाग वेद के बाद हुआ था। वेद शब्दात्मक अर्थात् भावात्मक है। अनन्त भावराशि की समष्टि को वेद कहने हैं। 'शब्द' इस पद का वैदिक प्राचीन सूक्ष्म भावार्थ है जो फिर आगे अपने को स्थूल रूप से व्यक्त करता है। इसलिए प्रलयकाल में भावी सृष्टि का सूक्ष्म बीज समूह वेद में ही सम्पुटित रहता है। इसी से पुराण में पहले पहल मीनावतार से वेद का उद्धार दिखाई देता है। प्रथमावतार से ही वेद का उद्धार हुआ और फिर उसी वेद से क्रमशः सृष्टि का विकास होने लगा। वेद निहित शब्दों का आश्रय लेकर विश्व के सब स्थूल पदार्थों की एक-एक कर रचना होने लगी। क्योंकि शब्द का भाव सब स्थूल पदार्थों के सूक्ष्म रूप हैं। पूर्व कालों में भी इसी प्रकार की सृष्टि हुई थी। यह बात वैदिक सन्ध्या मंत्र में है—**'सूर्यचन्द्रमयसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् दिवञ्च पृथ्वी चान्तरीक्षमथो स्वः।'**

शिष्यों को इससे संतुष्टि न हुई। उन्होंने कई और प्रश्न किए—यथा, यदि कोई वस्तु ही न हो, तो शब्द किसके लिए प्रयोग होगा ? पदार्थों के नाम कैसे बनेंगे ? आदि।

इसके प्रत्युत्तर में स्वामीजी बोले—"वर्तमान अवस्था में ऐसा ही अनुमान होता है। लेकिन यह तो घट है, इसके टूट जाने पर क्या घटत्व का नाश हो जाएगा ? घट स्थूल है और घटत्व घट की सूक्ष्मावस्था है। इसी प्रकार सब पदार्थों की शब्दावस्था ही उनकी सूक्ष्मावस्था है। जिन वस्तुओं को हम स्पर्श करते हैं, देखते हैं, वे ऐसी शब्दावस्था में अवस्थित पदार्थों के स्थूल विकास मात्र है, जैसे कार्य व उसका कारण। जगत के नाश होने पर भी जगत बोधक शब्द अर्थात् सब स्थूल पदार्थों के सूक्ष्म स्वरूप ब्रह्म में कारण रूप से वर्तमान रहते हैं। जगद् विकास होने के पूर्व ही इन पदार्थों की सूक्ष्म स्वरूप समष्टि लहराने लगती है और उसी का प्रकृति स्वरूप शब्द गर्भात्मक अनादि नाद ओंकार अपने आप ही उठता है। उसके बाद उसी समष्टि से विशेष पदार्थों की प्रथम सूक्ष्म प्रतिकृति अर्थात् शाब्दिक रूप और तत्पश्चात् उनका स्थूल रूप प्रकट होता है। यह शब्द ही वेद है।"

स्वामीजी का व्याख्यायित गूढ़ार्थ शिष्यों की समझ में नहीं आया। उनके मुख पर उलझन के चिन्ह देखकर स्वामीजी बोले—"इन बातों की प्रत्यक्ष रूप से अनुभूति

होना सुगम नहीं है। मन जब ब्रह्मावगाही होता है, तभी वह एक-एक करके ऐसी अवस्थाओं में से होकर निर्विकल्प अवस्था में पहुंचता है। समाधि काल के पूर्वकाल में पहले अनुभव होता है कि जगत शब्दमय है, फिर वह शब्द गम्भीर ओंकार ध्वनि में लीन हो जाता है; तत्पश्चात् वह भी सुनाई देना बन्द हो जाता है और जो भी सुनने में आता है, उसके वास्तविक अस्तित्व पर सन्देह होने लगता है। इसी को अनादि नाद कहते हैं। इस अवस्था के आगे मन ब्रह्म में लीन हो जाता है। बस, यहां सब निर्वाक् और स्थिर हो जाता है। मैंने इसकी अनुभूति की है, पर दूसरों को ये बातें समझानी कठिन हैं।"

स्वामीजी तन्मय होकर शिष्यों से वार्तालाप कर रहे थे। एकाएक उनकी नजर पीछे बैठे गिरीश बाबू पर पड़ी। वे आनन्द से बोले—"अरे जी०सी०, आप कब आ गए ?"

"महाराज, कुछ ही देर हुई है।" गिरीश बाबू ने उत्तर दिया।

"मैं वेद चर्चा में निमग्न था।"

"मैं भी लाभ उठा रहा था चर्चा का।"

"आपको इन चीजों की आवश्यकता है ही कहां ? आपने तो जीवन को कृष्ण और विष्णुमय बना रखा है।"

"महाराज, वेद समझने की बुद्धि मुझ में कहां है....भगवान श्रीरामकृष्णदेव की कृपा से भव सागर पार कर लूंगा।"

"इसमें कोई सन्देह नहीं है। आपकी अटल आस्था इसका प्रतीक है।"

"लेकिन भाई, मेरे मन में कभी-कभी एक बात कौंधती है।"

"आप कवि और महान नाट्य लेखक हैं न। इस प्रकार के नाना प्रकार के विचार तो मन में कौंधेगे ही।"

"नरेन, मुझे एक बात बताओ। आपने वेद-वेदान्त पढ़े हैं। आप शास्त्र और पुराणों के विज्ञ हैं। लेकिन इन शास्त्रों में आज देश में फैले घोर हाहाकार, अन्नाभाव, व्यभिचार, भ्रूण-हत्या तथा अन्य महापातकादि कृत्यों के विषय में क्या लिखा है। क्या इन्हें दूर करने के कुछ उपाय वेद में बताए गए हैं ? आज उस मकान स्वामिनी के पास पकाने की कोई सामग्री नहीं है, जिसके यहां रोज जरूरतमंदों को पचास पत्तलें परोसी जाती थीं। उस मकान की स्त्रियों को गुंडों ने अत्याचार करके मार डाला है। आज हमारी आंखों के आगे जगह-जगह भ्रूण-हत्याएं हो रही हैं तो कहीं छल-कपट से विधवाओं तथा असहायों का धन लूटा जा रहा है। इस विषय में वेद क्या कहता है ? क्या उपचार है इसका ?"

स्वामी विवेकानन्द गिरीश बाबू के मुंह से इस सामाजिक दुर्दशा को सुनकर मर्माहत हुए। वे चुपचाप अश्रु बहाते रहे। गिरीश बाबू को दुःख हुआ कि उन्होंने स्वामीजी के हृदय को विचलित किया। स्वामीजी अपने मन को संयत करने के लिए बाहर चले गए। गिरीश बाबू उनके गुरुभाइयों व शिष्यों से बोले—"देखो, तुम्हारे गुरुदेव का हृदय कितना विशाल व संवेदनशील है ! मैं उनके पांडित्य व विद्वता का सम्मान नहीं करता बल्कि उनके उदार हृदय के कारण उन पर श्रद्धा रखता हूं। देखा, वे मानव मात्र का दुःख व कष्ट सुनते ही कितने करुणाद्र हो उठे। थोड़ी देर पहले वेद पर जो गूढ़ चर्चा हो रही थी, वे विचार, व्याख्याएं और विश्लेषण कहां तिरोहित हो गया ? यही महानता है; और यही सारे ज्ञान व विद्वता का सार है।"

गिरीश बाबू चले गए। कुछ देर में स्वामीजी संयत होकर कक्ष में आए और स्वामी सदानन्दजी से बोले—"इन्हीं कारणों से मैं जगह-जगह पर सेवाश्रमों की स्थापना की बात करता हूं, ताकि रुग्ण व सताए गए लोगों की सेवा हो सके। समाज की इसी रुग्ण अवस्था को देखकर मैंने संकल्प लिया है कि एक-एक व्यक्ति की वेदना को कम करने के लिए मैं सहस्र बार जन्म ग्रहण करने के लिए तैयार हूं। मैं अपनी मुक्ति नहीं चाहता। मैं तो प्रत्येक को मुक्त होने के लिए सहायता करने के लिए खप जाना चाहता हूं।"

स्वामीजी तो मठ, सेवाश्रमों की स्थापना कराने के लिए अपने को खपाने में लगे हुए थे। उनके गुरुभाई व शिष्य उनकी अस्वस्थता देखकर परेशान थे। वे चाहते थे कि स्वामीजी कुछ दिनों के लिए पूर्ण विश्राम के लिए अल्मोड़ा चले जाएं। लेकिन उनसे इस बाबत कहता कौन

इसी मध्य कुमारी मूलर इंग्लैंड से वापस लौट आईं। वे भी स्वामीजी की निरन्तर अस्वस्थता से चिंतित हुईं। वे स्वयं जाकर चिकित्सकों को लाईं और स्वामीजी का गहन परीक्षण करवाया। चिकित्सकों ने स्वामीजी को परामर्श दिया कि वे स्वास्थ्यवर्द्धक स्थान अल्मोड़ा चले जाएं और कुछ दिन पूर्ण विश्राम करें। कुमारी मूलर व गुरुभाईयों ने स्वामीजी से निवेदन किया कि वे कुछ दिनों के लिए अल्मोड़ा हो आएं। सेव्हियर दम्पति वहां पहले ही शिमला से होते हुए पहुंच चुके थे ताकि 'रामकृष्ण मिशन' के मठ व सेवाश्रम के लिए अच्छी सी जमीन तलाश सकें। पंडित ज्वालादत्त जोशी, लाला बद्रीसहाय व पंडित हरिराम आदि सेव्हियर दम्पति की आवभगत करने में लगे हुए थे। ये सभी लोग स्वामी विवेकानन्दजी के पुराने परिचित व परम भक्त थे।

इन लोगों का जब सूचना मिली कि स्वामी विवेकानन्द अल्मोड़ा पधार रहे हैं

तो इनके हर्ष ने सभी सीमाएं तोड़ डालीं। अल्मोड़ा के निवासी स्वामीजी के अभिनंदन की तैयारी करने लगे। स्वामीजी के एक शिष्य कुमारी मूलर के साथ अल्मोड़ा जा चुके थे और उनके स्वागत की सभी तैयारियों की देख-रेख कर रहे थे।

स्वामीजी के अल्मोड़ा जाने की बात सुनकर कुछेक ब्रह्मचारियों ने उनसे अनुरोध किया कि वे उन्हें सन्यास में दीक्षित कर दें। स्वामीजी ने उनकी श्राद्धादि क्रिया की व्यवस्था करवाई। ब्रह्मचारियों ने सिर मुंडन करवाया और गंगा स्नान करके शुभ्र वसन धारण किए और अगले दिन स्वामीजी का आशीर्वाद लेकर श्राद्ध क्रिबा के निमित्त तैयार हुए।

स्वामीजी इस विषय में कठोर सिद्धांतवादी थे। वे चाहते थे कि सन्यास लेने की सारी क्रियाएं वैदिक सम्मत होनी चाहिए। शास्त्रानुसार जो व्यक्ति सन्यास लेता है, उसे अपनी श्राद्ध क्रिया स्वयं करनी पड़ती है क्योंकि पुत्र-पौत्रादिकृत श्राद्ध या पिंड दानादि क्रिया का फल उसको स्पर्श नहीं करता। इस क्रिया को अधिवास-क्रिया कहा जाता है। स्वामीजी ने स्वयं भी इसी क्रियान्तर्गत गुरुभाइयों समेत श्रीरामकृष्णदेव के चित्र के सम्मुख सन्यास लिया था।

उपर्युक्त ब्रह्मचारियों ने अपनी श्राद्ध क्रिया स्वामी नित्यानन्दजी के सहयोग एवं स्वामीजी की देख-रेख में विधि-विधान से की। इन लोगों ने अपने श्राद्ध पिंड गंगाजी में अर्पित किए और वापस लौटकर स्वामीजी की चरण वंदना की। स्वामीजी बोले—"आज से तुम सबकी सांसारिक विषयों की ओर से मृत्यु हो चुकी है। कल से तुम्हारी नवीन देह, नवीन चिन्ता, नवीन वस्त्रादि होंगे। तुम ब्रह्मवीर्य से दीप्त होकर प्रज्वलित अग्नि के समान अवस्थान करोगे। धन्य है, तुम्हारा वंश और धन्य हैं तुम्हारी गर्भधारिणी माता—**कुलं पवित्र जननी कृतार्थ।**"

नव दीक्षित संन्यासियों के भाल स्वामीजी की वाणी सुनकर उन्नत हो गए। स्वामीजी मधुसिक्त स्वर में बोले—"वत्स, अपने संशय प्रकट करो।"

स्वामीजी के संकेत पर एक नव सन्यासी ने सवाल किया—"महाराज, सन्यास कितने प्रकार से लिया जा सकता है ? क्या इसके बिना मुक्ति पाने का और कोई मार्ग है ?"

"नहीं, मुक्ति पाने का मार्ग ही सन्यास है। जब तब तुम भीषण संसार की सीमा से बाहर नहीं आ जाते, जब तक वासना की दासता नहीं त्याग सकते, तब तक मुक्ति सम्भव नहीं है। सन्यास चार प्रकार का होता है।

1. विद्वत सन्यास—अचानक पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण यथार्थ वैराग्य उत्पन्न हो जाता है और व्यक्ति सन्यास ले लेता है। यही विद्वत सन्यास है।

2. विविदिषा सन्यास—आत्मतत्त्व जानने की प्रबल इच्छा से शास्त्र पाठ या साधनादि द्वारा अपने स्वरूप जानने के लिए किसी ब्रह्मपुरुष से सन्यास लेकर स्वाध्याय, साधना, भजन करने की ओर उन्मुख होना ही विविदिषा सन्यास कहलाता है।

3. मर्कट सन्यास—सांसारिक कष्ट, स्वजन वियोग अथवा अन्य किसी कारण से सन्यास ले लेना मर्कट सन्यास कहलाता है। लेकिन यह वैराग्य दृढ़ नहीं होता। चौथे प्रकार का सन्यास आतुर सन्यास कहलाता है।

4. आतुर सन्यास—यह रोग शैया या मुमूर्ष अवस्था में लिया जाता है। इस अवस्था में मनुष्य के बचने की कोई सम्भावना नहीं होती। उसके मर जाने पर भी उसे पवित्र सन्यास व्रत धारण करने के कारण अगला जन्म अच्छा मिलेगा। लेकिन यदि वह बच जाता है तो फिर संसार में नहीं लौटता अपितु ब्रह्मज्ञान प्राप्ति के लिए सन्यासी बनकर जीवन व्यतीत करेगा।"

महाराज, गृहस्थों के लिए आत्मा ज्ञान प्राप्ति का क्या साधन है ? सभी तो सन्यासी नहीं हो सकते ?"

"उन्हें सुकृति से जरूर किसी-न-किसी जन्म में वैराग्य उत्पन्न होगा और वे जन्म-मरण के बंधन से मुक्त होंगे लेकिन फिर भी देखा गया है कि यदि गृहस्थ-धर्म का विधि-विधान से पालन किया जाए तो मुक्ति हो सकती है।"

"महाराज, आपने अपने लम्बे भ्रमण के दौरान कुछ सिद्ध भी देखे होंगे। इनके विषय में कुछ बताइए। क्या इस सिद्धाई से ब्रह्मविद्या सीखने में कोई लाभ मिलता है ?"

"नहीं, ऐसी सिद्धाई का ब्रह्म विद्या से कोई लेन-देन नहीं है। मन में थोड़े से संयम से सिद्धाई प्राप्त की जा सकती है। मैं पहले इन बातों पर कोई विश्वास नहीं करता था। लेकिन दो-एक घटनाएं ऐसी देखीं कि कुछ समझ में नहीं आया। एक बार मैं हिमालय भ्रमण के दौरान एक पहाड़ी गांव में विश्राम के लिए रुक गया था। सांयकाल होते ही गांव में ढोल का शब्द सुना तो घर के मालिक से इस बाबत पूछा। पता लगा कि गांव में किसी मनुष्य पर 'देवता' चढ़ा है। मैं भी देखने गया। मुझे आश्चर्य हुआ कि देवाविष्ट मनुष्य के शरीर पर गरम की हुई लाल कुल्हाड़ी से जगह- जगह पर छुआया जा रहा है। कभी-कभी कुल्हाड़ी को उसके बालों पर भी लगाया जाता था। लेकिन हैरानी की बात थी कि उस व्यक्ति का कोई अंग न जलता था और न उसके चेहरे से कोई कष्ट झलकता था। मैं निर्वाक खड़ा था। मुखिया मेरे सम्मुख आया और उस व्यक्ति को ठीक कर देने की प्रार्थना

की। मुझे उस देवताविष्ट व्यक्ति के पास जाना ही पड़ा। मैंने कुल्हाड़ी की परीक्षा की, पर उसके फल पर हाथ लगाते ही मेरा हाथ जल गया। मैं जलन के मारे बेचैन हो गया। मेरी जो कुछ तर्क शक्ति थी, वह लोप हो गई। मैंने अपनी पीड़ा की अनदेखी करके, उस देवाविष्ट व्यक्ति के सिर पर हाथ रखकर जप किया। कुछ देर बाद वह ठीक हो गया। गांव वालों की मेरे प्रति श्रद्धा व भक्ति का कोई ठिकाना न रहा। मैं आज तक समझ नहीं पाया कि कुल्हाड़ी का गरम लाल फल उस मनुष्य के शरीर को दग्ध क्यों नहीं कर पाया, जबकि जरा से स्पर्श से मेरा हाथ जल गया था। पृथ्वी में ऐसी अनेक घटनाएं हैं जिनका समाधान किसी भी स्तर पर नहीं हो सकता।

ऐसी ही एक घटना मेरे मद्रास प्रवास के दौरान भी घटी थी। मैंने एक दिन स्वप्न में देखा कि मेरी मां का देहान्त हो गया। मैं बड़ा दुःखी हुआ। उस समय मैं मठ से बहुत कम पत्र व्यवहार करता था। घर तो पत्र भेजने का सवाल ही नहीं उठता था। मैंने स्वप्न की बात मन्मथ बाबू से कही और कलकत्ता एक तार भेजने के लिए कहा। मेरा जी बहुत घबरा रहा था। मेरे मद्रासी शिष्य अमेरिका जाने का सब प्रबन्ध कर चुके थे। लेकिन मेरा मन मां की कुशलक्षेम जाने बिना किसी निश्चित दिशा को न पकड़ पा रहा था। मेरे मन की द्विविधा को देखकर मन्मथ बाबू बोले—"महाराज, यदि आप ठीक समझें तो नगर से बाहर रहनेवाले एक पिशाच मनुष्य के पास चलें। वह भूत ....भविष्य, शुभ....अशुभ संवाद बतला सकता है। मैं मन्मथ बाबू एवं आलासिंगा को लेकर उस व्यक्ति के पास गया। मुझे हैरानी हुई उसका रूप देखकर। वह श्मशान के पास बैठा था....मृतक-सा। उसका रंग काला एवं देह सूखी हुई थी। आलासिंगा ने उसे अपनी भाषा में हमारे आने का कारण समझाया। एक पैंसिल लेकर वह पिशाच-सिद्ध मनुष्य काफी देर तक कुछ लिखता रहा; और फिर अपने मन को एकाग्र करके स्थिर हो गया। उसके बाद उसने मेरा नाम, गोत्र इत्यादि चौदह पीढ़ी तक की बात बताई और कहा कि श्रीरामकृष्णदेव मेरे साथ सर्वदा फिर रहे हैं। उसने माताजी का मंगल समाचार भी सुनाया और कहा कि मुझे धर्म प्रचारार्थ शीघ्र बहुत दूर जाना पड़ेगा। मैं मन्मथ बाबू के घर लौटा कि सेवक ने मेरी मां के कुशलक्षेम का तार मेरे हाथ पर रख दिया।"

"इसका मतलब हुआ महाराज कि इन बातों में भी सार तो है ही।"

"इन सब व्यर्थ की बातों को मन में तिल भर स्थान भी न देना। भूत-प्रेत-पिशाच की बातें करने से मनुष्य वैसे ही बन जाते हैं। हमें नित्य विचार करना चाहिए कि

हम नित्य-शुद्ध-बुद्ध व मुक्त आत्मा हैं। सदैव सत् वह असत् पर विचार करो और आत्मा को प्रत्यक्ष करने के निमित्त प्राणप्रण से यत्न करो। आत्मज्ञान श्रेष्ठ है, शेष तो माया है, जादू है।"

रात के ग्यारह बज चुके थे। स्वामीजी भोजन करके विश्राम के लिए चले गए।

अगले दिन वे कुछ शिष्यों व गुरुभाइयों के साथ अल्मोड़ा रवाना हुए। उनके अल्मोड़ा के भक्त व शिष्यों ने लोदिया नामक स्थान तक जनसमूह को साथ लेकर स्वामीजी का हार्दिक स्वागत किया। वे लाला बद्रीसहाय के आतिथ्य में अल्मोड़ा से बीस मील दूर एक मकान में रहने लगे। मकान का अपना एक लम्बा-चौड़ा उद्यान था। सामने ही हिमालय की पर्वत शृंखलाएं अपना वैभव प्रदर्शित कर रही थीं। स्वामीजी के कर्मश्रान्त मन को इस एकान्त वतावरण में अपूर्व शान्ति मिली। वे प्रभात व रात्रि में अधिकांश समय में ध्यानमग्न रहते थे। धीरे-धीरे उनके स्वास्थ्य में सुधार होने लगा।

एकान्तवास करने के वावजूद भी स्वामीजी अपने कार्यक्षेत्र से जुड़े हुए थे। अमेरिका व इंग्लैंड से स्वामी शारदानन्दजी व स्वामी अभेदानन्दजी के निरन्तर पत्र आ रहे थे। उनका लिखना था कि मिशनरी चैन से नहीं बैठे हैं। वे उनके प्रति निरन्तर विष वमन कर रहे हैं और झूठे निन्दावादों का प्रचार कर रहे हैं। यहां तक कि शिकागो धर्म सभा के सभापति डॉ० बैरोज भी मिशनरियों का पक्ष प्रचार करने लगे हैं। उनका कहना है कि स्वामीजी ने भारत जाकर अमेरिका की महिलाओं के आचार व्यवहार की आलोचना की है।

स्वामी अभेदानन्दजी व शारदानन्दजी ने इन बातों के प्रमाण में अमेरिका व इंग्लैंड के ढेर सारे समाचार-पत्र भेजे व सूचित किया कि इस विरोध के बावजूद भी उनके भक्त व शिष्य स्वामीजी के शरणागत हैं; और वेदान्त का प्रचार कार्य स्वाभाविक गति से चल रहा है।

स्वामी विवेकानन्दजी ने अपने दोनों गुरुभाइयों को लिखा—"सहज गति से चलते रहो। इन बातों की चिन्ता मत करो। नवीन तत्त्व, नवीन नीति, नवीन भाव के प्रचार में प्रत्येक महापुरुष को विघ्न, आपदा, विपत्ति व निन्दा-अपवाद के घेरों में घिरना पड़ा है। लेकिन वे इससे मानवजाति के कल्याण के लिए कार्य करने से विरत नहीं हुए। अविचलित रहकर अपना कार्य किए जाओ।"

स्वामीजी के पास मुर्शिदाबाद से स्वामी अखंडानन्दजी का पत्र भी आया कि वे प्राणप्रण से दुर्भिक्ष पीड़ित व्यक्तियों की सेवा में लगे हुए हैं। स्वामीजी इस समाचार से प्रसन्न हुए और स्वामीजी अखंडानन्दजी की मदद के लिए स्वामी नित्यानन्द व

ब्रह्मचारी सुरेशानन्दजी को तुरन्त मुर्शिदाबाद जाने के लिए पत्र लिखा।

स्वामीजी को अपने यूरोपीय मित्र व भक्तों के पत्र भी निरन्तर प्राप्त हो रहे थे। इनमें से इंग्लैंड की कुमारी मारग्रेट नोबल का पत्र हृदयतंत्री को झंकृत करने वाला था। उसने स्वामीजी को याद दिलाया था कि उन्होंने समय मिलते ही उसे भारत बुलाने के लिए कहा था। वह काफी लम्बी प्रतीक्षा से गुजर चुकी हैं किन्तु आशा नहीं दिखती। अब उसने ठान लिया है कि वह भारत पहुंचेगी। स्वामीजी ने उसके पत्र के उत्तर में लिखा।

अल्मोड़ा

29 जुलाई, 1897

प्रिय कुमारी नोबल,

श्री स्टर्डी का पत्र मुझे कल ही प्राप्त हुआ है। तुम्हारा पत्र भी मिला। मुझे ज्ञात हुआ है कि तुमने भारत आने का और स्वयं सब चीजों को देखने की ठान ली है। मैंने कुमारी मूलर से तुम्हारे इस संकल्प के विषय में जो कुछ सुना, उससे आवश्यक हो गया कि तुम्हें सीधे ही पत्र लिखूं।

मैं तुम्हें स्पष्ट रूप से कहना चहाता हूं कि मुझे विश्वास है कि भारत के काम में तुम्हारा भविष्य उज्जवल रूप धारण करेगा। आवश्यकता है स्त्री की, पुरुष की नहीं....सच्ची सिंहनी की जो भारतीयों के लिए, विशेषकर स्त्रियों के लिए काम करे।

भारत जब तक महान महिलाओं को उत्पन्न नहीं करता, तब तक उसे दूसरे राष्ट्रों की साहसी महिलाओं की जरूरत पड़ेगी। तुम्हारी शिक्षा, सच्ची भावना, पवित्रता, महान प्रेम, दृढ़ निश्चय और सबसे अधिक तुम्हारे सेल्टिक (Caltic) रक्त ने तुमको वैसी ही नारी बनाया है, जिसकी आवश्यकता है।

परन्तु यहां कठिनाइयां भी बहुत अधिक हैं। यहां जो दुःख, कुसंस्कार और दासत्व हैं, उसकी तुम कल्पना भी नहीं कर सकतीं। तुम्हें यहां एक अर्धनग्न स्त्री-पुरुष के समूह में रहना होगा। इन लोगों में जाति और पृथकता के विचार विचित्र हैं। ये भय और द्वेष से सफेद चमड़ी वालों से दूर रहना चाहते हैं; और सफेद चमड़ी वाले लोग इनसे अत्यन्त घृणा करते हैं। तुम इन लोगों के बीच काम करोगी तो श्वेत लोग तुम्हें सनकी समझेंगे और तुम्हारे आचार-विचार को सशंकित दृष्टि से देखेंगे।

यहां भयंकर गर्मी पड़ती है। अधिकांश स्थानों पर हमारा शीतकाल तुम्हारी गर्मी के समान होता है; और दक्षिण में हमेशा आग बरसती रहती है। यहां के नगरों के बाहर विलायती आराम की कोई सामग्री नहीं मिल सकती। इन सब बातों के बावजूद भी तुम यदि यहां काम करने का साहस करोगी, तो हम तुम्हारा स्वागत

करेंगे....सौ बार स्वागत करेंगे। मेरे विषय में यह बात है कि जैसे अन्य स्थानों में मैं कुछ नहीं हूं, वैसे ही यहां भी कुछ नहीं हूं....फिर भी जो कुछ मेरी सामर्थ्य होगी, वह तुम्हारी सेवा में लगा दूंगा।

इस कार्यक्षेत्र में उतरने से पहले तुमको अच्छी तरह विचार कर लेना चाहिए। मैं तुम्हें वचन देता हूं कि यदि काम करने के बाद तुम असफल हो जाओ अथवा अप्रसन्न हो जाओगी; और तुम भारत के लिए काम करो या न करो, चाहे तुम वेदान्त त्याग दो या उसमें स्थित रहो, मैं मृत्यु पर्यन्त तुम्हारे साथ हूं। 'हाथी' के दिखाने वाले दांत बाहर निकलते हैं, अन्दर नहीं जाते।' इसी प्रकार मनुष्य के वचन वापस नहीं फिर सकते। यह मैं तुमसे प्रतिज्ञा करता हूं। मैं फिर से तुम्हें सावधान करता हूं कि तुमको अपने पैरों पर खड़ा होना चाहिए तथा कुमारी मूलर आदि के आश्रित न रहना चाहिए। वह अपने ही ढंग की शिष्ट महिला हैं, किन्तु दुर्भाग्यवश वह जब बालिका ही थी, तभी से उसके मन में यह बात समा गई है कि वह जन्म से ही एक नेता है; और संसार को हिलाने के लिए धन के अतिरिक्त अन्य किसी गुण की आवश्यकता नहीं है। यह भाव फिर-फिरकर उसकी इच्छा के विरुद्ध उसके मन में उठता है और थोड़े दिनों में तुम देखोगी कि उसके साथ मिलकर रहना तुम्हारे लिए असम्भव हो जाएगा। अब उसका विचार कलकत्ते में एक मकान लेने का है, जहां तुम और वह तथा अन्य यूरोपियन व अमेरिकन मित्र आकर रहना चाहो तो रह सकते हो।

उसका विचार शुभ है, परन्तु साधिका बनने का उसका संकल्प दो कारणों से कभी सफल नहीं हो सकता....एक तो उसका स्वभाव क्रोधी तथा अंहकार युक्त है तथा दूसरी ओर उसका अस्थिर मन है। मेरे विचार में बहुतों से मित्रता करना दूर से ही अच्छा रहता है। ध्यान रखो कि जो मनुष्य अपने पैरों पर खड़ा होता है, उसका हमेशा भला होता है।

श्रीमती सेव्हियर नारियों में एक रत्न हैं। वे गुणवती और दयालु हैं। केवल सेव्हियर दम्पति ऐसे अंग्रेज हैं जो भारतवासियों से घृणा नहीं करते, इनमें मि० स्टर्डी भी शामिल नहीं हैं। श्रीमान और सेव्हियर दम्पति दो ही व्यक्ति ऐसे हैं जो अभिमान-पूर्वक हमें उत्साह दिलाने आए हैं, परन्तु उनका अभी कोई निश्चित कार्यक्रम नहीं है। तुम जब यहां आओ तो उन्हें अपने साथ काम पर लगाओ। इससे तुम्हें भी सहायता मिलेगी और उन्हें भी। लेकिन अन्त में अपने पैरों पर खड़ा होना ही श्रेयस्कर है।

मैंने सुना है कि अमेरिका की बोस्टन निवासी मेरी दो मित्र श्रीमती बुल व कुमारी मैक्लिआड शरद ऋतु में भारत आने वालीं हैं। कुमारी मैक्लिआड से तुम

लंदन में मिली थीं।

मैं तुमको यह सलाह दूंगा कि यदि तुम इन लोगों के साथ आओ तो यात्रा में कष्ट कम पाओगी। वे यूरोप होते हुए आएंगी। तुम्हें मेरा अनन्त प्यार।

भगवत्पदाश्रित

विवेकानन्द

स्वामीजी ने कुमारी नोबल को अपनी अनुभव की गई बातें लिखीं। वे अपने साथ जुड़े हुए हर व्यक्ति का गहरा अध्ययन करते थे और जहां तक हो सके, उन्हें सही दिशा में चलने के लिए प्रेरित करते थे।

स्वामी विवेकानन्दजी को मद्रास से स्वामी रामकृष्णानन्द का पत्र भी प्राप्त हुआ। उन्होंने भी प्रचार कार्य की सफलता के बाबत लिखा था। स्वामीजी अपने शिष्य से बोले—"वत्स, चारों ओर उत्साह छाया हुआ है और मैं यहां आराम कर रहा हूं। यह तो कुछ ऐसी बात हो गई कि रणभेरियां बज रही हों; और सेनापति सुख की नींद सो रहा हो। मेरे सैनिक कर्मक्षेत्र में जूझ रहे हैं और मैं....मुझे अल्मोड़ा छोड़ना होगा।"

स्वामीजी के प्रियजनों तक यह खबर पहुंची। उन्होंने स्वामीजी को रोकने का प्रयास नहीं किया। हां, यह निवेदन जरूर किया कि वे प्रवचन देकर उन्हें कृतार्थ करें। अल्मोड़ा के अंग्रेज भी स्वामीजी की ओजस्वी वाणी सुनने को उत्सुक थे।

स्थानीय जिला स्कूल में गोरखा ब्रिगेड के कर्नल पुली के सभापतित्व में सभा का आयोजन किया गया। यहां स्वामीजी ने लोगों के आग्रह पर हिन्दी भाषा में भाषण देकर अपने वक्तृत्व कला की छाप छोड़ दी। कर्नल पुली ने स्वामीजी से अनुरोध किया कि सैन्य क्लब में भी वे प्रवचन देकर उन्हें अनुगृहीत करें। स्वामीजी ने वहां 'वैदिक उपदेश : तात्विक और व्यावहारिक' विषय पर अपना संदेश दिया।

स्वामीजी का कहना था कि पाश्चात्य ईश्वरीय उपासना प्रणाली में धार्मिक व मौलिक महत्त्व के रहस्यों का उत्तर वाह्य जगत में ढूंढने का प्रयास किया जाता है जबकि प्राच्य प्रणाली इन सब बातों का उत्तर अपनी अन्तर्रात्मा में ढूंढ़ निकालने की कोशिश करती है। हिन्दू जाति को इस अन्तर्निरीक्षण प्रणाली को ढूंढ़ने का श्रेय जाता है। इसी जाति ने मानव समाज को आध्यात्मिकता की अमूल्य निधि भी दी है।

इसके बाद वे आत्मा व ईश्वर विषय पर आए। उन्होंने बताया कि आत्मा ईश्वर से एक रूप होने के लिए लालायित रहती है तथा अन्त में अपने सद्प्रयासों से ईश्वर में लीन हो जाती है। श्रोताओं को आभास हो रहा था कि उनके सामने

स्वामी विवेकानन्द के रूप में प्रत्यक्ष ब्रह्म ही अवतरित हुआ है। अंग्रेजों का कहना *था कि इस काले व्यक्ति में अद्‌भुत शक्ति है।*

स्वामीजी प्रवचन के उपरान्त निवास स्थल को लौटे तो गुरुभाई ने उनके हाथ में पंजाब तथा कश्मीर के भक्तगणों के निमंत्रण पत्र रख दिए। स्वामीजी ने इन प्रदेशों की ओर जाने का मानस बना लिया।

कैप्टन सेव्हियर व अन्य अतिथिगण यहां के स्थानीय लोगों से परिचित होने के लिए कुछ और दिन इसी इलाके में भ्रमण करना चाहते थे। सो स्वामीजी अपने एक गुरुभाई व कुछ शिष्यों को वैदिक प्रचार तथा सेवाश्रम की स्थापना के लिए यहीं छोड़ गए थे।

कुमारी मूलर यहां के अंग्रेजों से घुलमिल गई थीं। स्थानीय लोगों से वह दूर रहती थी। उसका विचार भी भारत के अन्य स्थानों की ओर जाने का था, पर कुछ दिन बाद।

स्वामीजी भी एकान्त चाहते थे और चाहते थे कि कश्मीर की वादियों में अकेले घूमें। लेकिन अपने गुरुभाई व दो शिष्यों को उन्हें साथ लेना पड़ा। वे किसी भी हालत में स्वामीजी को अकेले न छोड़ना चाहते थे, सो स्वामीजी के साथ-साथ इन्होंने भी अल्मोड़ा से विदा ली।

स्वामीजी का मन हरख रहा था। वे जानते थे कि उन्हें उन सब स्थानों से निमंत्रण मिलेंगे, जहां वे एक बार पहले जा चुके थे। उन्हें वहां जाना होगा, क्योंकि लोग पूर्व के स्वामी विविदिशानन्द (स्वामी विवेकानन्द) को उनके दिग्विजय के उपरान्त के प्रांजल रूप में देखना चाहते थे और उनके श्रीमुख से अनुभूत आध्यात्मिकता के स्वर सुनना चाहते थे।

स्वामीजी की भी हार्दिक इच्छा थी कि एकान्त और निर्मल वातावरण में एक बार पुनः अपने विगत पर दृष्टि डालें जो आज इतिहास बनता जा रहा है। यही सोचते-सोचते वे कई राज्यों को पार करते हुए कश्मीर पहुंचे। वहां अवसर मिलते ही वे अकेले निर्जन पथ पर निकल पड़े।

वे इस समय मौन, निःशब्द चले जा रहे थे। इतिहास करवट ले चुका था। स्वामी विवेकानन्द के पैर धीरे-धीरे कश्मीर की पगडंडियों को रौंद रहे थे और मन अपने इतिहास के शुरूआत के पृष्ठों को टटोल रहा था।

कलकत्ता के गौर मोहन मुखर्जी स्ट्रीट का दृश्य, अतीत का वैभव, संघर्ष और साधना की दिशा में बढ़ते कदमों की पदचाप उन्हें सुनाई दे रही थी। इसी मकान में उन्नीसवीं शदी के इस नायक का जन्म हुआ था। यहीं इसकी बाल क्रीड़ाओं की

नटखटता, किशोर वय की ऊधमबाजियां और शिक्षा का दौर चला। इसी मकान से इसकी साधना की लीक चली जो बाद में इंग्लैंड व अमेरिका तक पहुंची। आज वह दुनिया की दृष्टि में स्वामी विवेकानन्द है....एक जाज्वल्यमान नक्षत्र, प्रखर और निष्णात सन्यासी, वेदज्ञ और धर्म का ज्ञाता।

सन्यास ने उसे बन्धु-बांधवों से छिटका दिया है। लेकिन मन आज एकान्त पाकर लौट चला था अतीत में। 'आप' से 'वह' बनकर प्रवाहित हो रहा था उसका मन।

3

वह चलते-चलते मार्ग के किनारे ठिठक गया था। मन विस्मय से पगला रहा था, उसने जिस मन को वर्षों की साधना में रंगकर कुंदन बना लिया था, आज पहाड़ों के रंग की विचित्रता, इन्द्रधनुष का रंग, दिन डूबते समय के मेघों का वर्ण, नीलाभ आसमान, दूर-दूर तक फैली पर्वत शृंखलाएं और कहीं-कहीं प्रचंड वेग से नीचे के बड़े-बड़े शिलाखंडों पर पगलाया-गिरता-पछाड़ खाता जलप्रपात देखकर बांसों उछल रहा था।

अचानक उसके सिर के ऊपर मेघों का एक दल नृत्य करने लगा। उसका मन दोराहे पर आकर खड़ा हो गया। यहीं अविचलित खड़ा होकर प्रकृति के रंगों से भीगता रहूं और या फिर तेजी से कदम बढ़ाकर किसी शरण स्थली की तलाश में जाऊं। उसे अपने हितचिंतकों की सलाह याद आई—"आपकी तबियत अभी पूरी नहीं सुधरी है सो बरसात और ठंडी हवाओं से अपनी देह बचाना।" वह अल्मोड़ा (कुमाऊं) से ढाई मास के प्रवास के बाद स्वस्थ होकर बरेली, अम्बाला, अमृतसर, रावलपिंडी, मरी और बारमूला होते हुए श्रीनगर पहुंचा था। यहां वह राजभवन में अतिथि था, लेकिन श्रीनगर के प्रधान न्यायमूर्ति बाबू ऋषिवर मुखोपाध्याय के घर पर भी उसकी पूरी सेवा हो रही थी। उसका जी जहां चाहता, वहां वह चला जाता।

मन ने पहले विचार का साथ दिया। उसकी अन्तर्रात्मा से झरना फूटा—"प्रकृति मां से डर कैसा ? सागवान, शीशम और चीड़ के घने जंगलों से होता यहां तक पहुंचा हूं....सनीबैंक से कोहाला, झेलम वैली रोड होता हुआ। कश्मीर के इस पथ को बिरले ही पथिक चुनते हैं। लेकिन मुझे तो अपनी भारत मां के चप्पे-चप्पे के दर्शन करने हैं। स्थान-स्थान पर बसे हुए उसके पुत्र-पुत्रियों से मिलना है। कितना सौभाग्य है मेरा,

जो इस पुण्य भूमि में जन्म लिया है ! विश्व में इतनी पवित्र धरित्री और कहां है ? हमारे पुराणों, महाकाव्यों में वर्णित हिमालय प्रान्त की इस सीमा में भारतीय सभ्यता और संस्कृति का सनातन रूप बिखरा हुआ है। इसी को समेटने और आत्मसात् करने के लिए मैंने यह विकट, सुरम्य स्थली भ्रमण के लिए चुनी है।"

वह विचारों की नदी में बहता जा रहा था। बादल गरजे और फुहारें पड़ने लगीं। वह भीगता रहा। रिमझिम तेज हुई किन्तु वह वहां से हिला नहीं और न उसका ध्यान भंग हुआ। वह तो नेत्रों को मूंदे हुए निश्चल बुत की तरह खड़ा था।

शाम का धुंधलका फैलने लगा था। अन्धेरा पंख फड़फड़ा कर उतर रहा था। उस धुंधलकी चादर को चीरता हुआ एक व्यक्ति तेज कदमों से इसी रास्ते पर बढ़ा चला आ रहा था। उसे अपने गन्तव्य तक पहुंचने की शीघ्रता थी। अचानक उसकी दृष्टि कुछ दूरी पर मार्ग के किनारे खड़ी गेरुए वस्त्रधारी आकृति पर पड़ी। उसके कदम भय के मारे ठिठक गए। वह पहले ही शीत से ठिठुर रहा था और अब तो उसका सम्पूर्ण गात थरथराने लगा। उसने मन में सोचा—"ओह ! लोगों से सुना था कि इस रास्ते पर बहुधा बुरी आत्माएं भटकती रहती हैं। तरह-तरह के वेश में।"

वह समझ नहीं पा रहा था कि क्या करे। उसे आगे जाना था। कुछ ही दूरी पर उसका गांव था। वह रास्ते से हटकर ऊपर या नीचे होकर आगे बढ़ सकता था। लेकिन वह इस संकट में नहीं पड़ना चाहता था....क्या पता कौन-सी आत्मा कैसी रूप धारण कर ले और उसे घसीट कर कहां ले जाए ?

अपने भय को दूर करने के लिए उसने कोई मंत्र बुदबुदाया और अपनी इच्छा शक्ति को मजबूत बनाकर कदम आगे बढ़ाए। वह गेरुए वस्त्रधारी के निकट पहुंचा ही था कि दामिनी कौंधी। उस व्यक्ति के मुंह से स्वर निकला—"ओह ! यह तो कोई योगी है। उसे अपने मां-बाप की दी हुई सीख याद आई—भूत, प्रेत, पिशाच किसी भी रूप में सुनसान इलाके में किसी जगह भी प्रकट हो सकता है। ऐसे में मुंह से कोई शब्द निकाले बिना उसे साष्टांग दंडवत करो, तो वह अपनी राह चला जाता है।"

वह व्यक्ति गेरुए वस्त्रधारी के कदमों में बिछ गया। अपने पैरों पर किसी का स्पर्श पाकर गेरुए वस्त्रधारी ने अपनी आंखें खोलीं और उसके मुंह से स्वर उच्चरित हुआ।

"कौन हैं आप ?"

"मैं पास के गांव का वाशिन्दा हूं।"

"अपने गांव लौट रहे हो ?"

"जी हां।

"चलो, मुझे भी आगे जाना है।"

"लेकिन आप ?"

"मैं एक घुमक्कड़ भारतीय हूं।"

"आपको आगे कहां जाना है ? वक्त काफी हो गया है। आपको भय नहीं लगता ?"

"भय ?"

और योगी खिलखिला कर हंस पड़ा।

उस व्यक्ति का भय दूर हो चुका था। वह मुखर होकर बोला—"आज आप मेरे घर की रूखी-सूखी रोटियां स्वीकार करिए। आइए, मेरा गांव निकट ही है।"

"यही भावना और संस्कार भारत का गौरव है। चलो, मैं आज आपका आतिथ्य स्वीकार करता हूं। बन्धुवर, आपका परिचय प्राप्त करने की धृष्टता कर सकता हूं मैं ?"

"महाराज, मेरा नाम चतुरंग है....जाति का ब्राह्मण हूं।"

"चतुरंगजी, इन्सान की कोई जाति होती है ?"

"जाति हर इन्सान की होती है, महाराज।"

"हमें चलते-चलते कोई शिशु पड़ा मिल जाए, जिसको जन्मते ही कोई मां मार्ग में डाल गई हो। आप कैसे उस शिशु की जाति का निर्धारण करेंगे ?"

वह व्यक्ति कुछ सोच में पड़ गया। शीघ्र ही उसने सन्यासी की बात का उत्तर दिया—"महाराज, जो उस बच्चे को ले जाकर पालेगा-पोसेगा, वह शिशु उसी की जाति का कहलाया जाएगा।"

"इसका मतलब यह हुआ कि 'इन्सान' अमर है....शाश्वत् है, जबकि जाति मात्र चलायमान है।"

वह व्यक्ति सन्यासी के शब्दों को सुनकर असहज-सा हो गया। उसके मन ने करवट ली—यह है कौन ? कोई सिद्ध पुरुष नजर आता है। मैं इस विषम वातावरण में भय और शीत से ठिठुर रहा हूं; और यह निर्भय होकर मेरे साथ चला आ रहा है। उस व्यक्ति को चुप हुआ देखकर सन्यासी के अधर पुनः हिले—"आपको मेरी बात रुचि नहीं ?"

"मैं आपकी निर्भयता के विषय में सोच रहा हूं।"

"चतुरंगजी, भय हमारे मन का भ्रम होता है।"

चतुरंग उत्तर दे पाता कि देवालय की घंटियों का स्वर निनाद कर उठा।

"पहाड़ों में शाम और अन्धेरा हो जाने का कोई समय नहीं है। मैं तो सोच

रहा था कि काफी देर हो गई है।" चतुरंग बुदबुदाया।

"समय का हम ध्यान रखें या न रखें, समय हर कार्य का ध्यान रखता है। लगता है, तुम्हारा गांव आ गया है ?"

"जी हां, बस अगला मोड़ आया। घाटी में कुछ नीचे उतरना पड़ेगा और सामने ही गांव नजर आ जाएगा। मेरी पत्नी और बच्चा मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे।"

चतुरंग के खनकते स्वर में पहाड़ी झरनों की गूंज थी। सन्यासी को उसका मोह में डूबा स्वर बहुत अच्छा लगा। वह सोचने लगा कि साधारण मानव कितना निरीह होता है....सदा सुख सपनों के जाल में फंसा रहता है....किनारे पर आना भी चाहे तो ईश्वर आने नहीं देता। सन्यासी न जाने किन-किन कड़ियों में उलझा चला जा रहा था कि एकाएक चतुरंग के स्वर ने उसका विचार क्रम भंग कर दिया।

"वह देखिए, हमारा गांव आ गया।"

"सन्यासी ने चतुरंग द्वारा इंगित दिशा में दृष्टि डाली। कुछ ही दूरी पर घाटी की ढलान पर छितराए घरों की एक छोटी-सी बस्ती अन्धेरे की चादर ओढ़े धुंधलाई-सी दिख रही थी।

"चतुरंगजी, आपका घर बस्ती के बीच में है ?"

"जी नहीं, एक किनारे पर है।"

वे कुछ कदम नीचे उतरे। एक सीढ़ीनुमा बड़ा-सा खेत आया। इसी खेत के किनारे एक छोटा-सा घर अन्धेरे में डूबा हुआ था। चतुरंग बड़बड़ाया।

"शायद बच्चू और उसकी मां सो चुके हैं। लेकिन इतनी जल्दी....अभी तो चूल्हा फूंकने का समय है।"

घर के सामने जाकर उसने आवाज दी—बच्चू....ओय बच्चू। उसकी आवाज सुनकर घर की ऊपरी मंजिल के कमरे का द्वार खुला। एक स्त्री काया ने दरवाजा खोलकर बाहर झांका।

"मेरी पत्नी रेवती है यह। बच्चू सो गया लगता है। मैं अभी आया।"

चतुरंग मकान के बीचोंबीच स्थित सीढ़ियों से ऊपर के कमरे के खुले द्वार तक पहुंच गया और कमरे में घुस गया। उसके कमरे में आते ही रेवती बोली—"तुम फौरन भीगे कपड़े बदल लो।"

"कपड़े बाद में बदल लूंगा। बाहर एक साधु देवता खड़े हैं। पहले उनकी सोने और खाने की व्यवस्था तो कर दूं।"

"तुम भी न जाने कहां-कहां से मुसीबतें मोल ले आते हो। अपना खाने-पीने का पता है नहीं और चले हैं दुनिया के दातार।"

रेवती का स्वर काफी तेज था। उसके शब्द सन्यासी के कानों में पड़े। चतुरंग ने पत्नी को हुड़काया—"जो भी है, सन्यासी वही खा-पी लेगा। वह खीर, हलवा, पूरी नहीं मांग रहा है। तुमसे तो बाहर भी नहीं निकला जा रहा है। ऐसे मौसम में उसे भटकने के लिए छोड़ देता ? धन्य है, रेवती तू।"

"खाना है कहां ?"

"मेरे लिए तो होगा ?"

रेवती चुप हो गई। चतुरंग पुनः बोला—"कोई बात नहीं, मैं सुबह खा लूंगा। तुम मेरे हिस्से का भोजन गर्म करो।"

चतुरंग बाहर आया। उसने अन्धेरे में आंखें फाड़-फाड़कर देखा। सन्यासी वहां नहीं था। वह सीढ़ियां उतर कर नीचे आया। बस्ती के एक-एक घर के दरवाजे तक जाकर वह देख आया। कुल पन्द्रह घरों की बस्ती का चक्कर लगाकर आने में उसे ज्यादा देर नहीं लगी। लोग शायद खा-पीकर अपने-अपने घरों के दरवाजों को बंदकर गप-शप में मशगूल थे। कहीं न कोई शोर और न शराबा।

चतुरंग जिस मार्ग से आया था, उसे भी काफी दूर तक देख आया। लेकिन वह भी सुनसान था। अधिक दूर तक उसकी जाने की हिम्मत थी नहीं, सो वह घर लौट आया। उसे लौटा देखकर रेवती बोली—"खाना लगा दूं ?"

"नहीं।"

"अरे ! भूखे रहोगे ? दिन भर के थके तो लौटे हो।"

"तुमने खा लिया, अब जाकर सो जाओ। तुम्हारी जुबान के नश्तर ने उस बेचारे सन्यासी को न जाने कितना घायल किया होगा। तुम्हारे व्यवहार से मैं बेहद शर्मिन्दा हूं।"

चतुरंग अपनी पत्नी पर गुर्रा रहा था कि बाहर से आवाज आई....चतुरंगजी ....चतुरंगजी।

"अरे ! सन्यासीजी आ गए।"

वह उत्सुकता से बाहर निकल आया और प्रफुल्ल स्वर में बोला—

"मैं तो सोच रहा था कि भगवान रूठकर चले गए। आइए, महाराज।"

सन्यासी उस व्यक्ति के पीछे-पीछे सीढ़ियां चढ़ गया। चतुरंग ने कमरे में आकर फुर्ती से लिपे-पुते फर्श पर दरी बिछा दी।

"बिराजिए, महाराज। हमारे धन्य भाग्य हैं कि आपके चरण-कमलों द्वारा हमारी झोंपड़ी खिल गई।"

सन्यासी कुछ नहीं बोला। चतुरंग ने दीपक के क्षीण प्रकाश में सन्यासी के

मुख पर एक दृष्टि डाली।

बड़ी-बड़ी आंखें, रक्ताभ कसे हुए अधर द्वय, उन्नत भाल, गोल मुख भरा हुआ लालिमायुक्त, सुतवां नाक, सशक्त ग्रीवा, घुटे हुए सिर पर राजस्थानी पगड़ी.... सन्यासी का कद औसत था लेकिन सम्पूर्ण देहयष्टि मजबूत और एक अद्‌भुत आकर्षण लिए हुए थी। चतुरंग संतुष्ट दिख रहा था मानो उसके घर पर ईश्वर का पदार्पण हुआ हो। उसने विनीत स्वर में पूछा—"आप कहां चले गए थे ? मैं विचलित हो गया था।"

"आसपास ही था।" सन्यासी मुस्कराया।

"रेवती, पानी गरम हो गया होगा। बड़े लोटे में ले आओ।"

अधिक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी, रेवती आकर लोटा रख गई। चतुरंग के अधर खुले।

"महाराज, आप हाथ-मुंह धो लीजिए। मैं भोजन लगवाता हूं।"

सन्यासी ने लोटा उठाया और छज्जे पर आकर हाथ-मुंह धोने लगा। चतुरंग रसोई में गया। रेवती भरी बैठी थी। उसके आते ही वह विफर उठी।

"तुम्हें कभी अक्ल नहीं आने की। न जाने किस-किसको घर में ले आते हो। हमने ब्राह्मण योनि में जन्म लिया है....क्यों अपनी जून को खराब करने में लगे हो।"

"अतिथि भगवान होता है और भगवान की कोई जाति नहीं होती।" चतुरंग ने पत्नी की बात का उत्तर दिया।

"लो, मैंने भोजन परोस दिया है। वहीं दे आओ। उसे रसोई में लाने की जरूरत नहीं है।"

सन्यासी के कानों में उनके वार्तालाप के शब्द पड़ रहे थे। वह हाथ-मुंह धोकर अपनी जगह पर आकर बैठ गया। चतुरंग ने भोजन की थाली उसके सम्मुख लाकर रख दी। सन्यासी अपने सम्मुख परोसी गई भोजन की थाली को देखकर बोला—"चतुरंग, मेरी खुराक इतनी नहीं है। इसे कुछ कम करके लाओ।"

"अरे ! महाराज, यह है ही कितना। एक व्यक्ति के लायक भी नहीं है।"

"मैं तो शाम को निराहार रहता हूं। लेकिन जानता हूं कि तुम अपना आग्रह नहीं त्यागोगे।"

"आपको मेरे आग्रह की इतनी चिन्ता है तो कृपया इस अपर्याप्त भोजन में से कम करने का हठ मत कीजिए।"

"चतुरंग, तुम बड़े चतुर हो।" सन्यासी के मुख पर स्मित रेखाएं खिल गईं। वह बड़ी तल्लीनता से भोजन करने लगा। चतुरंग पालथी मारे संतुष्ट भाव से

सन्यासी को निहारे जा रहा था। भोजन समाप्त हुआ। सन्यासी के पीछे-पीछे झूठे हाथ धुलवाने के लिए गरम पानी का लोटा लेकर चतुरंग चला। सन्यासी लौटकर अपने आसन पर आ बैठा। चतुरंग खाली लोटा और झूठी थाली उठाकर रसोई में धुस गया। कुछ ही देर में हाथ में पानी से भरा हुआ लोटा लिए हुए वह लौटकर आकर बोला—"आपकी सोने की व्यवस्था कर दूं।"

"मैं यहीं नीचे सोऊंगा। एक कम्बल दे दो बस।"

"आपने मुझे उबार लिया।" चतुरंग भोली हंसी हंसा।

"चतुरंग, तुम ईश्वर रूप हो।"

चतुरंग ने टूटी-फूटी खाट एक कोने में खड़ी कर दी और बिछौना बिछाने का विचार करने लगा। सन्यासी उसकी असमंजसता भांप गया।

"चतुरंग, मैं आसन बिछा लूंगा। एक कम्बल ओढ़ने के लिए रख दो। शेष बिस्तर तुम ले जाओ।"

चतुरंग ने सन्यासी का कहा किया। वह बिस्तर उठाकर कमरे से बाहर निकलते हुए बोला—"महाराज, अन्दर से दरवाजा बंद कर लीजिएगा। पानी भरा लोटा मैंने रख दिया है। कोई जरूरत पड़े तो आवाज दे दीजिएगा।"

"बहुत-बहुत धन्यवाद, चतुरंगजी।"

चतुरंग चला गया। सन्यासी इस भोले प्राणी के विषय में विचारने लगा।

—कितने सरल हृदय होते हैं भारतीय। काश ! विदेशों की तरह यहां भी पूरे भारत का रहने वाला केवल भारतीय बन पाता। ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र, बनिक गौण हो सकता। सदियों से पली तपी सभ्यता और संस्कृति ने अपनी जड़ें घर-घर में किस गहराई तक रोपी हुई हैं, इसे देखकर आश्चर्य होता है। मैं विदेशों में भी घूमा हूं, मैंने वहां के प्रत्येक देश की सभ्यता और संस्कृति को निकट से देखने और परखने का प्रयत्न किया है, विदेशी लोग अपने संस्कारों को छोड़कर आधुनिकता के रंग में उच्छृंखल हुए जा रहे हैं। लेकिन हम अपने प्राचीन मूल्यों को निभाते और उनका पालन करते चले आ रहे हैं। यही गौरव है हमारी संस्कृति का। हमारी संस्कृति के मूल्य जन्म से ही हमारे रक्त में घुले रहते हैं। कितनी स्वाभावितक गति है इनकी ? निश्छलता और पवित्रता लिए हुए हैं ये। इस चतुरंग को ही देख लो। मैं इसकी पत्नी की भावना को देखकर; इसे संकट में नहीं डालना चाहता था। लेकिन पगला मुझे ढूंढ़ने लगा और मैं लौट आया। मैं ईश्वर की अनदेखी भला कैसे कर सकता था ?

—दूसरी ओर कश्मीर के महाराजा की आवभगत है। कितना अन्तर है दोनों में ? एक ओर नाना प्रकार की सुविधाओं का अंबार लगा हुआ है। भौतिक सुविधा-

युक्त कृत्रिम जीवन औपचारिकताओं से पुता हुआ है। वे सोचते हैं कि उनके जीवन में कोई अभाव नहीं है और यहां अभावों में पूर्ण जीवन खिल रहा है। ऐसा क्यों ?

मैंने सुना और अध्ययन किया है कि कश्मीर ऋषियों की तपोभूमि है। इसी कारण यहां स्थान-स्थान पर पहाड़, मन्दिर और तपोवन हैं। तभी यह ऋषिभूमि, योगीस्थान, शारदापीठ और शारदास्थान कहलाता है। जहांगीर ने इसी कारण इसे 'भू-स्वर्ग' कहा होगा। आर्य सभ्यता के साथ-साथ इस्लाम तथा अन्य कई संस्कृतियों के इस मिलन स्थल में शंकराचार्य भी पधारे थे। कौरव-पाण्डव के समसामयिक काल में राजा गोनन्द ने कश्मीर पर राज्य किया था। दूसरे गोनन्द के बाद एक हजार सालों तक कश्मीर का इतिहास खोया रहा। इसके बाद के एक हजार साल तक पुनः गोनन्दों के वंशधरों ने इस भू भाग पर शासन किया। फिर आए प्रतापादित्य। उन्होंने आर्य राज्य का अन्त किया। इनके दो सौ साल बाद आए राजा मेघवाहन से लेकर बलादित्य तक। ये लोग छः सौ वर्ष शासन कर्त्ता रहे। उनके पश्चात् कर्कट वंश चला। दुर्लभवर्धन, द्वित्तीय प्रतापादित्य, चन्द्रपीड़ वज्रादित्य, तारापीड़ उदयादित्य, मुक्तापीड़ ललितादित्य, जयपीड़ विनयादित्य, ललितपीड़, अजितपीड़, अनंगपीड़ और उत्पलपीड़। इन राजाओं ने ढ़ाई सौ वर्षों तक शासन किया। कल्हन की 'राजतरंगिणी' में इन नरेशों का वर्णन मिलता है। 12 वीं शताब्दी की यह रचना अपने आप में एक इतिहास कहलाता है और फिर बिल्हन, जोनाराज, श्रीवर, प्रज्ञाभट्ट ने कश्मीर के रंगमंच पर पदार्पण किया। पांच हजार वर्ष के इस काल के अन्तिम पांच सौ वर्षों में आए पठान, मुगल, सिक्ख, डोगरा और अंग्रेज।

—समय अभी भी चल रहा है....चलता रहेगा। न जाने कितने राजा-महाराजा आए और आएंगे। समय उन्हें निगल गया....सारी शानो-शौकत बह गई। इस विश्व में क्या कुछ नहीं होता है। राजा और राज्य ही नहीं बदलते बल्कि सम्पूर्ण धरा तक परिवर्तित होती रहती है। कश्मीर उपत्यका भी तो कभी बाईस सौ वर्गमील की एक झील थी। वितस्ता की उपजाऊ माटी से बनने वाली इस उपत्यका को न जाने किस-किस दौर में से गुजरना पड़ा होगा ? न जाने झील को सुखाने और समुद्रतल से बावन सौ फुट ऊपर उठने में कितना समय लगा होगा ?

—नीलनाग या वेरनाग से प्रसून वितस्ता आज भी इस उपत्यका को हरा-भरा किए हुए है। प्रकृति का नियम निरन्तर गति लिए हुए है। वितस्ता की कृपा के कारण कश्मीर घाटी रंग-बिरंगे पुष्पों, विभिन्न फल-फूलों, सेब, अंगूर, रोजबेरी, रास्पबेरी, पीयर, एप्रिकट जैसे फलों से परिपूर्ण है। एक ही टहनी पर सतरंगी कुसुमों का दिव्य स्वरूप भी यहीं नजर आया है। वृक्षों से लिपटी हुई फूलों से भरी हुई लताओं

को झूमते देखकर ही तो मैं ठिठक कर मार्ग में रुक गया था।

—कश्मीर के इस प्राकृतिक सौन्दर्य को कश्मीर वासियों ने अपने में रचा-बसा लिया है। इस भू-भाग की इसी विशेषता के कारण यहां का वासी इतना सरल चित है। उसमें कहीं छद्मता नहीं है। यहां जो भी आया इसकी चिरकालीन पौराणिक संस्कृति में खो गया। कश्मीरी बोली संस्कृत शब्दों से भरी हुई है। यहां की प्राचीन हिन्दू संस्कृति ने यहां आए विभिन्न धर्मों और जातियों के प्रभाव को बड़ी खूबी से पचा लिया। पठान युग से मुगल जमाने तक कश्मीरियों का धर्मान्तरण होता रहा, लेकिन पुरानी आर्य सभ्यता की मूल नीतियां उनके स्वभावगत चरित्र का हिस्सा बनती रहीं। ललितादित्य जैसे आर्य सभ्यता के संरक्षक नरेश ने अपने मंत्री चनकुन की आस्था को जीवित रखने के लिए मगधदेश से विशाल बुद्ध मूर्ति मंगाकर श्रीनगर के निकट चनकुन बिहार में प्रतिष्ठापित की थी।

—इसी उदार सभ्यता और संस्कृति के कारण हिन्दू धर्म सदियों से जीवित है और जीवित रहेगा। धर्म में यदि इतनी सहिष्णुता है तो उसके विलीन होने की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

—कश्मीर ही नहीं, पूरे भारत की यही विशेषता है। विभिन्न सभ्यता और संस्कृतियों के सम्मिश्रण से जो संस्कृति जन्म लेती है, वह अमर होती है। इसीलिए भारत को कभी अपने धर्म को जीवित रखने के लिए तलवार की जरूरत नहीं पड़ी। इसकी नैतिक, आध्यात्मिक और आत्मिक शक्ति को आज तक कोई भी बर्बरता मंद नहीं कर सकी क्योंकि जन-जन के हृदयों में बसी इस शक्ति को समाप्त नहीं किया जा सकता।

—चतुरंग जैसों का सहजात पांडित्य, उनका मानवतावाद, उनका विद्वेषहीन स्वभाव और इन्सान बोध के आदर्श ने जो अनोखी और तेजस्वी निजस्वता उत्पन्न की है, उसे कौन पराजित कर सकता है ? जिस देश में न हिन्दू है, न मुसलमान, न सिक्ख है, न जैन और बौद्ध, ऐसे सहज वीतरागियों को कौन अंकुश में रख सकता है ? इन्सान आज तक कभी मरा नहीं है। लेकिन जैसे ही वह हिन्दू, मुसलमान, पठान, तुर्क, ईरानी, डोगरा, अंग्रेज, सिक्ख आदि के कट्टर चोले को धारण करने वाला बना; तो सिर के बल गिरा।

साधु इतिहास की नदी में अपने विवेक की नौका लेकर भ्रमण कर रहा था कि दरवाजा खुलने की ध्वनि ने उसका ध्यान भंग कर दिया। उसके मुंह से स्वाभाविक शब्द उच्चरित हुए।

"कौन ? चतुरंग ?"

"जी हां, मैं देखने आया था, कि आपको कहीं ठंड न लग रही हो।"

"ठंड कैसी ? मैं तो विचारों की उष्ण नदियों में गोते लगा रहा हूं।"

"महाराज, कुछ ज्ञान मुझ अज्ञानी को भी दीजिए।" अपने दोनों हाथों को जोड़कर चतुरंग निकट आकर बोला।

"अरे ! चतुरंगजी, मुझे तो आपसे सीखने के लिए मिल रहा है।"

"महाराज, मेरी कुछ शंकाएं हैं।" चतुरंग साधु के सम्मुख आकर बैठ गया।

साधु ने कुछ क्षणों तक विचारा और तदुपरांत बोला—"कहो।"

"महाराज, मैं इस जीवन में कष्ट क्यों भुगत रहा हूं ? मैंने आज तक जानबूझ कर अपनी समझ से किसी का दिल नहीं दुखाया है। मैं क्या, मेरे बच्चे और पत्नी तक दुःख और अभावों में जी रहे हैं।"

साधु विचार में पड़ गया। वह शायद इस गूढ़ प्रश्न का उत्तर सरल शब्दों में खोज रहा था।

"चतुरंगजी, आपके दुःखों की कहानी का पार नहीं है। न जाने किस जीवन का फल आपको भोगना पड़ रहा है। आपके आज तक के सैकड़ों-हजारों जीवनों में झांक पाना सम्भव नहीं है। आप तो वर्तमान की सोचिए और भविष्य के फल पर विचार करिए।"

"वर्तमान की बात ही तो कर रहा हूं, महाराज।"

"वह दुःख नहीं है। वह पवित्र अग्नि है, जो आपको तपा कर खरा सोना बना रही है। आपके पूर्वजन्मों के किए गए दुष्कर्मों की छाया मिटती जा रही है।"

"लेकिन स्वामीजी, ऐसा मार्ग बताइए कि बार-बार के इन जीवनों के झंझटों से मुक्ति मिल जाए ?"

साधु मुस्कराया। उसने चतुरंग के मुख पर एक स्निग्ध दृष्टि डाली और बोला—"चतुरंगजी, आप मार्ग में मुझे देखकर डर गए थे न ?"

"जी हां, सुनसान अन्धेरे में मार्ग के बीचोंबीच किसी को एकाएक पाकर कौन नहीं डरेगा ? मैं आखिरकार हूं तो एक दुर्बल व्यक्ति ही न ?"

"आपका ध्यान उस संकट के समय किधर गया था ? आपको कौन याद आया था उस मुसीबत के वक्त ?"

"उस संकट काल में मैं अपने इष्ट को याद कर रहा था।"

"हम संकट के समय जिस परमात्मा का ध्यान करते हैं, यदि वह हर वक्त ही हमारे ध्यान में हो तो भय, दुःख, संकट सब स्वतः ही समाप्त हो जाएं।"

"आप ठीक कहते हैं।"

"साधु ने अपनी निर्मल दृष्टि चतुरंग पर डाली। चतुरंग को लग रहा था कि वह किसी दिव्य और आलौकिक प्रकाश से सराबोर हो रहा है। साधु के अधर पुनः हिले—

"यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते।।"

(कठोपनिषद्, अध्याय 1,।। 8।।)

जो व्यक्ति अपनी बुद्धि को निरन्तर विवेकशील बनाए रखता है और उसके द्वारा मन को अंकुश में रखकर पवित्र भावनाएं रखता है, पवित्र कर्मों का बिना फल की आशा किए निर्वाह करता है, राग-द्वेष से दूर रहकर जो कुछ उसके पास है, उसे भगवान की कृपा मानकर उपभोग करता है, तो वह ईश्वर को प्राप्त कर लेता है। वह फिर यहां वापस नहीं लौटता।"

"स्वामीजी, लेकिन कभी-कभी मन बड़ा विचलित हो जाता है।" चतुरंग कातर वाणी में बोला।

"चतुरंगजी, कभी-कभी यह छटपटाहट होती है। पिंजरे में पड़ी हुई आत्मा अकुलाती ही है। लेकिन एक बात है, अधिकांश भले लोगों का एक ही लक्ष्य होता है—मोक्ष प्राप्त करना। ऐसा क्यों ?"

"आप भी कमाल करते हैं महाराज। इतनी-सी छोटी बात मुझसे पूछ रहे हैं ? मैं आपसे अपनी जिज्ञासा शान्त करना चाहता हूं और आप हैं कि मुझसे ही सवाल पूछने शुरू कर दिए।"

साधु मुस्कराया और चतुरंग पर अपनी दृष्टि केन्द्रित करके बोला—"चतुरंगजी, मैं वेश-भूषा से साधु हूं किन्तु आपकी तो प्रकृति ही सज्जनता और साधु की प्रतिमूर्ति है।"

"मैं तो एक दीन-हीन ब्राह्मण हूं, अपने कर्मों को भोग रहा हूं।"

"चतुरंगजी, मैं तो बार-बार इस सृष्टि में आकर मानव जीवन भोगना चाहता हूं। सच मानिए, मेरी तो मोक्ष की कामना है ही नहीं।"

"आश्चर्य है।"

"इसीलिए तो मैंने आपसे प्रश्न किया था कि मनुष्य मोक्ष चाहता क्यों है ?"

"इससे श्रेष्ठ लक्ष्य और क्या हो सकता है ? हमारे बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों ने हजारों सालो की तपस्या इसी मोक्ष को पाने के लिए की है। आपके विचार तो कुछ अजीब हैं। मेरी समझ में नहीं आए।"

"इस धरती पर गरीबों और असहायों के रूप में खुद भगवान अवतरित हैं।

इनकी सेवा ईश्वर की सेवा है। भगवान की सेवा के लिए बार-बार जन्म लेने में संकोच क्यों ? मैं मोक्ष प्राप्त कर ऐसे सुअवसरों को क्यों गवाऊं ?"

चतुरंग ने साधु के पैर पकड़ लिए और श्रद्धापूर्ण स्वर में बोला—"मैं पचासों योगियों और सिद्धों से मिला हूं, पर आप जैसे विचार किसी के नहीं मिले। आप धन्य हैं। अब मुझे भी मोक्ष नहीं चाहिए। मैं भी अब पुनः मानव योनि में आना चाहूंगा और ईश्वर जो भी प्रसाद देगा, उसे श्रेष्ठ मानकर मानव जाति की सेवा में जुटूंगा।"

"चतुरंगजी, यही सार है हमारे वेद, उपनिषदों और पुराणों का।"

"स्वामीजी, आप मुझ पर एक कृपा करने का कष्ट करेंगे ?"

"कहो ?"

"मैं आपका शिष्य बनकर आपके साथ चलना चाहता हूं।"

"चतुरंगजी, ऐसा करना आपके लिए अभी ठीक नहीं होगा।"

"स्वामीजी, ऐसा न कहें। मुझे निराश न करें।"

"चतुरंगजी, सबसे पहले अपने पारिवारिक जीवन का कर्त्तव्य पूर्ण करिए। सत्कर्म करने के लिए आवश्यक नहीं है कि गेरुए वस्त्र ही धारण किए जाएं।"

"यह भी आप ठीक कह रहे हैं। अंधी गृहस्थी को छोड़कर भागना भी ठीक नहीं है।"

चतुरंग संतुष्ट लग रहा था। वह उठते हुए बोला—"महाराज, आपके आराम में खलल डाला सो क्षमा चाहता हूं। अब आप आराम कीजिए।"

चतुरंग ने बाहर निकल कर द्वार बंद कर दिया। साधु ने अपने सिर पर से पगड़ी उतार कर एक ओर रख दी और लेट गया।

प्रातः जब चतुरंग उठकर साधु के कमरे में आया तो उसने देखा कि कमरा खाली था। उसी के पीछे रेवती थी। रेवती ने कमरे पर एक दृष्टि डाली। चतुरंग ने साधु को जो ओढ़ने और बिछाने के लिए वस्तुएं दी थीं, वे समेट कर एक ओर रखी हुई थीं। कमरे में साधु का कोई चिह्न शेष नहीं था। रेवती गूंगे हुए चतुरंग से बोली—"आपका भगवान तो गया। कमरे की चीजें तो सम्भाल लो।"

"रेवती तुम जैसी कम अक्ल की औरत मैंने आज तक नहीं देखी। तुम्हारे इस कमरे में कोई हीरे तो थे नहीं; जिन्हें वह सन्यासी ले गया हो।"

"इस गांव में तो सुदामाजी का अवतार हो रहा है।"

चतुरंग सुबह-सुबह माथा नहीं लगाना चाहता था। वह चुपचाप कमरे से बाहर निकल गया। उसे आशा थी कि साधु आएगा। लेकिन काफी प्रतीक्षा के बार भी साधु वापस नहीं आया।

साधु तो अपनी राह पर तेज कदमों से चला जा रहा था। उसके अधर गुनगुना रहे थे—

मां त्वं हि तारा, तुमि त्रिगुणधरा
परात्परा !
आमि जानि गो ओ दीन दयामयी
तुमि दूर्गमेते दुःखहरा !
तुमि जले, तुमि स्थले, तुमि आद्यमूले
गो मा !
आछो सर्व घटे, अर्घ्यपुटे साकार
आकार निराकारा !
तुमि संध्या, तुमि गायत्री, तुमि जगद्धात्रि
गो मां !
अकुलेर त्राणकर्त्री, सदा शिवेर
मनोहरा !!

काली मां की स्तुति करता हुआ साधु अपनी धुन में खोया हुआ था। वह सर्पीले मार्ग से होता हुआ काफी दूर आ चुका था कि सामने से अश्वारोहियों का एक दल आता हुआ दिखा। साधु के सम्मुख आते ही अश्वारोहियों के दल नायक ने झुककर उसे नमस्कार किया।

"स्वामीजी, आपके लिए राजाजी चिंतित हो रहे हैं। आप कहां चले गए थे ?"

"प्रकृति मां की गोद में विचरण कर रहा था।"

"आप के लिए पालकी आ रही है। आप बिराजिए।"

दल नायक ने कहारों को जल्दी आने का इशारा किया। कुछ ही देर में हांफते और पसीने से तरबतर हुए कहार पालकी लेकर निकट आ गए। साधु के सम्मुख लाकर उन्होंने पालकी नीचे उतार दी और एक ओर खड़े होकर अपने पसीने को पोंछने लगे। साधु ने कहारों को मन-ही-मन में नमन किया और उनसे बोला—"आप लोग कुछ आराम करके आइए। मैं आगे चलता हूं।"

दल नायक सम्भवतः कुछ कहना चाह रहा था किन्तु कह नहीं पाया। साधु तेज गति से अपनी राह पर चल पड़ा था। दल नायक कहारों की ओर देख कर बड़बड़ाया—"जल्दी से पालकी उठाओ और साधु के पीछे हो लो। ऐसा न हो कि तुम्हारी नौकरी जाती रहे।"

कहारों के चेहरे पर हवाइयां उड़ने लगीं। उनमें से एक बोला—"लेकिन

हमारा कसूर क्या है ?"

"तुम्हारा सबसे बड़ा कसूर यह होगा कि राज-अतिथि पैदल राज भवन पहुंचेगा।"

दल नायक ने अपना अश्व आगे बढ़ा लिया। घबराए हुए कहारों ने पालकी उठाई और तेजी से साधु के पीछे हो लिए। उनके अथक प्रयत्नों के बावजूद भी साधु उनकी पकड़ में नहीं आ सका। करीब घंटे भर में सामने राजभवन दिखने लगा। कहारों ने जोर लगाया, उनके पैरों की गति बढ़ी और अन्ततः वे साधु के बराबर आ ही गए। हांफते हुए कहारों में से एक बोला—"महाराज, हम से ऐसी क्या गलती हो गई, हम क्षमा चाहते हैं।"

साधु मधुसिक्त स्वर में बोला—"आप भयभीत न हों और जाकर विश्राम करें।"

दल नायक ने साहस करके साधु की बात में हस्तक्षेप किया—"स्वामीजी महाराज, ये इसलिए भयभीत हैं कि आपको पैदल आता देखकर राजाजी इनसे पूछेंगे कि आपको पालकी में चढ़ाकर क्यों नहीं लाया गया।"

"भयभीत होने की कोई बात नहीं है। मैं राजाजी को समझा दूंगा।" कहता हुआ साधु राजभवन के मुख्य द्वार से अन्दर प्रवेश कर गया। वह अपने निर्धारित कक्ष में पहुंचा। रवि अपनी रश्मियां को पसार चुका था। साधु नहा-धोकर ईश वंदनार्थ समाधिस्थ हो गया। वह करीब घंटे भर तन्मय होकर खोया रहा। इसके पश्चात् फलाहार करके राजाजी के विशेष कक्ष में राजा, सभासदों और अन्य विद्वजनों के सम्मुख प्रवचनार्थ प्रस्तुत हुआ। करीब एक घंटे धीर-गम्भीर प्रवचन चला। आध्यात्मिक विषय पर प्रश्न भी पूछे गए। अधिकांश विद्वजनों को अपनी मुक्ति और मोक्ष की चिन्ता थी। वे जिस देश की मिट्टी में पल रहे थे, जिसके पुण्य और प्रताप से सुख-वैभव भोग रहे थे तथा जिस जनता जनार्दन के बलबूते पर उनका ऐश्वर्य टिका हुआ था, उनके विषय में किसी के मन में कोई प्रश्न ही नहीं था।

इन्हीं महानुभावों में एक पंडितजी भी थे। उन्हें राजा द्वारा साधु को दिए जा रहे सम्मान और महत्व से सुख की अनुभूति नहीं हो रही थी। वे राजा की दृष्टि में विद्वान के रूप में प्रतिष्ठित थे। लेकिन उन्हें लग रहा था कि जब से स्वामीजी का यहां पदार्पण हुआ है, उसकी प्रतिष्ठा घट गई है। स्वामीजी यद्यपि पंडितजी की द्वेष भावना को समझ रहे थे, किन्तु वे तो यहां अतिथि के रूप में आए हुए थे, सो पंडितजी की स्वाभाविक ईर्ष्यालु प्रवृत्ति को बड़ी सहजता से ले रहे थे।

लेकिन पंडितजी कब मौका चूकने वाले थे। उन्होंने एक प्रश्न कर डाला।

"स्वामीजी, गीता में कहा गया है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।—अध्याय 6 ।। गीता।।

मैं अपनी पवित्र भावना से कर्मनिष्ठता में बंधा हुआ शाम-सुबह ईश्वर की पूजा-अर्जना करता हूं। आज तक मेरा ऐसा कोई दिन नहीं निकला, जिस दिन मैंने भगवान की पूजा में कोताही बरती हो। लेकिन ऐसा सम्भव नहीं हो पाया कि मैं समस्त प्राणी जगत को समभाव मे देख सकूं....अपनी आत्मा को सबकी आत्मा में देख सकूं। ऐसा हो सके, इसका क्या मार्ग है ?"

साधु के मुख मंडल पर दिव्य कांति नर्तन करने लगी। उसने बड़ी सहजता से कहा—"पंडितजी, आपका मन शान्त नहीं है। आपका रजोगुण अभी निर्मल नहीं हो पाया है। गीता में ही कहा गया है—

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्।।—अध्याय 6।। गीता।।

हमारा मन जब तक पाप रहित होकर निर्मल नहीं होगा, हम जब तक अपनी तामसिक भावनाओं को दूर नहीं छिटका देंगे, तब तक ईश्वर प्राप्त नहीं हो सकता। हमारी दृष्टि में समभाव उत्पन्न होना भी ईश्वर की प्राप्ति ही है।"

साधु की वाणी को सुनकर पंडितजी खिलखिला कर हंस पड़े और व्यंग्यपूर्ण स्वर में बोले—"आप मुझे जानते तो शायद ऐसा नहीं कहते। मेरा जीवन तो बड़ा निर्मल ....शान्त है।"

"अहंकार यदि हमारे मन में हो तो हम अनन्त आनन्द को पा ही नहीं सकते। इस स्थिति में समभाव की दृष्टि उत्पन्न होना कल्पना मात्र है। 'मैं ऐसा करता हूं, मैंने ऐसा किया, मैं ऐसा कर सकता हूं' जैसी हमारी मन की भावनाएं ही तो हमें ईश्वर से और ईश्वर रूप अन्य प्राणियों से दूर रखती है। मैं आपसे कुछ सवाल पूछूं ? लेकिन इसे अन्यथा मत लीजिएगा।"

"पूछिए।" पंडितजी विचलित स्वर में बोले।

"आप दोनों समय भोजन करते होंगे ?"

"ईश्वर की कृपा है तो उसका भोग क्यो   किया जाए।"

"लेकिन, आपने कभी अपने आस-पड़ोस में देखा है कि किस घर का चूल्हा कब नहीं जलता है ?"

"ऐसा तो मैंने कभी नहीं देखा है।"

"तो फिर अपनी आत्मा का अनुभव अन्यों के शरीर में आप कैसे कर पाएंगे ?

सभी में ईश्वर को कैसे देख पाएंगे आप ? गीता में भगवान ने कहा है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यते।

तस्याहं न प्रणश्यामि सचमेन प्रणश्यति।। (अध्याय 6।। गीता।।)

जो मनुष्य प्रत्येक जीव में उस वासुदेव के दर्शन करता है, उसके लिए ईश्वर अदृश्य क्यों होगा; और ईश्वर की दृष्टि से वह प्राणी ओझल क्यों होने लगा ? ईश्वरमय होने के लिए हमें प्रत्येक जीव में ईश्वर का अंश ढूंढ़ना ही होगा; और यह तभी होगा जब हम दुःखों और सुखों की अनुभूति अन्यों में भी करें।"

पंडितजी चुप कर गए। वे समझ गए कि साधु ने गेरुए वस्त्र मात्र दिखाने के लिए नहीं पहले हैं, अपितु उसका मन भी इसी रंग में तपा-रमा है। राजाजी पंडितजी की खामोशी को देखकर मुस्कराए और उन्होंने ताना कसा—"स्वामीजी, हम तो पंडितजी को बहुत बड़ा भक्त माने हुए थे। लेकिन आपने तो सारा खेल ही विगाड़ दिया। आपकी दृष्टि में रात-दिन ईश्वर का जाप करने वाला व्यक्ति भी भक्त नहीं है। इस अवस्था में हम असली भक्तों को कहां पा सकते हैं ?"

"पंडितजी की ईश भक्ति पर हमें सन्देह नहीं करना चाहिए। ईश्वर को प्राप्त करने के कई मार्ग हैं। मैंने तो सबसे सरल और सहज मार्ग का संकेत किया है। महाराज, इस देश की मिट्टी के कण-कण में, जन-जन में ईश्वर व्याप्त है। आवश्यकता केवल इसकी अनुभूति करने की है।"

स्वामीजी से अन्य कई सांसारिक और आध्यात्मिक प्रश्न किए गए। उन्होंने अपनी ओर से सभी को संतुष्ट करने का पूरा प्रयत्न किया। श्रोतागणों की प्रवचन सुनने की प्यास बुझी नहीं थी पर समय के बंधन से सभी विवश थे। स्वामीजी उठ खड़े हुए और पुस्तकालय की ओर प्रस्थान कर गए। वे कश्मीर के इतिहास को जानने में पूरी रुचि ले रहे थे। पुस्तकालय में प्रवेशोपरान्त उन्होंने विगत की अधूरी अध्ययन की गई पुस्तक को उठाया और आगे की सामग्री में खो गए। अध्ययन के साथ-साथ चिंतन भी बराबर चल रहा था।

सम्राट अकबर के सभासद् अबुल फजल का कश्मीर के विषय में कथन चल रहा था।

—यहां जो सबसे अधिक श्रद्धेय हैं, उन्हें ऋषि कहते हैं। वे परम स्वतंत्र हैं, और किसी भी तरह के प्रचलित संसार, संस्कृति या नियम-कानून की पाबन्दी नहीं मानते हैं। कश्मीर में इनकी संख्या दो हजार है। ये शाकाहारी हैं और नारी संग नहीं करते। ये लोग पहाड़ों, मन्दिरों और तपोवनों में रहते हैं। बादशाह को तीन बार कश्मीर विजय के लिए जाकर भी हारना पड़ा, उसमें कश्मीर के 'चाक' राजाओं के

पीछे इन ऋषियों की यौगिक तपस्या का फल था।

स्वामीजी चिंतन की ऊर्मियों के साथ उस काल में पहुंचे....सम्भवतः यही कारण रहा होगा कि बादशाह अकबर को भारत की आध्यात्मिक शक्ति की ऊंचाइयों ने सर्वधर्म समभाव की ओर प्रेरित किया हो। सम्राट प्रखर चिंतक तो था ही, सो वह समझ गया कि इस देश में वही धर्म सफल हो सकता है; जिसमें अन्य सभी धर्मों के सद्‌गुणों का सारभूत अर्थ हो। धर्म की इस मान्यता ने ही बादशाह को शायद धर्म सहिष्णु बनाया हो। धर्म वही श्रेष्ठ है जो सम्पूर्ण विश्व की कल्याण भावना को लिए हुए हो। यह विशेषता हमारे ऋषियों में थी। उन्होंने हमेशा अपनी दृष्टि विश्व कल्याणमयी रखी। अकबर तो बहुत बाद में पैदा हुआ....धर्म के प्रति उदारता तो यहां सदियों पूर्व से ही थी। यहां का चिंतन सर्वकल्याणमयी, विश्व बन्धुत्व की भावना लिए हुए शुरू से ही था।

—किसी भी देश पर उसके प्रखर चिंतकों के चिंतन का प्रभाव पड़ता ही है। वहां की धार्मिक आस्था, ऋषि-मुनियों के सन्देश, सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था को ओत-प्रोत करते हैं। कश्मीर में भी गौतम बुद्ध के समय काल से लेकर ईसा के पांच सौ साल बाद तक अशोक, कनिष्क, हुविष्क, गान्धार की चतुरगोष्ठी आदि ने शासन किया था। इन्होंने ईसा को दूसरी शताब्दी तक कश्मीर समेत सारा उत्तर और पामीर के उस पार कासगढ़ तथा यारकन्द और मंगोलिया की पूर्वी सीमा तक के विस्तृत भू-भाग को अपने अधिकार में ले लिया था।

—लेकिन क्या यह साम्राज्य विस्तार की लिप्सा थी ? शायद नहीं। यह सांस्कृतिक दायित्व का वचन पूर्ण करना था। सिनकियांग और तकलामकान जैसे रेतीले इलाके में भारत का कोई कीर्तिस्तम्भ खड़ा नहीं किया गया। हां, बिना किसी तलवार और भाले के, बिना रक्त की एक भी बूंद बहाए, इस क्षेत्र की पवित्रता का निर्वाह करते हुए बौद्ध संस्कृति के चर्चा केन्द्र यहां जरूर खुले। आश्चर्य है कि यह भिक्षुओं के भिक्षापात्रों के बलबूते पर हुआ। इन्हीं भिक्षुओं के सम्मुख तुक्षर, मंगोल, चीनी, तिब्बती और अन्य कई खूंखार-जातियां नत हुईं। आज भी इस क्षेत्र में पचासों मठ गवाह हैं; इस बात के कि लोगों के दिलों पर तलवार से नहीं, उदारता से राज किया जाता है। सम्राट अशोक अपनी धार्मिक सहिष्णुता के बल पर श्रीनगर जैसे शहर को बसाकर अपने विजयस्तम्भ के रूप में छोड़ गया।

—और फिर आए राजा नरजार, सिद्ध, उत्पलाक्ष, हिरण्याक्ष, हिरण्यकुल, वसुकुल, मिहिरकुल आदि। ये हूणवंशीय राजा थे। इनमें तोरमान और मिहिरकुल अत्याचारी शासक हुए हैं। ये राजा लोग शिव भक्त थे और बौद्धों के घोर विरोधी

थे। इन्होंने बौद्धों पर अथक अत्याचार किए। इन्होंने अपनी तलवार के बल पर लाशों के ढेर लगा दिए किन्तु इस क्षेत्र की धार्मिक सहिष्णुता को समाप्त नहीं कर सके।

—छठी शताब्दी में इस क्षेत्र पर राजा प्रवरसेन का राज्य चला। उसने श्रीनगर का नाम बदलकर प्रवरपुर रख दिया। इस राजा ने बड़ी शालीनता से यहां राज किया। इसके बाद कर्कट वंश के रूप में यहां ब्राह्मण राज्य स्थापित हुआ। प्रज्ञादित्य और अनंगलेखा के इस वंश में ही मुक्तापीड़ ललितादित्य जैसे प्रतापी शासक हुए। इस ब्राह्मण नरेश को ब्राह्मणत्व में पूर्ण निष्ठा थी। इसने कई बौद्ध बिहार और स्तूपों का निर्माण करवाकर के भारत की धार्मिक उदारता का प्रमाण प्रस्तुत किया।

—नवीं शताब्दी में उत्पलवंश के अवंतीवर्मन ने कश्मीर के विद्वानों, कवियों, शिल्पियों, दार्शनिकों और कलाकारों को बिना किसी जाति, धर्म और वर्ग भेद के सम्मानित किया। इस नरेश की मृत्यु के बाद के दो सौ वर्ष कश्मीर के इतिहास में कलंकित वर्ष हैं।

स्वामीजी कश्मीर के इतिहास सम्बन्धी पुस्तकों को न केवल खंगाल रहे थे वल्कि उनका मानस इतिहास काल के साथ विचरण भी कर रहा था। कश्मीर के 51 हिन्दू तीर्थो को केन्द्र मानकर 51 पुराण रचित हुए हैं। इनकी पौराणिकता महत्त्वपूर्ण है। स्वामीजी का यह प्रिय विषय था सो वह उसमें खो गए। उनका मानस इन पुराणों के आधार पर विश्लेषण कर रहा था उस ऐश्वर्यमयी हिन्दू या 'सिन्धु' संस्कृति का, जो पांच हजार वर्ष से आर्य सभ्यता के रूप में इस क्षेत्र में छाई हुई है। इस संस्कृति के प्रभाव में कौन नहीं आया ? पठान, मुसलमान, दम्बा, बम्बा, दार्द, हूनजा, यासेन, कश्मीरी हिन्दू, लद्दाखी बौद्ध, डोगरा और उन्नीसवीं शताब्दी का सिक्ख सम्प्रदाय, सभी को इसने पाशबद्ध किया।

स्वामीजी ने जैसे ही कश्मीर में पैर रखा था उन्हें चारों ओर यही आर्य सभ्यता छिटकी हुई नजर आई थी। उन्हें यहां के निवासियों की उदारता, सहनशीलता, समृद्धि, सामाजिक रीति-नीति, शिक्षा, कल्पना, जीवन प्रणाली और अर्थनीति आदि हिन्दूशास्त्र और सिन्धु संस्कृति से बंधी दृष्टिगत हुई। कश्मीर का प्रत्येक नगर, शहर, जनपद, गांव, नदी, सरोवर और पुराकीर्ति हिन्दू नाम लिए हुए हैं। काल-क्रम विकृत हो सकता है पर वन, पर्वत, उपत्यका, घाटी, उपवन हिन्दू संस्कृति की छाप लिए हुए हैं। शासक किसी भी जाति और धर्म का आया हो....'हरिपर्वत' और 'शंकराचारिया' न बदल सके।

दुर्गम पर्वतमालाओं के घेरों में पनपती यह संस्कृति कालजयी इतिहास की रचना करती आई है और निरन्तर किए जा रही है। कालचक्र में एक से एक प्रतापी,

बलशाली, दुराचारी और अत्याचारी शासक पिसते रहे....अक्षुण्ण रही तो हिन्दू सभ्यता और संस्कृति।

स्वामीजी ने एक लम्बी सांस ली और विचार करते हुए उठ खड़े हुए....समय बलवान है। इस विश्व में असत् का अस्तित्व नहीं है; तो सत् का भी अभाव नहीं है। क्षुण्ण और अक्षुण्ण यही तो है। जो इसे समझ गया, वह अपने यश को कालजयी कर गया।

स्वामीजी का चिंतनयुक्त विहार चलता रहा। उनकी दृष्टि और मानस का समायोजन उन्हें विभिन्न काल खंडों में ले जाता और वापस ले आता। वे दुर्गम अंचलों की दृश्य छवियों तथा महासिन्धु, वितस्ता, विपाशा, शतद्रु, इरावती, कृष्णगंगा, चन्द्रभागा आदि जीवनदायिनी सरिताओं की धाराओं को पहाड़ी दर्रों के मध्य अठखेलियां करते हुए देखना चाहते थे। एकान्त वन प्रान्तर की घाटियों में जो मौन-मुखर संगीत लहरियां मन को उद्वेलित करती थीं, वे उस दिव्य प्राकृतिक छवि के साथ एकमेक हो जाना चाहती थी। हिम मंडित पवर्त शृंखलाएं उन्हें अपने को निमंत्रित करती अनुभव होती थीं; और घाटियों में यत्र्-तत्र्, ऊपर नीचे बसे हुए गांव अथवा उनसे रचे बसे हुए विभिन्न जातियों के लोगों का आकर्षण उन्हें अपनी ओर खींचता था। विभिन्न धर्मों के पूजास्थलों पर लहराते हुए धर्म-ध्वज उनको अपनी ओर बुलाते दिखते थे। वे सोचते कि भारत के इसी चरित्र से इसकी मिट्टी पूजनीय बनी है।

इस निर्मल प्रकृति ने यहां के लोगों को चरित्र भी निर्मल दिया है। जो इस प्रकृति में न रम सका, जिसने इस प्रकृति को न अपनाया, उसे प्रकृति ने भी नहीं बख्शा। वैसे प्रकृति सहृदय है किन्तु अपने विरुद्ध चलने वालों को यह दंड भी भरपूर देती है। स्वामीजी का मन पुस्तकालय से बाहर निकलने का हुआ। वे प्रकृति के सानिध्य में जाना चाहते थे, सो वे अधिकृत व्यक्ति को सूचित करके महल से बाहर आ गए।

स्वामीजी इस वक्त स्वच्छन्द विहार पर निकले हुए थे। वे इस बार अपने सत्कारकर्त्ता से कह आए थे कि उनके भ्रमण में खलल न डाला जाए। वे बिना किसी औपचारिकता के इस क्षेत्र का अवलोकन करना चाहते थे। उन्हें भ्रमण में आनन्द आता था। साधारणजनों के बीच में बैठकर जीवन-दर्शन को उन्हीं लोगों के शब्दों में कहना उन्हें बहुत अच्छा लगता था। वे अपनी साधना, अध्ययन और भ्रमण से जो निष्कर्ष निकालते, वे समाज के हित में होते। अपने प्रवचनों और चर्चाओं के दौरान वे इन्हीं निष्कर्षों को बयान करते। लोग जब उनके मुखारबिन्दु से आध्यात्मिकता

की जटिल पहेलियों को सहज भाषा में प्रसूत होते देखते तो उन्हें लगता मानो रिमझिम-रिमझिम वर्षा हो रही है....ऐसी सुखद वर्षा जिसमें गात भीगने से मन हर्षित हो जाता है। किसी-किसी को ऐसा सौभाग्य मिल जाता कि वह दो-चार दिन स्वामीजी के साथ रह लेता। स्वामीजी पर तो कोई प्रभाव नहीं पड़ता, किन्तु उनका साथ पा लेने वाले व्यक्ति को लगता मानो पानी की निर्मल धारा ने चट्टान को कुछ तराश दिया हो। वह सोचता कि काश ! मैं इनके साथ और रह पाता। लेकिन साधु-संतों का कहां एक ठिकाना ? वे तो उस मेघ सदृश हैं तो यत्र्-तत्र् धरती को हरा-भरा करने में लगे रहते हैं।

स्वामीजी अभिभूत हो रहे थे प्रकृति के वरदान को देखकर। एक स्थान पर वे ऊंची शिला पर बैठ गए। वह ऐसा स्थान था जहां से यत्र्-तत्र् बिखरी छटा को एक नजर में समेटा जा सकता था। नभ खुला हुआ था....तरह-तरह के पक्षीवृन्द चिनार के घने जंगलों के ऊपर मंडरा रहे थे। उन्होंने एक दृष्टि उधर डाली....मन में विचार फूटे-कितना स्वच्छन्द जीवन है। सब अपना-अपना जीवन पूरा करने में लगे हुए हैं....वृक्ष, लता, तृण, पशु-पक्षी। ठीक ही कहा गया है।

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयति यथाकर्म यथाश्रुतम्।।

—कठोपनिषद, वल्ली 2।। 7।।

अपने-अपने कर्मों के अनुसार, देखे सुने भावों से निर्मित अन्तःकालीन वासना के अनुसार मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा दूसरा शरीर धारण करता है। इनमें जिनके पुण्य-पाप समान होते हैं, वे मनुष्य का और जिनके पुण्य कम तथा पाप अधिक होते हैं, वे पशु-पक्षी का शरीर धारण करके उत्पन्न होते हैं और कितने ही, जिनके पाप अत्यधिक होते हैं, जड़ शरीर में उत्पन्न होते हैं। ईश्वर की अव्यक्त मायाशक्ति जगत में कहां नहीं छिटकी हुई है ? वही सबकी परम गति है। इसे जितना अनुभव करो, उतना ही गहराई में जाने का मन करता है। आनन्द....चारों ओर आनन्द की सृष्टि है। जहां तक देखो....ईश्वर ही ईश्वर। काफी देर उपरान्त वे पुनः आगे बढ़े।

स्वामीजी शिला पर से उठे और आगे चल पड़े। उन्हें पैदल चलने का शौक था। पैदल चले बिना भ्रमण का कोई फल भी तो नहीं मिलता। प्रत्येक कदम पर भूमि का स्पर्श उन्हें यह अनुभव कराता था कि वे भूमि की उपज हैं। पांव चलते थे तो मन भी काम करता रहता था। वे जानते थे कि भारत जितनी परिव्रज्या विश्व के किसी और देश में नहीं है। इसके जितने ज्यादा दर्शन किए जाएं उतना ही मनुष्य धन्य होता है। भारत ही एक ऐसा देश है जिसने पैदल परिव्रज्या से अध्यात्म की

चरम उपलब्धि प्राप्त की है। बुद्ध को ले लो और चाहे नानकजी और शंकराचार्य को, सभी अध्यात्म की सीढ़ियां पैदल परिव्रज्या से चढ़े हैं। एक स्थान पर बैठे-बैठे धूप में चमकते नीलाभ गगन को, चीड़-पाहन-देवदार-चिनार के जंगलों की सांय-सांस को, भास्कर किरणों से झिलमिलाती गुनगुनाती स्वर्ण-कण बहाने वाली निर्झरणियां की राग-रागनियों को, तरह-तरह के जंगली फूलों का माया-क्रन्दन करती सुवासित गन्ध को, स्थान-स्थान के खेतिहर तुषारपात को, नाले-पनालों की गुंजन को देखा और अनुभव नहीं किया जा सकता।

ईश्वर ने इसीलिए हमें मनुष्य योनि प्रदान की है तथा मस्तिष्क प्रदान किया है; ताकि हम उसकी रचना को समझ कर उसकी अपार शक्ति और अनुपम दया का भास कर सकें। पूरे प्रकृति चक्र को जानने की अभिलाषा ही मनुष्य को अपना और अपनी शक्ति का बोध करवाता है; और उसे अहंकार रहित बनाता है।

वे एक समतल स्थान देखकर फिर से कुछ देर आराम करने बैठ गए। पर्वतीय मार्गों पर चलना सरल भी तो नहीं होता। उन्हें बैठे अभी क्षण भर ही बीता था कि इस समतल जगह में एक ओर से चिनार-वन के भीतर से भेड़-बकरियों का झुंड निकलने लगा। इस झुंड के पीछे-पीछे चलता हुआ गड़रिया भी प्रकट हुआ। गड़रिया अपनी मस्ती में खोया हुआ ऊंचे स्वर में कोई गीत गाता चल रहा था।

उसकी गीत की भाषा स्वामीजी की समझ में नहीं आई किन्तु उसके शब्दों का आरोह-अवरोह उनके मन के गहरे तल को छू रहा था। गड़रिय की नजर जैसे ही साधु पर पड़ी, उसकी स्वर लहरियां मंद पड़ गई। साधु ने उसे अपनी ओर आने का इशारा किया। गड़रिया संकोच की ऊर्मियों पर तैरता हुआ साधु के पास पहुंचा। साधु के निकट आकर उसने नमस्कार किया और असमंजस में उनकी ओर देखने लगा।

"बेटे, क्या नाम है तुम्हारा ?" साधु ने प्रश्न किया।

"हमीद।" संकोच में बालक बोला।

"काफी दूर से आ रहे हो ?"

"हां, इस जंगल के पीछे घाटी में गांव है हमारा।"

"दिन भर इधर ही रहोगे ?"

बालक भोली हंसी हंसा और साधु को समझाने के से स्वर में बोला—"दो-चार घंटों में इन जानवरों का पेट थोड़े भर जाएगा। इन्हें जल्दी घर ले गया तो ये भूखे नहीं मर जाएंगे ? हम इनका ख्याल खुद से ज्यादा रखते हैं।"

"लेकिन बेटे, मेरी समझ में नहीं आया कि तुम इनका ख्याल खुद से ज्यादा

क्यों रखते हो ?"

"अरे ! आप तो बिलकुल बुद्धु हैं !" बालक ने अपनी निश्छल हंसी हवा में उड़ाई।

"बुद्धु को समझाना भी तो ठीक है। तुम मुझे नहीं समझाओगे ?"

"बाबा, ये जानवर हैं न। बोल नहीं सकते। हम इनका ख्याल नहीं रखेंगे तो कौन रखेगा ? हम भूखे होंगे तो रोटी मांग लेंगे, हमारा पेट नहीं भरेगा तो हम और खाना मांग लेंगे। ये बेचारे तो ऐसा नहीं कर सकते। इसलिए हमें इनका ख्याल रखना होता है, समझे।"

"हां, अब समझ में बात आ गई। लेकिन एक बात है। हम यदि इनका ख्याल न रखें तो हमारा क्या बिगड़ेगा ? हमने इन्हें भूखा रखा है, यह कौन देखता है ?"

बालक ने आकाश की ओर उंगली उठाकर कहा—"वह अंधा नहीं है।"

"हां, बात तो यह ठीक है।" साधु मुस्करा कर बोला।

"बाबा, तुम जैसा बुद्धु मैंने आज तक नहीं देखा है। तुम किस गांव के हो ?" बालक आनन्द से बोला। वह अब बोलने में संकोच नहीं कर रहा था।

"तुमने मुझे बात समझा दी। मैं समझ गया तो अब मैं बुद्धु कहां रहा ? मैं साधु हूं। साधुओं का कोई गांव नहीं होता। जहां ठहर गए, वही हमारा गांव है।"

"अच्छा, फिर तो सारा हिन्दुस्तान तुम्हारा है ?" बालक आश्चर्य से बोला।

"हां, सारा हिन्दुस्तान मेरा है। अरे ! मेरा ही क्यों तुम्हारा भी है।"

"बाबा, तुमसे बातें करने में आनन्द आ रहा है। लेकिन देखो तो, मेरी भेड़ें तो बहुत आगे चली गई हैं। मैं चलता हूं।

बालक भागता हुआ जानवरों के झुंड के पीछे चला गया। साधु हर्षित नेत्रों से उसे देखता रहा। वह उठा और चहलकदमी करता हुआ लौटने लगा। उसके कदम अपने गन्तव्य की ओर बढ़ रहे थे और मन बहुत पीछे की यात्रा कर रहा था।

4

वह भी तो कभी बच्चा था, हमीद जैसा नटखट। अपनी मां को कितना तंग करता था वह। तरह-तरह की हरकतों और अजूबे सवालों को पूछकर वह मां को हैरान कर डालता था। कई बार तो तंग आकर उसकी मां को कहना पड़ता था—"कितना सिर टेक कर शिवजी से पुत्र की याचना की थी, किन्तु उन्होंने भेज

दिया एक भूत।"

मां की वाणी सुनकर वह खिलखिला पड़ता था। मां क्रोध से उसे पकड़ लेती और 'शिव', 'शिव' कहते हुए उसके सिर पर कुछ जल उंडेल देती। वह शांत होकर मां की ओर देखता और पूछता—"मां, तुमने मेरे सिर पर पानी उंडेल दिया।" मां हंसकर कहती—"तुझे शान्त करने का और कोई उपाय नहीं है। आशुतोष शिव जलाभिषेक से ही संतुष्ट होते हैं।" और मां प्यार से उसे छाती से चिपका कर चूम लेती। वह मां के बंधन से मुक्त होकर सवाल करता।

"मां, आज तुमने मुझे सीताराम की कहानी नहीं सुनाई, महाभारत का कोई किस्सा भी नहीं सुनाया....पुराणों की कोई बात भी नहीं उगली। मेरे पास जब तक बेकार का समय रहेगा तब तक ऊधम तो मचेगा ही।"

"बेकार समय में तू पढ़ता क्यों नहीं है ? अरे ! नटखट, अपने पिताजी के समान बनना है तो पढ़ना पड़ेगा। दत्त परिवार की साख को कायम रखना है तो परिश्रम करना होगा।"

कलकत्ता नगरी के उत्तरी भाग में सिमुलिया मोहल्ले के गौरमोहन मुखर्जी स्ट्रीट में दत्त परिवार का विशाल भवन था। इस वंश की ख्याति दूर-दूर तक फैली हुई थी। कलकत्ते के जाने-माने लोग भी दत्त भवन के बारह महीनों के तेरह उत्सवों की चकाचौंध से अभिभूत थे। उनके मुंह से बहुधा ये शब्द निकलते थे—"ईश्वर ऐश्वर्य दे तो दत्त वंश सा।"

दत्त परिवार के ऐश्वर्य की बातें सुनकर वह मां से पूछता—"मां, मुझे तो शरीर पर भभूत लगाकर डोलना बहुत अच्छा लगता है।"

"तुझे तो शरीर पर कीचड़ लगाकर बहनों को भयभीत करना भी अच्छा लगता है।"

"वे मुझे पीटने के लिए मेरा पीछा क्यों करती हैं ?"

"क्योंकि तू ऊधम करके उन्हें परेशान कर डालता है।"

"तो फिर मुझे भी तो अपना बचाव करना है ?"

मां मुस्कराती और उसे डपटती—"देख रे, बिले, तूने यदि ज्यादा ही ऊधमबाजी मचाई न, तो महादेव तुझे कैलास में नहीं आने देंगे।"

"मां, तुम मुझे ही डांटती हो बस। दीदीयों को कुछ नहीं कहतीं। वे मुझे पीटने के लिए नाली तक भगा ले गईं। मैं डर के मारे नाली में गिर गया। मेरे सारे कपड़े कीचड़ से भर गए। इस पर भी तू मुझे ही डांटती है।"

"बिले, नाली में तू जानबूझ कर गिरता है। मैं जानती हूं रे. ताकि बहनें

अपवित्र होने के डर से तुझे छू न सकें।"

वह मां की बात सुनकर शरारती स्वर में कहता—मां, तुम ठीक कहती हो। मुझे कीचड़ में लिपटा देखकर दीदीयां भाग खड़ी होती हैं। मैं उनके पीछे भागता चला आता हूं। मामला बिलकुल उलट जाता है। वे मेरे आगे हाथ न जोड़ें, तो मैं उन्हें छू लूं।"

"तुझे तो कीचड़ में लोटने पर मिनट भर लगता है। लेकिन उसके बाद मुझे तुझको नहलाने में कितना समय लगता है, जानता है ? गंदा कीचड़ मुझे छूना पड़ता है।"

"तुम मां हो न। मेरी शरारतों से यदि तंग आती हो, तो शंकर से क्यों मुझे मांगा था ? मुझे नहीं चाहती हो तो मुझे महादेव को वापस कर दो।"

"अच्छा, ठहर, तुझे अभी बताती हूं।"

वह भाग खड़ा होता। मां भुवनेश्वरी देवी ठिठकी खड़ी रह जाती। वे पक्की शिव भक्त थीं। उनकी सरल भक्ति और सहज विश्वास में अति निश्छलता थी। पुत्र लालसा में उन्होंने अपना शरीर कठोर व्रतों से तपा डाला था। लेकिन उनकी इच्छा फलीभूत नहीं हो रही थी। उन्हें मालूम था कि उनकी पवित्र भक्ति और ईश्वर भाव शंकर की समाधि एक न एक दिन तोड़ेंगे।

दत्त परिवार की एक वृद्ध महिला उन दिनों काशी में रहती थीं। एक दिन भुवनेश्वरी ने उसे पत्र लिखा कि उनकी ओर से प्रतिदिन श्री विश्वेश्वर की पूजा एवं अनुष्ठान की व्यवस्था करें। ताकि उनकी पुत्र-कामना फल सके। उनकी इच्छानुसार व्यवस्था कर दी गई। इधर उनका अधिकांश समय शिवार्चन में व्यतीत होने लगा। भुवनेश्वरी इतनी भक्ति-भावना में डूब जाती थी कि उन्हें पता ही नहीं लगता था कि कब दोपहर बीत गइ; और कब भास्कर देव पश्चिम में तिरोहित हो गए। अति संयमपूर्ण भक्ति और सरल जीवन से दिनोंदिन उनका मुखमंडल कांतिमय होने लगा।

एक दिन उनका श्रम-साध्य शरीर निंद्रामग्न था कि एकाएक उन्हें भास हुआ मानो साक्षात शिव शिशु रूप में उनकी कोख में समा गए हों। वे चिहुंक कर उठ बैठीं। दरवाजे से बाहर झांका। सूर्य देव प्राची दिशा में अभी-अभी अवतरित हुए ही थे। वे वहीं भूमि पर साष्टांग होकर नत हो गईं। अन्तर्मन से स्वर फूट पड़े—"हे शिव, भोले शंकर; मैं कृतार्थ हुई।"

उनकी कोख में शिशु पलने लगा। उनकी दिनचर्या भक्ति की ओर और भी नियमित होती गई और फिर एक दिन (12 जनवरी, 1863) को पौष संक्रान्ति के

प्रभात के 6 बजकर 33 मिनट और 33 सेकंड पर पूरा दत्त भवन उल्लासमय हो गया। बंगाल के घर-घर में इस दिन पौष पर्व का उत्सव धूमधाम से मनाया जा रहा था। इसी आनन्दोत्सव के मध्य भुवनेश्वरी की कोख से 'वीरेश्वर' जन्म ले चुका था, जिसे बाद में 'बिले' के नाम से पुकारा जाने लगा। कालान्तर में जन साधारण के बीच यही बालक 'नरेन्द्रनाथ' के रूप में जाना जाने लगा।

वह चला जा रहा था। एक-दो स्थानों पर उसे ठोकर भी लगी....सम्भला और पुनः स्मृतियों में खोया चलने लगा। स्मृतियां सद्पथ का निर्माण करती हैं, बशर्ते वर्तमान संदर्भ के सही परिप्रेक्ष्य में उसका विश्लेषण किया जाए और विचारा जाए कि मैं क्या था, मुझे क्या होना है ? मनुष्य अपने शैशवकाल के लक्षणों से आभासित हो जाता है कि उसकी दिशा क्या है; वह क्या बनेगा ? क्या करेगा ?

उसे अपने शैशवकाल में दो चीजें बेहद प्रिय थीं। मां के मुंह से रामायण और महाभारत की कहानियां सुनकर वह बहुत खुश होता था। भुवनेश्वरी देवी जब उसे अपनी गोद में बिठाकर सीताराम की कहानी सुनाती तो वह अपनी स्वाभाविक चंचलता त्याग कर घंटों भाव विभोर हुआ रहता। दत्त भवन में प्रतिदिन दोपहर को कथा होती थी। कोई वृद्ध महिला या भुवनेश्वरी देवी धार्मिक ग्रन्थों को बांचती, वह मंत्र मुग्ध होकर नेत्र बंद किए पाठ का श्रवण करता रहता।

उसे अपनी घोड़ा-गाड़ी भी बहुत पसन्द थी। वह जब गाड़ी में मां की गोद में बैठकर सैर करने जाता और दोनों ओर तरह-तरह की चीजें देखता तो, उसकी खुशी और जिज्ञासा भरे सवालों की सीमा न रहती थी। उसे अपने कोचवान से भी पूरा लगाव था क्योंकि जिन प्रश्नों का उत्तर मां टाल जाती थी, उनके उत्तर उसे कोचवान से मिलते थे। अपने बूढ़े कोचवान से उसकी मित्रता थी। वह अक्सर अस्तबल में जाकर सईस और कोचवानों के कार्यो को देखता रहता और खोद-खोदकर सवाल करता रहता।

उसकी स्मृति में बूढ़े कोचवान की हंसी गूंजी। उसने कोचवान से पूछा था—"बाबा, इस घोड़े की देखभाल तुम नहीं करोगे तो क्या यह मर जाएगा ?"

कोचवान ने हंसकर उत्तर दिया था—"छोटे बाबू, आप देखते हैं न, मैं इनकी कितनी सेवा करता हूं। इसकी इतनी सेवा नहीं हुई, तो क्या यह जिन्दा रहेगा ?"

उसने तुरन्त अगला सवाल दाग दिया था।

"इस दुनिया में सैकड़ों जीव-जानवर ऐसे हैं जिनकी कोई देखभाल नहीं करता,

वे कैसे जीवित रहते हैं ?"

कोचवान की हंसी थम गई। कोचवान को चुप होता देखकर वह बोला था—"मैं बताऊं ?"

"बताइए तो।"

"दुनिया में सभी प्राणियों की देखभाल श्रीसीताराम करते हैं।"

कोचवान अपने कान पकड़ कर कहता—"आप बिलकुल ठीक कह रहे हैं।"

उसका सोच इसी क्रम में आगे बढ़ रहा था।

और एक दिन वह अपने साथी को लेकर बाजार गया तथा सीताराम की युगल मूर्ति खरीद लाया। मां-पिता-बहनों से छिपाकर उसने मूर्ति को ऊपरी मंजिल के एक खाली कमरे में स्थापित कर दिया। इस रहस्य का पता उसके पश्चिम-देशीय कोचवान मित्र को था। वह घंटों इस मूर्ति के समक्ष ध्यानमग्न हुआ बैठा रहता।

उसकी शरारतों को कम हुआ देखकर मां को चिन्ता हुई। उन्होंने अपने पति विश्वनाथ से इस बात की चर्चा की—"इस बिले की शरारतों से घर भर परेशान था। अब यह न जाने कहां रहता है ! न खाने का पता है न पीने का पता।"

"कोचवान से पूछा ?"

"नहीं तो।"

"उसे पता होगा कि उसका नन्हा दोस्त कहां रहता है।"

विश्वनाथजी ने कोचवान को बुलवाया और पूछताछ की—"मुझे मालूम है कि छोटे बाबू कहां रहते है ?"

"कहां रहते हैं ?" भुवनेश्वरी देवी ने सवाल किया।

"आइए मेरे साथ। इस वक्त वे अपने ठिकाने पर मिलेंगे।"

विश्वनाथजी और भुवनेश्वरी देवी कोचवान के पीछे-पीछे भवन की ऊपरी मंजिल पर जाने के लिए सीढ़ियां चढ़ने लगे।

"लेकिन ऊपरी मंजिल तो वर्षों से खाली पड़ी है।" विश्वनाथजी बुदबुदाए।

भवन की छत के एक किनारे पर सुनसान कमरे की ओर उन लोगों के कदम बढ़ते जा रहे थे। कोचवान ने धीरे से कमरे का द्वार खोला। मां-पिता दोनों विस्मय में डूबे अपने लाल को देख रहे थे। वह सीताराम की मूर्ति के सम्मुख ध्यानावस्थित होकर बैठा हुआ था।

भुवनेश्वरी देवी ने धीरे से दरवाजे को उड़का दिया और तीनों वापस लौट पड़े। कोचवान लौट गया। भुवनेश्वरी देवी को पुत्र जन्म से पूर्व आए स्वप्न का ख्याल आया। वह राज उन तक सीमित था। पति के स्वर ने उनका ध्यान भंग

किया।

"इसके लक्षण तो पिताजी के समान दिख रहे हैं। तुम जानती हो मेरे दादा राममोहनजी कलकत्ता सुप्रीम कोर्ट के नामी वकील थे। मेरे पिता दुर्गाचरणजी ने भी वकालत में कदम रखा था; लेकिन वकालत की अपेक्षा उनकी रुचि सत्संग एवं धर्मशास्त्रों में ज्यादा थी। ऐश्वर्य लिप्सा और धनोपार्जन को उन्होंने हेय माना। पच्चीस वर्ष की अवस्था में ऐश्वर्य, सम्मान, भोग-विलास त्याग कर सन्यास ग्रहण करने के पीछे उनकी यही विरक्ति तो थी। मुझे इस बालक में भी वही अंकुर फूटते नजर आ रहे हैं।"

"धर्म की ओर उन्मुख होना बुरा नहीं है।" भुवनेश्वरी ने अपना दिल समझाया।

"बात धर्म और अधर्म की नहीं है। तुम जानती हो कि मुझे मुसलमानी रीति-रिवाज-धर्म, ईसाई-धर्म, हिन्दू-धर्म तथा अन्य धर्मों की अच्छाइयों से अनुराग है। इसीलिए मैं कभी भी किसी धर्म विशेष के ऊहापोह में नहीं पड़ा हूं। लेकिन मेरे विचार में हमारा आदर्श अपने जीवन को सुखी बनाना होना चाहिए। इसके लिए पार्थिव सुखों को जुटाना होगा जिसके लिए धनोपार्जन आवश्यक है। इस विषय में मैं अपने दादाजी की कील पर हूं। कोई आश्चर्य नहीं, बिले पर उसके दादाजी की छाप हो।"

भुवनेश्वरी देवी कुछ नहीं बोलीं। पति ने दिलासा दिया—"बच्चा है। अभी इसमें परिपक्वता कहां से आएगी। मैंने एक दिन उससे सवाल किया था—नरेन्द्र, तू बड़ा होकर क्या बनना चाहता है ? उसने उत्तर दिया था कि वह कोचवान बनना चाहता है क्योंकि कोचवान का छाती फुलाकर बैठना, घोड़े को लगाम के बल पर हांकना, खास पोशाक पहनना और उसकी जरीदार पगड़ी उसे भाती है। लेकिन अब मैं देख रहा हू कि उसकी विचारधारा में बदलाव आ रहा है। बालक के विचार अस्थिर होते हैं न ?"

भुवनेश्वरी देवी धार्मिक प्राचीनपंथी महिला थीं। उन्हें बिले का धर्म की ओर उन्मुख होना सुहाता था; किन्तु वह कहीं अपने दादाजी के समान सन्यास की परम्परा पर चल पड़ा तो ? मां का सर्वांग थर्रा उठता था....बिले उनका प्राण था।

नरेन्द्र को याद आया कि कैसे श्रीसीताराम से उसका लगाव टूटा।

एक दिन भोजन करते वक्त वह मां से बोला था—"मां, मैं सीताराम की पूजा

कैसे करूं ?"

मां ने सरल हृदय से पूछा—"क्यों रे ! क्या हुआ ?"

बिले ने आंखों में आंसू भरकर मां को कोचवान द्वारा सुनाया गया विवाहित जीवन का अशान्त किस्सा सुनाया। कोचवान का विवाहित जीवन बड़ा अशान्त रहा था और वह इसका कारण स्त्री को मानता था। एक दिन प्रसंगवश उसने बिले के आगे अपनी जीवन गाथा का समानीकरण करते हुए बखान कर दिया। बिले के कोमल हृदय पर इसकी अच्छी छाप नहीं पड़ी।

मां ने पुत्र को छाती से लगाते हुए पूछा था—"तू करना क्या चाहता है बेटे ?"

उसने उत्तर दिया था—"राम के साथ सीता हैं। वह उनकी पत्नी हैं। मैं अकेले राम की पूजा कैसे करूं ?"

मां ने तत्काल उत्तर दिया—"जाने दे, कल से शिवजी की पूजा करना।"

वह मां के उत्तर से संतुष्ट हो गया। मौका देखकर वह छत पर गया और सीताराम की मूर्ति उठाकर नीचे फेंक दी। बिले तो संतुष्ट हो गया, पर मां का हृदय विवाहित जीवन के विषय में पुत्र की भावना जानकर सिहर गया। उन्होंने उसकी भावनाओं को मोड़ने का काफी प्रयत्न किया। उसे आदर्श, उन्नत विवाहित जीवन के किस्से सुनाए। लेकिन बिले टस से मस नहीं हुआ। उसका कहना था—"विवाहित जीवन कितना ही उन्नत क्यों न हो, पवित्र क्यों न हो, वह मेरा आदर्श नहीं है।"

स्मृतियों की गागर छलकी जा रही थी। कुछ क्षणों के लिए उसकी एकाग्रता भंग हुई। पक्षियों का एक समूह कलरव करता हुआ उसके सिर पर से गुजरा। वह सुस्ताने के लिए एक चट्टान पर बैठ गया। उसने कमंडल एक ओर रखकर चारों ओर समग्र दृष्टि डाली।

"ओह ! इस आनन्दाभूति का अंत है कहीं ? प्रभो, अद्भुत है तेरीसृष्टि....अपरम पार है तेरी माया ! कितना महान है तू। सृष्टि के कण-कण में तू छलकता है।"

5

उसे वहां बैठे अभी कुछ ही समय बीता था कि दूर से बाबू महेशचन्द्र भट्टाचार्य आते दृष्टिगत हुए। निकट आते ही वे बोले—"स्वामीजी, आपके भोजन का समय हो गया है। आपको मुखोपाध्याय बाबू ने याद किया है। उन्होंने राजभवन सूचना

भेज दी है कि आज आप उनका घर पवित्र करेंगे। कई साधारण जन आपके प्रवचन सुनने के लिए उत्सुक हैं। उनका भी अधिकार आप पर है।"

"भट्टाचार्यजी, आप मुझे ढूंढ़ते-ढूंढ़ते कहां आ गए ? आपने इतना कष्ट क्यों किया ? मैं इतना विशिष्ट नहीं हूं कि आप लोग मेरी इतनी चिन्ता करें।" स्वामीजी भट्टाचार्य के साथ चलने के लिए तत्पर हो गए। भट्टाचार्यजी को महाराजा ने स्वामीजी के स्वागत-सत्कार के लिए लगा रखा था। श्रीनगर में महाराजा के भाई रामसिंह और अमरसिंह स्वामीजी की आवभगत करने में लगे हुए थे। महाराजा इस वक्त जम्मू में थे।

कश्मीर की अतुलनीय और स्वास्थ्यवर्द्धक जलवायु में स्वामीजी पहले की अपेक्षा काफी स्वस्थ हो चुके थे। राजा, मंत्रीगण, स्थानीय पंडित और अन्य विज्ञजन स्वामीजी की वाणी पर लट्टू हो रहे थे। राजा ने उनकी आवास व्यवस्था राजभवन में कर रखी थी। उनके लिए हाउस बोट का प्रबन्ध भी किया हुआ था। न्यायमूर्ति मुखोपाध्याय के निवास पर भी उन्हें बुलाया जाता था। राजा का कहना था—"आप स्वच्छन्दता से विहार करिए। बस, इतनी सी ही प्रार्थना है कि आधेक घंटा हमें भी अपनी वाणी के प्रसाद से कृतार्थ कर दिया करें।"

स्वामीजी को विचारमग्न चलता देखकर भट्टाचार्यजी भी चुपचाप चले जा रहे थे कि स्वामीजी ने अपना मौन भंग किया—"मैं यहां आठ सितम्बर को पहुंचा था। दस दिन हो गए हैं। इन दस दिनों में मैं खूब घूमा। ऐतिहासिक स्थल तो मैंने कोई छोड़ा ही नहीं। भय हो रहा था कि कहीं पुनः अस्वस्थ न हो जाऊं; किन्तु मां की कृपा है। जब स्वस्थ हूं तो मां के पुत्रों की इच्छा पूरी करना भी तो मेरा धर्म है। भट्टाचार्यजी लोग मेरे प्रवचनों से संतुष्ट तो हैं।"

"आपकी वाणी में साक्षात सरस्वती विराजमान है स्वामीजी। लोगों की शंकाएं स्वतः दूर हो जाती हैं।"

"भट्टाचार्यजी, सब मां की कृपा है। जगदम्बा सबकी सहायक हैं। गुरु महाराज श्रीरामकृष्णदेव का आशीर्वाद है।"

न्यायमूर्ति के निवास स्थल पर पहुंचते ही स्वामीजी ने देखा कि वे प्रवेश द्वार पर व्यग्रता से टहल रहे हैं। स्वामीजी को देखते ही वे बोल पड़े—"आप राजनिवास से प्रातः काल के निकले हुए हैं। आपसे निवेदन है कि आप अभी पूर्ण स्वस्थ नहीं हैं सो समय पर भोजन और पथ्य तो ले लेने का कष्ट किया करें।"

"मुखोपाध्यायजी, अध्ययन, भ्रमण एवं सभ्यता और संस्कृति के धार्मिक स्थलों का अवलोकन करते-करते मैं स्वस्थ हो गया हूं। लगता है शरीर में नई शक्ति का

संचरण हो गया है।"

"यह हमारा और इस क्षेत्र का सौभाग्य है। आइए, भोजन तैयार है। स्वामीजी, आपके शिष्यों को भोजन करवा दिया है। आप बचे हैं।" न्यायमूर्ति स्वामीजी और भट्टाचार्यजी को लेकर भवन के अन्दर प्रवेश कर गए।

भोजन करते-करते न्यायमूर्ति अपनी जिज्ञासाओं को भी प्रस्तुत किए जा रहे थे—"स्वामीजी, हिन्दू घरों में आज भी इतनी कुरीतियां पल रही हैं कि देख और सोचकर दुःख होता है। सच कहता हूं, राम की कृपा के कारण ही समाज का पतन होने से बचा हुआ है।"

"हिन्दू समाज की जड़ें बहुत गहरी हैं मुखोपाध्यायजी। इस पर सतही रूप से विचार नहीं किया जा सकता। इस समाज की विशेषताओं के सामने कुछ बुराइयां कोई महत्त्व नहीं रखतीं। हिन्दुस्तान इतना महान है कि इसके समाज का पतन हो ही नहीं सकता। मेरे विचार में समाज में बुराइयां इसलिए व्याप्त हैं क्योंकि हम नींद में हैं। हमें अपना प्रमाद दूर कर लोगों को जगाना होगा....बुराइयों और कुरीतियों के प्रति सचेष्ट करना होगा।"

"कैसे होगा यह सब ?" अविश्वास के स्वर में न्यायमूर्ति बोले।

"मुखोपाध्याय बाबू, यह होगा और इसका केन्द्र भारत ही बनेगा। पूरे विश्व भर के लिए हिन्दू समाज अनुकरणीय बनेगा। आप जैसा संशय त्रेता, द्वापर में भी था। आज सन् 1897 चल रहा है, यह अब भी है और भविष्य में भी रहेगा। लेकिन इस संशय और भय के बीच आज तक विश्वास भी पलता रहा है। इसी आस्था के बल पर इस पुण्य धरा पर बुद्ध, महावीर, नानक, राम, कृष्ण, उपजे और उपजते रहेंगे। इस धरित्री की माटी की यह विशेषता रही है कि इसने कभी अंधेरे के सम्मुख पीठ नहीं दिखाई।"

स्वामीजी की अडिग वाणी में विश्वास कूट-कूट कर भरा हुआ था। स्वामीजी के सम्मुख बैठे भट्टाचार्यजी के हृदय में भी एक शंका तैर रही थी। उन्होंने भोजन का निवाला गले में उतारते हुए कहा—"स्वामीजी, आपकी विद्वता के सम्मुख मैं कुछ भी नहीं हूं। लेकिन एक संशय मेरे हृदय में भी पल रहा है ?"

"मैं जानता हूं। आप काफी समय से खुद को वश में रखे हुए हैं। लेकिन संशय हृदय में लिए बैठना पाप है। संशयों से घिरा हुआ हृदय ही तो व्यक्ति को रणक्षेत्र, कार्यक्षेत्र में उतरने नहीं देता। आप निःसंकोच अपना संशय उजागर करिए।"

न्यायमूर्ति एकटक स्वामीजी का चेहरा ताक रहे थे। स्वामीजी का चेहरा

मंत्रमुग्ध किए जा रहा था उनको—असाधारणतम, स्वरूपवान, दीप्तियुक्त चेहरा किसी अद्भुत सौन्दर्यमान शिल्प की मूर्ति के समान था और देहवर्ण सांवला-सा, जैतून हरित वर्ण तथा ताम्रवर्ण लिए हुए था। अरुणिमा आवृत्त होने पर उनके मुख का रंग ज्योर्तिमय-रक्तवर्ण सदृश हो जाता था, जैसा कि अभी था। स्वामीजी की सम तथा वर्तुलाकार आकृति थी। उनकी दंत पक्ति सीधी सम, धवल मुक्ता के समान थी और आंखें बड़ी-बड़ी देदीप्यमान, ज्योर्तिमय, विचक्षण, काली पुतलियां लिए, किसी को भी वेध लेने को तत्पर लगती थीं। उनकी वाणी का गम्भीर नाद संगीत स्वर-सा लिए होता था। इस सुमधुर संगीत लहरियों का अवरोहण सामने वाले व्यक्ति को आत्मविभोर कर देता था। उनकी वाणी और आंखें किसी को भी अपने साथ बहा ले जाने में सक्षम थीं। उन्होंने अपने सिर का साफा एक ओर रखा हुआ था, सो उनकी मध्यरात्रि के समान काली तनिक घुंघराली केश राशि अपनी छटा बिखेर रही थी।

इस समय भट्टाचार्यजी और न्यायमूर्ति, दोनों स्वामीजी के साथ भारत के स्वर्णिम अतीत की सैर कर रहे थे। स्वामीजी का भावप्रवण गम्भीर उद्घोष शब्दों की सजीव प्रतिमा बनाए जा रहा था। भट्टाचार्यजी ने स्वामीजी के मुख पर से अपनी दृष्टि हटा ली और उस सुखद कैद से मुक्त होकर अपना संशय प्रस्तुत किया।

"स्वामीजी, हम आज जिस कृत्रिम शिक्षा जाल में उलझे हुए हैं, नौकरियों की चाह में जो कुछ शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं, क्या वह हमें अपनी सभ्यता और संस्कृति से जुड़ा रहने देगी ? क्या हमें आशा करनी चाहिए कि हमारी आने वाली पीढ़ी अपने वैभवशाली अतीत की पुनर्स्थापना हेतु संघर्ष करने के लिए प्रेरित होगी ?"

"भट्टाचार्यजी, भारत और भारतवासियों ने अपना अतीत खोया नहीं है। यहां तो वास्तविक शिक्षा, कर्मशील शिक्षा, आध्यात्मिक ऊंचाइयों को लिए हुए रही है। इसने जहां एक ओर वशिष्ठ, कण्व, विश्वामित्र, संदीपनी, द्रोणाचार्य, बाल्मीकी जैसे ऋषिवर पैदा किए हैं, वहीं राम, कृष्ण, अर्जुन, कर्ण जैसे कर्म प्रधान महापुरुषों को भी उत्पन्न किया है। नालन्दा और तक्षशिला जैसे शिक्षा केन्द्र भी यहीं थे। हमने कौन-सा जीवन का ऐसा क्षेत्र अछूता छोड़ा है जो हमारी कमी दर्शाता हो। आप किसी क्षेत्र को भी ले लीजिए....विज्ञान, आध्यात्मिकता, धर्म, अर्थ, मोक्ष, राजनीति; सामाजिकता, दर्शन, चिकित्सा, मनोविज्ञान, साहित्य, किस में हमारी पैठ नहीं थी और है ?"

"स्वामीजी, आप ठीक कहते हैं। पश्चिम आज जीवन के जिन क्षेत्रों को तलाश रहा है या उसने जो कुछ प्राप्त कर लिया है, वह तो हमारे पास सदियों पहले से है।" न्यायमूर्ति ने स्वामीजी से सहमति प्रकट की।

"अब प्रश्न उठता है कि हमारे पास जो कुछ था, क्या वह आज भी है ? मैं कहूंगा, है। लेकिन उस पर धूल की परत चढ़ गई है। हमें इस परत को हटाना है। यह हमारी शिक्षा ही तो करेगी। भट्टाचार्यजी की तरह वर्तमान में चल रही शिक्षा प्रणाली को मैं भी श्रद्धा की दृष्टि से नहीं देखता। हमने इस विषय में गलत रास्ता पकड़ लिया है। हमें गुरुकुलीय शिक्षा सदृश शैक्षिक प्रणाली को अपनाना होगा। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि हम वर्तमान विकास की धारा से कट जाएं। अतीत से हमें मोह होना चाहिए, इसकी अच्छाइयों को हमें ग्रहण करना चाहिए, पर वर्तमान को भी हम ठुकरा तो नहीं सकते ? वर्तमान का निर्माण हमें अतीत का सहारा लेकर करना है। वह चाहे धर्म हो, चाहे शिक्षा और चाहे वैज्ञानिक विकास....अपनी गौरवशाली सभ्यता और संस्कृति का ख्याल तो हमें रखना ही होगा। विकास और आधुनिकता के नाम पर हम इसे खो नहीं सकते, लुटा नहीं सकते।"

"लेकिन आज विकास और सभ्यता के नाम पर यही सब कुछ हो रहा है। प्राचीन धर्मग्रन्थों और वेद-पुराणों को कौन पढ़ना चाह रहा है ? जो पढ़ेगा, वह पोंगा पंडित कहलाएगा। अंग्रेजी शिक्षा पद्धति ने सब गुड़-गोबर कर दिया है। अधकचरी शिक्षा लेकर बाबू बनने की होड़ लगी हुई है। ये कैसे अपनी गौरवशाली सभ्यता और संस्कृति की रक्षा करेंगे ?" भट्टाचार्यजी एक बार पुनः अपने पूर्व के प्रश्न पर आ गए। भट्टाचार्यजी का सवाल सुनकर स्वामीजी के मुखमंडल पर हल्की स्मित रेखाएं नर्तन करने लगीं। उन्होंने शान्त स्वर में कहा—"मैंने भी यही शिक्षा प्राप्त की है।"

"स्वामीजी, आपकी बात और है। मैं जनसाधारण की बात कर रहा हूं।" भट्टाचार्य ने अपनी जिज्ञासा प्रकट की।

"मैं आपकी ही बात लेकर आगे बढ़ रहा हूं। मैंने यूरोप के अनेक नगरों का भ्रमण किया है और भारत-दर्शन में भी लगा हुआ हूं। पश्चिमी देशों की सम्पन्नता और भारत की निर्धनता का प्रमुख कारण शिक्षा ही है। लेकिन इस निषेधात्मक शिक्षा को मैं उचित नहीं मानता हूं। तत्कालीन शिक्षा प्रणाली से मैं दुःखी हूं, क्योंकि यह मनुष्य में कोई भी गुण उत्पन्न करने की क्षमता नहीं रखती। शिक्षा से जब मनुष्य, मनुष्य नहीं बनेगा, उसमें मानवीय मूल्य नहीं उपजेंगे, तो क्या लाभ है ऐसी शिक्षा का ? आज की शिक्षा हमें श्रम-भावना से दूर कर रही है, मातृभाषा से अलग कर रही है, मौलिकता को कुंठित किए जा रही है। इस शिक्षा को ग्रहण करके तो हम पंगु बन गए हैं।"

"वर्तमान में शिक्षा कुछ सामग्री के रटने तक सीमित हो गई है।" न्यायमूर्ति ऋषिवर बोले।

"हां, यह मात्र कुछ सूचनाएं देने तक सिमट गई है। तमाम असम्बद्ध जानकारियों को बालक के मस्तिष्क में ठूंस देने से कोई लाभ नहीं है। इन जानकारियों से हम भौतिकता तो समृद्ध कर सकते हैं; पर मनुष्यता को मार बैठेंगे। जिन विचारों की अनुभूतियां जीवन निर्माण में सहायक हैं, उन्हें तो हम महत्त्व ही नहीं दे रहे हैं। भट्टाचार्यजी, आपकी इस बात से मैं पूर्णतः सहमत हूं कि आज शिक्षा मात्र कुछ सूचनाओं का कोष बन गया है, जिसका उपयोग बाबूगिरी की कुर्सी प्राप्त करने के लिए हो रहा है। मैं कहता हूं कि यदि हम केवल पांच परखे हुए विचारों को ही आत्मसात कर लें, उन्हें रचा-पचा लें और उनके अनुसार अपने जीवन एवं चरित्र का निर्माण कर लें, तो हम पूरे ग्रन्थालय को कंठस्थ कर लेने वाले व्यक्ति की अपेक्षा अधिक शिक्षित होंगे। मेरी राय में यदि शिक्षा का अर्थ हम केवल जानकारी लेना ही मानते हैं, तो पुस्तकालयों को महान संत हो जाना चाहिए और विश्वकोषों को महानतम ऋषि।"

न्यायमूर्ति और भट्टाचार्य दोनों मुस्करा पड़े। स्वामीजी ने भोजन कर लिया था। न्यायमूर्ति और भट्टाचार्य चल रहे संवाद से आनन्दमग्न हो रहे थे। लेकिन यदि संवाद जारी रखा जाता तो स्वामीजी को आराम करने का समय नहीं मिलता। सो उन दोनों ने स्वामीजी को एकान्त में छोड़ देना बेहतर समझा।

वे दोनों बाहर निकल ही रहे थे कि स्वामीजी ने पूछा—"भट्टाचार्यजी, सदानन्द और कृष्णलाल का बुखार अब कैसा है ?"

"स्वामीजी, वे अब ठीक हैं कुछ। सारे ही शहर में मलेरिया फैला हुआ है।"

सदानन्द और कृष्णलाल स्वामीजी के साथ देश भ्रमणार्थ निकले हुए थे। भट्टाचार्यजी के कथन से स्वामीजी को संतोष नहीं हुआ। उन्होंने खुद जाकर उन दोनों को सम्भाला।

"अब कैसा है रे ?" स्वामीजी ममता भरे स्वर से सदानन्द से बोले।

"अब ठीक हूं, दवाइयों से बुखार कुछ कम है।"

स्वामीजी ने उसकी नाड़ी टटोली। उन्हें संतोष हुआ कि सदानन्द का बुखार कुछ कम है।

"और कृष्ण तुम ?"

"डॉक्टर ने जुलाब लेने के लिए कहा है। ज्यादा खा गया न लोभ में !" सदानन्द ने हल्की मजाक की। स्वामीजी ने स्नेहपूर्वक कृष्णलाल के सिर पर हाथ रखा और बोले—"कल तक स्वस्थ हो जाओगे। तुम दोनों के अभाव में मुझे अकेला घूमना पड़ रहा है। कल मैं तुम दोनों को लेकर हाउस बोट में सैर करने निकलूंगा।"

स्वामीजी वापस अपने कक्ष में आ गए। उन्होंने आराम करने की अपेक्षा स्वामी शुद्धानन्दजी को पत्र लिखने का विचार किया ताकि उनकी चिन्ता दूर हो सके। क्षण भर विचार कर, उनकी लेखनी चलने लगी।

कश्मीर के प्रधान न्यायधीश
श्रीयुत ऋषिवर मुखोपाध्याय का मकान
श्रीनगर
15 सितम्बर 1897

प्रिय शुद्धानन्द,

आखिर हम कश्मीर आ ही पहुंचे हैं। यहां की सारी सुन्दरता की बातें तुम्हें लिखने से होगा ही क्या ? मैं समझता हूं कि यही एकमात्र देश है, जो कि योगियों के लिए अनुकूल है। इस देश के वर्तमान अधिवासियों का शारीरिक सौन्दर्य अपूर्व है।किन्तु वे स्वच्छता का कम ही ध्यान रखते हैं। इस देश के द्रष्टव्य स्थलों में खूब घूम रहा हूं, नदी-नालों और पर्वतीय वातारण से शक्ति प्राप्त कर रहा हूं। लगभग एक माह तक यहां भ्रमण का विचार है। इस समय शहर मे मलेरिया का प्रकोप चल रहा है। सदानन्द और कृष्णलाल को भी बुखार आ गया है। सदानन्द आज कुछ अच्छा है, किन्तु कृष्णलाल को अभी बुखार है। आज डॉक्टर ने उसे जुलाब लेने के लिए कहा है। आशा है कि वह कल तक स्वस्थ हो जाएगा। इसके उपरान्त हम यात्रा प्रारम्भ करेंगे। कश्मीर सरकार ने मुझे इस्तेमाल करने के लिए एक बड़ी नाव दे रखी है; जो अत्यन्त सुन्दर एवं सुखप्रद है। हमें मिलने के लिए दलों में लोग यहां आते हैं तथा प्रवचन का आग्रह करते हैं। हमारे सुख और स्वच्छन्दता के लिए आवश्यक सुविधाएं प्रदान की गई हैं।

अमेरिका के किसी समाचार-पत्र में प्रकाशित डॉक्टर बैरोज का एक लेख **'इन्डियन मिरर'** में उद्धृत किया गया है। किसी व्यक्ति ने अपना नामोल्लेख न कर 'इन्डियन मिरर' का उक्त लेख मुझे भेज दिया है और उसका उत्तर मुझसे जानना चाहा है। मैं उस लेख को ब्रह्मानन्द के पास भेज रहा हूं तथा इसका जो अंश मिथ्या है, उसका जवाब भी लिख रहा हूं।

तुम सकुशल हो तथा अपने दैनिक कार्यों के संचालन में लगे हुए हो, जानकर मुझे प्रसन्नता हुई। मुझे शिवानन्द का भी एक पत्र मिला है। उसमें उसके द्वारा किए जा रहे कार्यों का विस्तृत विवरण है।

एक माह के बाद मैं पंजाब जाऊंगा। आशा है कि तुम तीनों मुझे अम्बाला में मिलोगे। यदि वहां हमारी संस्था का कोई केन्द्र स्थापित हो सकता तो तुम लोगों

में से किसी को उसका कार्यभार सौंप दूंगा। निरंजन, कृष्णलाल तथा लाटू को वापस भेज दूंगा।

एक बार पंजाब, सिन्ध होते हुए काठियावाड़, बड़ौदा एवं राजपूताना जाने की मेरी इच्छा है। वहां से नेपाल जाऊंगा और तत्पश्चात् कलकत्ता लौटूंगा।

मुझे यहां पत्र ऋषिबाबू के मकान के पते पर देना। लौटते समय मुझे पत्र मिल गएंगे। सबको मेरा प्यार तथा आशीर्वाद कहना। इति।

तुम्हारा
विवेकानन्द

पत्र के अन्त में 'विवेकानन्द' लिखने के उपरान्त उन्होंने पत्र लिफाफे में बन्द कर मेज पर रख दिया। वे दिन में आराम नहीं करते थे। एकान्त में उनका चिंतन चलता था या फिर हमेशा साथ में रहने वाली 'गीता' और 'इमीटेशन ऑफ क्राइस्ट' के पन्नों में वे डूब जाते थे। उन्होंने इस वक्त भी 'गीता' खोल डाली थी, किन्तु एकाग्रता नहीं बन पा रही थी। उनका मन 'विवेकानन्द' बनने से पूर्व के समय में घूमना चाहता था। वे मुस्कराए और उनके अधर हिले—"मन तू भी बड़ा चचंल है। खैर ! आज तेरी राह पर चलूंगा; लेकिन तुझे केवल सुखद स्मृतियों में लेकर नहीं जाऊंगा।" वे चिंतन में डूबे। विगत् की दृश्यावलियां उनके सम्मुख नर्तन करने लगीं। वे एक बार फिर से नरेन्द्र बन गए। मां का लाडला, नरेन्द्र छोटा-सा बिले।

6

—बिले के मन में बचपन से ही विवाह के प्रति उदासीनता व्याप्त हो गई थी। भुवनेश्वरी देवी ने उसकी इस भावना को सहज माना। उनका कहना था—"बच्चे का क्या, न जाने किन-किन सोचों में तैरता रहता है।" नरेन्द्र की सोचों की पार नहीं थी। वह मां से जब सवाल करता—"भात की थाली छूकर बदन पर हाथ लगाने से क्या होता है ? बाएं हाथ से जलपात्र उठाकर जल पीने से हाथ क्यों धोना पड़ता है ?"

मां झुंझला उठती और कृत्रिम आवेश में कहती—"बिले, तू अपनी आंखें बन्द रखा कर।"

वह कह उठता—"मां....आंखें बन्द रखूंगा तो दुनिया को कैसे देखूंगा, समझूंगा ?"

वह मां और कोचवान ही नहीं, अपने हर मिलने-जुलने वाले को अपनी जिज्ञासा शान्त करने का केन्द्र बना लेता था। उसके पिताजी का एक पेशावरी मुसलमान मुवक्किल था। वह उस मुवक्किल के आते ही उसकी गोदी में बैठ जाता। मुवक्किल भी उसे बहुत प्यार करता था; और उसे अफगानिस्तान के हाथी एवं ऊंट की सवारी की रोचक कहानियां सुनाता था। उन कहानियों से वह इतना उत्प्रेरित हो उठता था, जिद कर बैठता था, कि वह उसके साथ उस देश में भ्रमणार्थ जाएगा। मुलसमान सज्जन हंसते और मजाक में कहते—"तुम दो उंगली और बड़े हो जाओ, फिर मैं तुम्हें जरूर साथ ले चलूंगा।"

बिले दूसरे दिन गम्भीरता से कहता—"कल रात में मैं दो उंगली बड़ा हो गया हूं; अब आप मुझे अपने साथ ले चलिए।"

मुवक्किल प्यार भरे लहजे में उत्तर देते—"अभी कुछ कमी है, तुम्हारी बढ़त में। लो, पहले यह सन्देश (बंगाली मिठाई) खाओ, तब जल्दी बढ़ोगे।"

वह उसके हाथ से सन्देश लेकर चाव से खाता। मुवक्किल के जाने के बाद घर-भर में तूफान खड़ा हो जाता कि बिले ने मुसलमान के हाथ की मिठाई खाई है। बिले की समझ में बात नहीं आती कि मुसलमान के हाथ का क्यों नहीं खाना चाहिए ? उसकी बहनें कहतीं—"तूने यदि ऐरे-गैरे के हाथ का खाया तो छत तुझ पर गिर पड़ेगी। तू उसके हाथ का क्यों खाता है ? तू नहीं देखता कि बैठक में कितने प्रकार के हुक्के पड़े हैं ? जानता है क्यों रखे जाते हैं वे ? अलग-अलग जाति के लोग अलग-अलग हुक्का पीते हैं।"

वह सवाल कर बैठता—"यदि सभी लोग एक ही हुक्के से तम्बाकू पीएं तो क्या हो जाएगा ?"

दीदी झुंझला उठती—"क्या वे तेरी तरह मूर्ख हैं। दूसरे का झूठा हुक्का वे क्यों पिएं ?"

बात उसकी समझ में नहीं बैठती। वह अपनी जिज्ञासा प्रकट करता—"दीदी, कई लोग एक ही हुक्के से भी तम्बाकू पीते हैं ?"

"वे एक ही जाति के होते हैं।" दीदी क्रोध में बोलती।

"लेकिन मैं तो कई दिनों से सन्देश खा रहा हूं। आज तक छत तो नहीं गिरी ? अब मैं इन सब हुक्कों की नलियों को अपने मुंह से लगाऊंगा। देखूं, क्या होता है ?"

"ठीक है, जो मन में आए कर। मैं मां को बताती हूं।" दीदी पैर पटक कर चली जाती।

बिले को भय कहां ? वह बैठक में जाकर सभी हुक्कों की नलियों से मुंह

लगाकर गुड़गुड़ाता और छत की ओर देखता रहता। उसने यह प्रयोग कितनी ही बार किया। एक दिन जब वह अपने प्रयोग में लगा हुआ था तो अचानक विश्वनाथ बाबू बैठक में आ गए। वह पिताजी को देखकर सहम गया। पिताजी ने स्नेहपूर्ण स्वर में उससे पूछा—"क्यों, बिले यह क्या हो रहा है ?"

पिताजी का स्नेहयुक्त स्वर सुनकर उसका साहस लौट आया। उसने तुरन्त उत्तर दिया—"पिताजी, मैं इस बात पर परीक्षा कर रहा था कि अगर जातिभेद न मानूं, तो मेरा क्या होगा ?"

पिताजी ने प्यार से उसके सिर पर हाथ फेरा और कह उठे—"तुम्हारा कुछ नहीं बिगड़ेगा।" उनकी इस बात से बिले की समझ में बैठ गया कि जाति-पांति बेकार है।

वह प्रत्येक बात को गम्भीरता से लेता था और उसे आजमा कर देखना उसकी प्रवृत्ति थी। मां के कहने पर वह शिव की ओर मुड़ा था। वह अपनी मां को शिव के सम्मुख एकाग्र बैठे हुए देखता। उसके मन में आया कि मुझे भी मां की तरह शिव अराधना करनी चाहिए। वह कभी पद्मासन लगाकर अकेला ही शिव के सम्मुख देर तक बैठा रहता और कभी-कभी मित्रों को लाकर ध्यानावस्थित बैठे रहने की होड़ लगाता। इस खेल में उसे बहुत आनन्द आता।

उसके लिए यह खेल था, किन्तु मां को एक अनिर्दिष्ट भय सता रहा था कि अपने दादा की तरह नरेन्द्र कहीं इस सांसारिक दुनिया को त्यागकर वैराग्य का मार्ग न पकड़ ले ! लेकिन वह अपने हृदय को समझातीं—"भगवान की जो इच्छा होगी, वही तो होगा। मैं उसमें बाधा देने वाली कौन हूं।"

एक दिन तो कमाल ही हो गया। वह मित्रों के साथ शिव मूर्ति के सम्मुख ध्यानावस्थित होकर बैठा था। उनमें होड़ लगी हुई थी कि देखें सबसे पहले कौन आंखें खोलता है। एक मित्र प्रयत्न करके भी ज्यादा देर ध्यान नहीं लगा पा रहा था। उसकी दृष्टि में एकाएक बड़ा-सा सांप पड़ा। 'सांप ! सांप' करते हुए सभी भाग खड़े हुए। लेकिन बिले को कुछ नहीं सुनाई पड़ा। वह बाह्यज्ञान से मुक्त हो गया था। मित्रगणों ने जाकर उसके माता-पिता को सांप की बात बतलाई। माता-पिता एक ही सांस में कक्ष में पहुंच गए और उसे देखकर किंकर्त्तव्यविमूढ़ रह गए।

बिले योगी के समान पद्मासन लगाए बैठा था और सर्प अपना फन फैलाकर मन्त्रमुग्ध अपना सिर हिला रहा था, मानो उसकी अभ्यर्थना में निमग्न हो। थोड़ी देर में सर्प अपना फन समेट कर कक्ष से बाहर चला गया। माता-पिता को होश आया

तो उसकी ओर लपके। मां ने तो उसे एकदम से अपनी गोदी में समेट लिया।

उसकी समझ में धीरे-धीरे यह बात भी आ गई कि 'राम' और 'शिव' में कोई अन्तर नहीं है। वह पुनः राम की ओर भी लौट आया। राम भक्त हुनमान पर भी उसकी आस्था थी। मां ने बताया था कि हनुमान अमर हैं। वह चौंककर बोला था—"मां, हनुमानजी आज भी जीवित हैं ?" मां ने 'हां' में सिर हिलाया। मां की बात उसके मन में बैठ गई।

एक दिन पण्डितजी हुनमानजी के चरित्र का गुणगान कर रहे थे। वह ध्यान से सुन रहा था। अचानक उसने पण्डितजी से सवाल कर लिया—"पण्डितजी, आपने कहा हुनमानजी केला खाना पसन्द करते हैं और केले के बगीचे में रहते हैं। मैं केले के बगीचे में जाकर उनके दर्शन पा सकता हूं ?" पण्डितजी के मुंह से मजाक में निकल गया—"हां बेटे, तुम केले के बगीचे में उन्हें पा सकते हो।" उसके लिए तो इतना काफी था।

उसी रात को वह केले के पेड़ के नीचे जा बैठा। रात भर प्रतीक्षा करता रहा। सुबह तक हनुमानजी नहीं आए। उधर घर भर में उसे ढूंढ़ा जा रहा था। मां की नींद हराम हो गई थी। पिता बेचैनी से उन्हें तलाश करने में लगे हुए थे। इतने में मां की दृष्टि धीमे कदमों से आते बिले पर पड़ी। वे रुआंसे गले से बोली—"रात भर कहां था रे ?"

"केले के पेड़ के नीचे बगीचे में बैठा था।"

"क्यों ?"

"हनुमानजी की प्रतीक्षा कर रहा था। पण्डितजी ने कहा था कि वे केले के बगीचे में रहते हैं।"

"लेकिन बिले, बता तो जाया कर कि तू कहां जा रहा है।" मां का गला भर आया था।

"मां, इतनी प्रतीक्षा की किन्तु हनुमानजी नहीं आए ?" वह निराश स्वर में बोला।

मां उसके अवसाद को बढ़ाना नहीं चाहती थी, सो झट से बोली—"हनुमानजी, रामजी के सेवक हैं। उनके काम से कहीं गए होंगे। तुम दुःख न करो। वे किसी और दिन मिलेंगे।"

उसे मां के उत्तर से संतोष हो आया। लेकिन फिर भी कुछ जिज्ञासाएं थीं।

"मां, हनुमानजी इतने वीर और निडर क्यों हैं ?"

"तू क्या कम निडर है रे ! रात भर अकेले बगीचे में बैठा रहा।"

"मां, मैंने जो पूछा, उसका उत्तर नहीं मिला।" उसने मां को बात नहीं बदलने

दी। मां ने उसे स्नेह से गोदी में बिठा लिया और समझाया।

"हनुमानजी पर रामजी की कृपा थी। उन्होंने कभी भी सीतारामजी की आज्ञा नहीं टाली। वे सच्चे सेवक थे सो भगवान उनके साथ थे। भगवान जिसके साथ होते हैं, उसे डर क्यों लगेगा भला ?"

"लेकिन हुनमानजी तभी रामजी की सच्ची सेवा कर सके न, जब उन्होंने शादी नहीं की ?"

"शिव ! शिव !!" करके मां ने उसे गोदी से उतारा और चौके की तरफ ले चली। उसे चौके में बिठाकर मां नाश्ता परोसने लगीं। वह थाली लिए जब मुड़ीं तो देखा कि 'नरेन' गायब है। काफी देर प्रतीक्षा के बाद वह लौटा तो मां झुंझलाई।

"तुझे रोटी खाने की सुध भी नहीं है, कहां गया था ? अरे ! रात भर से भूखा है ?"

"मां, तूने घर के आगे साधु की आवाज नहीं सुनी ?"

"तेरे कान बड़े तेज हैं। आज क्या दे आया साधु बाबा को ?"

"मैंने अपने और पिताजी के सारे कपड़े उसे दे दिए।"

मां सिर पकड़ कर फर्श पर बैठ गई। लेकिन वह तो मां से बात करने के लिए उत्सुक था।

"मां, देख तो—वह साधु मुझे क्या दे गया !"

मां ने दृष्टि उठाई। बिले ने साधु का दिया लम्बा-चौड़ा कौपीन पहन लिया था। मां को आश्चर्य से अपनी ओर ताकता देखकर, वह 'शिव ! शिव !!' कहते हुए ताली बजाकर नाचने लगा। मां से पुत्र का अभिनय और बाल अठखेली देखकर चुप नहीं रहा गया। उन्होंने उसे गोदी में उठाकर चूम लिया। वे तत्काल सुध में आईं।

"शिव ! शिव !!, न जाने किसका गन्दा कपड़ा पहन लिया। तूने मुझे भी अपवित्र कर दिया रे।"

उन्होंने उसे गोदी से उतारा और डांटा—"चल, अब जल्दी नाश्ता कर ले। मुझे फिर से नहाना होगा।"

ऐसी अठखेलियां करता-करता दुर्गादास, वीरेश्वर, बिले, नरेन्द्रनाथ अपने सभी प्रचलित नामों के साथ पांच वर्ष का पूरा हुआ। उसका विद्यारम्भ हुआ। गुरु महोदय उसे घर पर पढ़ाने के लिए आने लगे। वे दो दिन में ही समझ गए कि शिष्य महापटु है। उन्होंने अपने अन्य शिष्यों की तरह नरेन्द्र को विद्या देनी चाही....एक आध बार गुस्सा भी दिखाया, डंडा भी दिखाया—किन्तु नरेन्द्र तो अलग माटी का बना हुआ था। वह गुरुदेव से स्पष्ट बोला।

"गुरुदेव, मैं राम, शिव, हनुमान भक्त हूं। मैं आपके डंडे से डर नहीं सकता।"

"भाई, डंडे से नहीं तो किससे डरोगे ?"

"किसी से भी नहीं।"

"अच्छा, तो यह बताइए कि आप पढ़ेंगे कैसे ?"

"प्यार से।"

गुरुजी को अपना रास्ता बदलना पड़ा। वे अब रोचक किस्से-कहानियों-बातों मे अध्ययन सामग्री का समवाय बिठाते। बिले इस उपाय से पढ़ने में रुचि लेने लगा।

उसने जैसे ही अपनी प्राथमिक शिक्षा समाप्त की, उसे मेट्रोपोलिटन इंस्टीट्यूशन में आगे की शिक्षा के लिए भेजा गया। अब उसके समवस्यक मित्रों के शोर-शराबे से उक्त भवन का विशाल प्रागंण गूंजने लगा।

वह स्कूल जिस उम्मीद को लेकर गया था, हुआ उसका बिलकुल उलटा। उसकी चंचलता, जिज्ञासु प्रवृत्ति और शोधपरक दृष्टि, स्वाधीनता—सब बांधी जाने लगीं। उसकी बचपन से ही आदत थी कि वह जागृत अवस्था में स्थिर होकर नहीं बैठ सकता था। कुछ न कुछ करते रहना उसकी फितरत थी। अन्य लोग कई बार उसके द्वारा किए जा रहे काम को अशोभनीय मानते थे, पर उसकी मां जानती थी कि उसके द्वारा किए जा रहे काम के पीछे उसकी गहन विश्लेषणात्मक जिज्ञासा का आकर्षण है।

शिक्षकगणों ने अपनी कठोर वाणी और शारीरिक दण्ड का भय दिखाकर उसे अनुशासित करना चाहा, किन्तु वह साधारण बालक तो था नहीं। शिक्षक शीघ्र समझ गए कि एक ही लाठी से सबको नहीं हांका जा सकता। वे स्नेह से बिले की जिज्ञासा शान्त करते, तभी वह आगे पढ़ता।

स्कूल में उसकी नेतृत्व शक्ति भी निखरने लगी। खेलते समय जब अन्य बालक लड़ते, तो वह निर्भय होकर उन्हें झटके से अलग कर देता और प्रखर स्वर में कहता—"खेल में लड़ना है तो खेलो मत।"

कई लड़के अति शरारती थे। वे बिले का हस्तक्षेप पसन्द नहीं करते थे। अन्य लड़कों पर रोब जमाने की दृष्टि से वे बिले से हाथापाई पर उतर आते थे। बिले यहां भी कमजोर नहीं पड़ता था। घूंसेबाजी हो और चाहे उठा-पटकी, जीत उसी की होती। लेकिन गिरे हुए पर वह कभी वार नहीं करता था। सहपाठियों ने अन्ततः उसे नेता मान लिया।

साथियों में से कुछ ने एक दिन कार्यक्रम बनाया कि 'चड़क' का मेला देखने चला जाए। वह बड़ा खुश हुआ और पांचेक मित्रों के साथ मेला देखने के लिए रवाना हो गया। वे सभी अपने नन्हें-नन्हें कदमों से मार्ग नापने लगे। मेले में प्रवेश करने

से पहले बिले मित्रों से बोला—"सब एक दूसरे का हाथ थामे रहना। किसी भी हालत में अलग नहीं होना है। दूकानों में खिलौने देखने समय, खेल और तमाशे देखते समय, विशेष ध्यान रखना।"

सभी मित्रों ने एक-दूसरे के हाथ थाम लिए और मेले की भीड़ में प्रवेश कर गए। उन लोगों की नन्हीं आंखों में खुशी का सागर लहरा रहा था। एक स्थान पर बिले ने अपने पैसों से मिठाई खरीद कर मित्रों को खिलाई। नन्हें देवदूतों ने अपनी-अपनी पसन्द के खिलौने खरीदे। कोई खिलौना मिट्टी का था तो कोई कागज-गत्ते का।

एक दूकान के आगे बिले ने दोस्तों को रोका—"ठहरो भाई, मैं भी अपनी पसन्द की चीज खरीद लूं।" एक बालक बोला।

"इस दूकान में तो भगवान की मूर्तियां हैं !"

"हां, मुझे यही तो खरीदनी है।"

बिले ने महादेव और हनुमानजी की दो-दो मूर्तियां खरीद लीं। उसके दोनों हाथ इन मूर्तियों को थामने में घिर गए। वह असमंजस में था कि मित्र का हाथ कैसे थामे ? उसने मित्रों पर अंकुश रखने का अन्य रास्ता खोजा।

"तुम बस एक दूसरे का हाथ थामे मेरे आगे-आगे चलो। मैं तुम सब पर नजर रखूंगा।"

मित्रो ने उसका कहा हुआ किया। वह उनको निर्देश देता हुआ पीछे-पीछे चल रहा था। "फुटपाथ पर चलो। जरा धीरे। सीधे, सामने देखो....टक्कर खा जाओगे।" धीरे-धीरे वे बालक आगे बढ़ रहे थे। भीड़ काफी थी। एकाएक एक मित्र बोला--"बिले, उधर देखो, रस्से पर चढ़ने का तमाशा। क्या कमाल है ?"

बिले बोला—"उधर चलना चाहते हो, जरा ठहरो। रास्ता साफ हो ले। घोड़ा-गाड़ी गुजरने दो।"

मित्र को धैर्य नहीं था। वह अपने मित्र का हाथ छुड़ा फुटपाथ से उतर कर दूसरी ओर पहुंचने के लिए भागा। नन्हें पैर, सामने से तेज घोड़ा-गाड़ी को आते देख कर घबरा गए। अन्य दर्शक चिल्लाए। बिले ने आव देखा न ताव। हाथों में पकड़ी हुई मूर्तियों को पटक कर, वह मित्र की ओर तेजी से लपका। घोड़ा-गाड़ी मित्र के ऊपर से गुजर पाती कि बिले उसे धकियाता हुआ एक ओर जा पड़ा। क्षण भर भी देर हो जाती तो शायद वे दोनों ही कुचले जाते।

बिले की हिम्मत की दाद सभी लोग दे रहे थे। उनकी वाणी से प्रशंसा के स्वर फूट रहे थे।

"वाह भाई, वाह ! क्या साहसी बालक है ? कमाल है ! है भी तो पांच-छः साल का ही। हमें मात कर गया।" कोई उसी पीठ थपथपा रहा था, तो कोई माथे पर हाथ फेर रहा था प्यार और स्नेह से। वह उस समय था भी कितनी अवस्था का—केवल छः साल का।

मित्रगण उसके पास आ गए थे। उसने उनको दिलासा दिया और सभी फिर से मेले का आनन्द लेने लग गए। मानो कुछ भी हुआ ही नहीं। बिले घर पहुंचा तो मां ने टोका—"क्यों, मेले में गया था रे ?"

"हां मां।"

"इस बार मेले से क्या लाया ?"

"मां, जो लिया था, वह तो खो आया।"

"खो आया ?" और उसने मां को सारा किस्सा सुना दिया। मां का उस पर स्नेह उमड़ आया।

"शाबाश ! बेटे, इसी भांति सदैव भलाई के काम करना। लेकिन तू एक बात तो बता रे ! तुझे डर नहीं लगा ?"

"मां, डर कैसा ? शिव मेरे साथ, राम मेरे साथ, हनुमान मेरे साथ।"

"ईश्वर पर तेरा विश्वास बना रहे, सदा बना रहे।"

वह खुश-खुश खेलने-कूदने चला गया। उसकी मित्र मंडली पर मां का पूरा स्नेह बरसता था। पड़ोसी जरूर उन लोगों की शरारतों से तंग आए हुए थे, विशेषकर उसके घर से चिपकते घर के एक वृद्ध महाशय।

उस वृद्ध के घर के आंगन में चम्पक का पेड़ था। चम्पक जब फूलता तो उस पर बहार आ जाती। उन दिनों वृद्ध महाशय को उस पेड़ से अति लगाव हो उठता। वे नहीं चाहते थे कि कोई भी उस वृक्ष को छुए। लेकिन बिले जब वहां पहुंचता, तो छूने की बात छोड़िए, वह पूरे वृक्ष को झकझोर देता और उन्मत्त हाथी सदृश अठखेलियां करता। जिस दिन उसका जी ज्यादा ही खुश होता, वह वृक्ष की मोटी-सी शाखा में पैरों को फसा लेता और सिर तथा हाथों को नीचे लटका कर खूब झूलता। उसे इसमें बेहद आनन्द आता, पर घर का बूढ़ा मालिक अपना दिल मसोस कर खड़ा देखता रहता। वह बड़बड़ाता—"हे ! ईश्वर, यह तो साक्षात वानर राज है।" कभी-कभी उसका बड़बड़ाना बिले सुन लेता तो झूलते-झूलते ही पूछ बैठता—"दादा, मुझसे कुछ कहा ?" बूढ़ा खिसिया कर उत्तर देता—"नहीं तो रे, तुझे कुछ कहकर मुझे मुसीबत मोल लेनी है क्या ?"

वह शरारतपूर्ण स्वर में दादा को चिढ़ाता—"दादाजी, आप भी आइए न। झूलने

में बहुत मजा आ रहा है।" बूढ़ा बड़बड़ाता हुआ घर में घुस जाता—"दो दिन और जीऊंगा, तू वह भी छीन ले।"

एक दिन बूढ़े ने तंग आकर मित्रों के साथ घर लौटते बिले से कहा—"बिले, मैं तुम्हारे पिताजी से तुम्हारी शिकायत करूंगा।"

"अच्छा ! क्या शिकायत करेंगे आप ?" वह पूछता।

"यही, कि तुम पेड़ हिला-हिलाकर सारे फूल झाड़ देते हो।"

"देखो दादा, फूलों पर मैं हाथ नहीं लगाता। वे पेड़ के हिलने से गिरते हैं। आपने यदि पिताजी से झूठी शिकायत की तो मैं अपने हाथों से फूल झाडूंगा, ताकि आप झूठे न पड़ें।"

"अरे ! नरेन, तुझे एक बात बताऊं ?"

"बताइए।"

"मैंने कल इस पेड़ पर एक ब्रह्मराक्षस को बैठे देखा था। बाप रे बाप ! कितना भयंकर था। मेरा तो पसीना छूट रहा है....अभी भी उसे याद करके टांगें कांप रही हैं मेरी।" बूढ़ा कांपने का नाटक करता। बिले के और साथी तो एक-एक कर खिसक जाते क्योंकि संध्या उतरने-उतरने को रहती। लेकिन वह ? वह शांतिपूर्वक वृद्ध से पूछता—"दादा, ब्रह्मराक्षस इस पेड़ पर बैठकर गलती करता है। क्या उसे पता नहीं है कि हम इस पेड़ की शाखाओं से खेलते हैं।"

"छोड़ो भाई, वह बड़ा बलवान है। वह किसी की भी गर्दन मरोड़ सकता है फट्ट से। उसकी आदत होती है कि वह पेड़ पर बसेरा लेता है, उसकी रक्षा करता है। अच्छा यही है कि तुम लोग इस पेड़ पर मत चढ़ा करो।"

"ठीक है।" बिले का उत्तर सुनकर बूढ़े ने सोचा कि उसकी चाल कामयाब हो गई। बिले चुप था। बूढ़ा अन्दर चला गया ताकि बिले अकेला भयभीत होकर अपने घर चला जाए। बूढ़े के घर के अन्दर जाते ही वह पुनः वृक्ष की शाखा पर लटक गया। कुछ देर बाद बूढ़ा घर से बाहर आया तो अवाक् रह गया—बिले शाखा पर लटका झूल रहा था।

मरता क्या न करता। बूढ़ा उसके निकट आया और फुसलाते हुए बोला—"बिले बेटे, तुम बहुत भले हो। देखो, रात हो गई है। बेटे अपने घर जाओ।"

वह लटके-लटके ही बोला—"दादा, मैं तो आज ब्रह्मराक्षस से दो-दो हाथ करके ही जाऊंगा। उसकी यह मजाल कि आपके पेड़ पर आकर बैठे। दूसरी बात यह कि मैं उसे अपनी आंखों से देखना चाहता हूं कि वह कैसा होता है ?"

"बेटे, वह आज नहीं आएगा। उसका कोई एक बसेरा है क्या ?"

"अरे ! यह बात आपने पहले क्यों नहीं बताई मुझे ?"

"भई, मैं भूल गया था। याद आया, तो सोचा कि तुझे बता दूं।"

"दादा, अच्छा किया।"

वह वृक्ष से उतर कर अपने घर में घुस गया। बूढ़े ने राहत की सांस ली।

7

स्वामीजी का सोच आगे चलता कि लाटू ने आकर क्रम भंग कर दिया। वे स्वामीजी से बोले—"भ्रमण का समय हो गया है ?"

"स्वामीजी मुक्त हंसी हंसे—"भाई, तुमने मुझे उबार लिया। स्मृति के सागर में 'बिले' बनकर गोते लगा रहा था....अपने अभिन्न लोगों से मिल रहा था। तुम कभी विगत में नहीं जाते ?"

"जाता क्यों नहीं ? मैं भी कई बार रखतूराम (लेटो, प्लेटो, लाटू, स्वामी अद्भुतानन्द) बन जाता हूं।"

"कैसा अनुभव करते हो ?"

"सुख का अनुभव करता हूं।"

"लेकिन तुम्हारा बचपन तो दुःखमय बीता है। ऐसी स्मृतियां तुम्हें दुःख नहीं देती हैं ?"

"दुःख क्या होता है ?"

स्वामीजी हंसे और मृदु वाणी में बोले—"तभी तो मैं तुम्हें प्लेटो कहता हूं। तुम्हारे साधु-चिंतन को प्रशंसात्मक दृष्टि से देखता हूं।"

"तुम जानते हो मैं पढ़ा-लिखा नहीं हूं। एक साधारण गड़रिए के घर मैंने जन्म लिया था। पांच वर्ष की अवस्था में मैं अनाथ हो गया था। मुझे तो जो कुछ प्राप्त हुआ है, वह श्रीरामकृष्णदेव का प्रसाद है। तुम्हें याद है श्रीरामकृष्णदेव कहते थे—'जो व्याकुल होकर ईश्वर की प्रार्थना करता है, उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता, उसके ही निकट ईश्वर प्रकट होते हैं। भगवान मन देखते हैं, कौन किस काम में है ? कौन कहां पड़ा है ? इसे नहीं देखते। हमें निर्जन में ईश्वर के लिए प्रार्थना करनी चाहिए। बच्चा जैसे अपनी मां के लिए रोता है और मां सभी काम छोड़कर तत्काल हाजिर हो जाती है। वैसे ही ईश्वर के लिए हमारा रोना, ईश्वर की दया प्राप्त करना होगा, उसके निकट जाना होगा।"

"गुरुदेव की कसौटी पर सबसे खरे तुम्हीं उतरे, प्लेटो।"

"वे तो पारस थे। हम सभी गुरुभाइयों का उन्होंने उद्धार किया है। मुझ पर तो उनकी असीम कृपा थी। उनकी कृपा से आज मैं सुख-दुःख की नदियों से निकल कर किनारे पर खड़ा हूं। मुझे याद है सन् 1880 के प्रारम्भ में मैं अपने मालिक रामचन्द्रदत्त के साथ दक्षिणेश्वर गया था। भगवान (श्रीरामकृष्णदेव) ने मुझे देखते ही रामचन्द्रजी से कहा था—'मालूम होता है इस लड़के को तुम साथ लाए हो ?' मैंने भगवान की आंखों में देखा। किसी अनजानी ताकत ने मुझे उनके चरणों में झुका दिया था। भगवान कहे जा रहे थे—'जो नित्यसिद्ध हैं, उन लोगों को जन्म-जन्म का ज्ञान होता है। वे लोग पत्थर से दबे फव्वारे हैं। मिस्त्री इधर-उधर उकसाते-फुसकाते, ज्योंही एक जगह का पत्थर हटाता है, त्योंही फव्वारे के मुंह से पानी निकलने लग जाता है।'

इतना कहने के बाद भगवान ने मुझे छू दिया। मुझे लगा मैं धरती पर नहीं हूं। बस ! तभी से भगवान ने अपने 'प्लेटो' की पुकार सुन ली। अब आप बताइए कि मैं क्या हूं ? मेरा क्या है ? मेरा चिंतन, मेरा सुख, मेरा दुःख, सब भगवान का है।"

"प्लेटो, आनन्द आ रहा है तुमसे चर्चा करने पर; और कोई संस्मरण भगवान का सुनाओ।" स्वामीजी असीम आनन्द में डूबते हुए बोले।

"मैं एक दिन रामचन्द्र दत्त के द्वारा भेजे गए मिष्ठान लेकर दक्षिणेश्वर पहुंचा। भगवान काली मां का प्रसाद ग्रहण करने बैठे ही थे कि मैं पहुंच गया। भगवान मुझे शायद काली मां का प्रसाद नहीं देना चाहते थे। मैं बुरा न मान जाऊं, सो उन्होंने एक अन्य थाली में से प्रसाद निकाल कर मेरी ओर बढ़ाकर कहा—'विष्णु मन्दिर का सात्विक भोग ग्रहण कर लो।'

मैंने अपने भोलेपन में कहा कि आप जो कुछ खाएंगे, मैं भी वही खाऊंगा। मैं तो आपकी थाली का प्रसाद लूंगा। उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं खाऊंगा। भगवान हंसकर अपने निकट बैठे रामलालजी से बोले—'देखते हो, कितना चालाक है यह। मैं जो खाऊंगा, चतुर उसी में से हिस्सा बंटा लेना चाहता है।'

यह कहकर भगवान ने अपनी थाली में से उठाकर मुझे प्रसाद दे दिया। एक और घटना है। मैं रात को खूब सोता था। भगवान ने मुझे सबक देने लिए पूछा—"अरे ! कह सकता है कि भगवान सोते हैं या नहीं ?" मैंने कहा—"मेरे लिए यह जानना असम्भव है।"

"तब भगवान ने क्या कहा था ?" स्वामीजी श्रीरामकृष्णदेव की वाणी, लाटू के मुंह से सुनकर विभोर हुए जा रहे थे।

"भगवान ने कहा था कि ईश्वर को सोने की फुर्सत नहीं है। वे रात-दिन जागकर प्राणिमात्र की सेवा करते हैं। इसी से निर्भय होकर जीव-जन्तु सो सकते हैं। मैं उनका मतलब समझ गया। तभी से पूरी रात मैं ध्यान-धारणा में गुजारता हूं।"

"और फिर सन् 1886 में भगवान के शरीर छोड़ने के बाद तुम श्री मां शारदा के साथ वृन्दावन गए थे। वहां से लौटने के बाद वराहनगर में तुम सन्यास लेकर अद्‌भुतानन्द हुए।" स्वामीजी सरल स्वर में बोले।

"स्वामी अद्‌भुतानन्द ?" लाटू मुस्कराए। स्वामीजी उन्हें मुस्कराते देखकर बोले—"मुझे तुम्हारे सम्बन्ध में कहे गए गिरीशबाबू के शब्द याद हैं। उनके शब्द थे—गीता के साधु को यदि देखना है तो लाटू को जाकर देखो, स्थितप्रज्ञ मूर्ति।"

"आज भ्रमण को नहीं चलना है ?" लाटू ने स्वामीजी को याद दिलाया।

"क्यों नहीं ? चलो। लेकिन पहले सदानन्द और कृष्णलाल को सम्भाल आएं।"

दोनों परिव्राजकों का उद्देश्य आज कश्मीर के एक पुराने मन्दिर को देखने का था। स्वामीजी चाहते तो यह थे कि सदानन्द और कृष्णलाल भी साथ हों, किन्तु वे लोग बुखार के उतर जाने के बावजूद भी कमजोरी अधिक महसूस कर रहे थे। सो स्वामीजी लाटू को साथ लेकर मन्दिर की ओर रवाना हो गए।

काफी दूर तक घुमावदार पगडंडियों पर चलते-चलते वे मन्दिर तक पहुंचे। स्वामीजी प्राचीन मन्दिर की स्थापत्य कला में खोए-खोए बोले—"प्लेटो, जानते हो; यह मन्दिर तीन हजार वर्ष पुराना है। अभी तक जैसा था, वैसा ही है।"

"लेकिन तुमने यह बात कैसे जानी ? मुझे भी समझा दो। यह बात कहीं मन्दिर पर लिखी हुई है ?"

प्लेटो की बात सुनकर स्वामीजी ने हंसकर कहा—"तुमको यह बात समझा नहीं सकूंगा। यदि तुम पढ़ना-लिखना सीखते, तब शायद तुम्हें समझाने की चेष्टा करता। इस राज्य के सम्बन्ध में अनेकों पुस्तकें पुस्तकालयों में भरी पड़ी हैं।"

लाटू ने तुरन्त कहा—"ओह ! समझ गया। तुम ऐसे विद्वान हो कि मेरे जैसे महान मूर्ख को भी समझा नहीं सकते। लेकिन भगवान तो मुझे बड़ी आसानी से सब कुछ समझा देते थे।"

"लाटू, तुम मेरी बात का बुरा मान गए ?" स्वामीजी ने पछतावे के स्वर में कहा।

"नहीं, लेकिन हम में अज्ञानियों को समझाने की क्षमता तो होनी चाहिए ?"

"तुम ठीक कहते हो। तुम्हारी बातें बड़ी गहरी होती हैं।"

लाटू अति सरल भाव से मुस्करा भर दिया। कुछ समय के उपरान्त दोनों जने बाहर निकल आए।

स्वामीजी अपने गुरुभाई से चिंतन करते-करते श्रीनगर के एक-आध अन्य दर्शनीय स्थलों को देखकर वापस आ गए। वे आते ही अभी सुस्ताने बैठे ही थे कि ऋषिवर बाबू आ गए।

"स्वामीजी, कई भद्र पुरुष आपके उपदेश सुनने की ललक लिए बैठे हैं। इनमें स्थानीय पण्डितगण, बंगाली, कश्मीरी और कई सिख तथा मुसलमान भाई भी हैं।"

"ऋषिवर बाबू, मैं आपकी बात टाल सकता हूं भला ?"

"लेकिन अभी आप थके होंगे ?"

"सद्चर्चा करते हुए, भला कैसी थकान ?"

"तो उन्हें यह शुभ सूचना दे दूं ?"

"निःसन्देह। बस ! हाथ-मुंह प्रक्षालन करके मैं आया।"

ऋषिवर बाबू चले गए। स्वामी अद्भुतानन्दजी मुस्कराए और स्नेह से विवेकानन्दजी की ओर देख कर बोले—"भाई, तुम्हें अपने स्वास्थ्य का भी ख्याल नहीं है। कुछ दिन पहले तो ज्वर मुक्त हुए हो ?"

"लेकिन अब तो मैं ठीक हूं।"

"मुझे तुम्हारी नहीं, अपनी चिन्ता है।" अपना चश्मा नाक पर ठीक करते हुए स्वामी अद्भुतानन्द बोले।

"मैं और तुम अलग-अलग हैं, प्लेटो ? श्रीरामकृष्णदेव के समस्त पार्षद (शिष्य) सूरत और सीरत में भले ही अलग-अलग हों, किन्तु उनकी आत्मा एक है। वे सब एक डोर से जुड़े हुए हैं।"

"तुमने मेरी बात को कभी नहीं समझा।"

स्वामी विवेकानन्द हल्के से मुस्कराए और बोले—"समझा, समझा, समझ गया। राखाल (स्वामी ब्रह्मानन्द, श्रीरामकृष्ण मठ के प्रथम अध्यक्ष) और तारकनाथ (स्वामी शिवानन्द, श्रीरामकृष्ण मठ के द्वितीय अध्यक्ष) से भयभीत हो ? मैं यदि यहां से अस्वस्थ होकर गया तो वे तुम्हें उपालम्भ देंगे,क्यों ?"

"बिलकुल यही बात है। इसीलिए मैं कई बार अपना ध्यान भंग करके तुम्हारे विषय में सोचने लगता हूं।"

"प्लेटो, मोह का यह बंधन मत पालो। मोह-बंधन से मुक्त होने के लिए तो हम सन्यासी हुए हैं।"

"यह बंधन मोह का नहीं मानवता का तकाजा है।"

"प्लेटो भाई, ठीक है। तुमसे विवाद में जीतना कठिन है। तुम जरा शिष्यों को सम्भालना, मैं लोगों की उत्सुकता को शान्त कर आऊं।"

"लेकिन समस्त शिष्य भी तो इस अवसर का लाभ उठाना चाहेंगे। तुम्हारी अमृतवाणी से वे भी तो छकना चाहेंगे।"

"तो आओ, स्वागत है तुम सबका।"

स्वामीजी ताजादम होकर निवास के उस कक्ष में आ गए, जहां लोग बैठे उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे।

वे कुछ क्षण नेत्र बंदकर ध्यानस्थ हुए और तदुपरान्त उनकी वाणी अमृत-वर्षा करने लगी। लोगों को लग रहा था मानो सरस्वती की वीणा से सुमधुर, कर्णप्रिय रागिनी झंकृत हो रही हो। चर्चा धर्म पर थी। स्वामीजी की वाणी निसृत हो रही थी।

—मैंने अनुभव किया है और कर रहा हूं कि सभी धर्म सत्य हैं, जितने मत हैं उतने ही पथ हैं। आप किसी भी पथ पर चलिए, अन्त में मंजिल एक ही पाएंगे। आप अपने चारों ओर दृष्टि दौड़ाएंगे तो सभी मत-मतान्तर प्रेमियों, धर्मानुयायियों और ईश्वर के प्रति अनुराग रखने वालों को अपने साथ, अपनी मंजिल की ओर बढ़ता पाएंगे। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। नदी का स्रोत एक होता है। वह कहां-कहां बहती है, किन-किन शहरों से गुजरती है, सभी उसका जल पीकर अपने को तृप्त करते हैं। हमारा मूलमन्त्र तो अपनी प्यास बुझाना मात्र होता है.... ग्रहण करना होता है....

स्वामीजी का विवेकयुक्त प्रवचन करीब एक घंटे चलता रहा। लोग आनन्द में डूबे हुए थे! स्वामीजी धर्म की तात्विक विवेचना छोटे-छोटे और सर्वग्राही उदाहरणों द्वारा किए जा रहे थे। प्रवचन के उपरान्त जिज्ञासु लोगों ने कुछ सवाल किए। एक गम्भीर व्यक्ति ने प्रश्न किया।

"स्वामीजी महाराज, आपने कहा है कि मनुष्य को पूर्ण ननने की कोशिश करनी चाहिए, क्योंकि स्वर्ग में ईश्वर पूर्ण है। लेकिन पूर्ण बना कैसे जाए ?"

"पूर्णता की उपलब्धि मन के संयम से होती है। मन अति चचंल होता है सो इस पर निग्रह प्राप्त करना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है।"

"आप इस बात को कुछ और खोलकर समझाने का कष्ट करेंगे।"

"लगता है आपकी इस दिशा में रुचि है ?"

"जी, मैं जानना चाहता हूं कि आध्यात्मिक उन्नति की चरम सीमा क्या है ?"

"आध्यात्मिकता की चरम सीमा और क्रियात्मक दक्षता की निपुणता मन की पूर्ण संयमता पर आधारित है। मन पर पूर्ण संयम हो गया तो समझिए आध्यात्मिक

उन्नति की चरम सीमा आपने स्पर्श कर ली। मनोनिग्रह से मनुष्य शक्ति सम्पन्न हो जाता है। वह एकात्मकता भाव को पा लेता है। यही इस भौतिक संसार की सबसे ऊंची सीढ़ी है। जहां न सुख है और न दुःख, जहां न कोई जीत है और न हार, न गरीबी और न अमीरी। यही तो सबसे बड़ी जीत है।"

"स्वामीजी, लेकिन इस जीत को पाते कितने हैं ?"

"आपका कहना ठीक है। यह एक शाश्वत प्रश्न है। यही सवाल अर्जुन ने श्रीकृष्ण से भी पूछा था—हे कृष्ण ! मन का संयम एक अत्यन्त कठिन कार्य है, क्योंकि यह तो बड़ा ही चचंल, उदण्ड, बली और हठी है। मैं तो इसको वश में करना, वायु को वश में करने के समान दुष्कर मानता हूं। कृष्ण ने उत्तर दिया था—हे महाबाहु ! हे कौन्तेय ! निःसन्देह मन बड़ा चंचल और कठिनाई से वश में आने वाला है, परन्तु अभ्यास और वैराग्य के द्वारा उस पर संयम करना सम्भव है। इसी बात को मेरे गुरुदेव भगवान श्रीरामकृष्णदेव ने भी दुहराया है—अभ्यास करो, फिर देखोगे कि तुम मन को जिस ओर से जाना चाहोगे, यह उसी ओर जाएगा। मन धोबी के यहां का कपड़ा है, उसे जिस रंग में रंगोगे, वही रंग उस पर चढ़ जाएगा। मैंने इस बात को अनुभव किया कि पैरों में बंधन डालकर मनुष्य नहीं बंधता, वह तो मन को बांधने से बंधता है। अक्षय शान्ति मन की संयमता पर ही निर्भर है।"

प्रश्नकर्त्ता संतुष्ट हो गया। लेकिन एक अन्य श्रोता ने सवाल कर दिया।

"स्वामीजी, मन पर संयम पाने का कोई उपाय तो होगा ?"

"है। अपनी इच्छाशक्ति को दृढ़ बनाइए, मन के स्वभाव को समझिए और सुनिश्चित विधियों से नियमित अभ्यास करिए। मेरा दृढ़ विश्वास है कि मनोनिग्रह द्वारा पूर्णता प्राप्त की जा सकती है....ईश्वर की अनुभूति की जा सकती है।"

"स्वामीजी, मनुष्य तो बड़ा कमजोर होता है। विषय-वासनाओं से घिरा रहता है। इनसे मुक्त हो, तो मन पर संयम की बात हो ?"

"अपने को कमजोर मत कहिए। ऐसा सोचकर हम ईश्वर का अपमान करते हैं। हम उस प्रबल, सर्वशक्तिमान ईश्वर के ही तो अंश हैं। मैं स्वीकार करता हूं कि विषयानन्द सबसे आकर्षक है। कामिनी और कंचन के आनन्द से हम मुक्त हो सकते हैं बशर्ते कि हमारी मुक्ति पाने की जिजीविषा दृढ़ हो। अपनी दृढ़ इच्छा शक्ति के बल पर हम भजनानन्द में डूब सकते हैं। ईश्वर का गुणगान कर सकते हैं। भजनानन्द ही हमें ब्रह्मानन्द की ओर ले जाने में सक्षम है। हम एकाग्र होकर जब ईश्वर का गुणगान करेंगे, उसके भजनों में खोएंगे, उसका नाम लेते हुए अपने को भूल जाएंगे तो ईश्वर दर्शन निश्चित है। श्रीरामकृष्णदेव का कहना था कि जिसने

एक बार दिव्यानन्द, ब्रह्मानन्द का रसास्वादन कर लिया. उसे फिर संसार के तुच्छ विषयभोगों में कोई रस नहीं मिलता।"

"वासनाएं समाप्त की जा सकती हैं क्या, स्वामीजी "

"वासनाएं समाप्त नहीं की जा सकतीं, किन्तु इन्हें संस्कारित किया जा सकता है। मनुष्य की प्रकृति उसे इन वासनाओं की ओर ढकेलती है। तैत्तिरीय उपनिषद् में लिखा है कि प्राणी आनन्द मे ही उत्पन्न होते हैं, आनन्द में ही जीते हैं और आनन्द में ही समा जाते हैं। हमारे ऋषि-मुनियों का प्रयोजन भी मनुष्य को ऐन्द्रिक सुख-भोग मे वंचित करने का नहीं था।"

"स्वामीजी. तो फिर ब्रह्मानन्द की ओर कैसे उन्मुख हों हम ?"

"हमारे ऋषियों का कहना था—यदि शारीरिक सुख तुम्हें चाहिए तो इस प्रकार उसका भोग करो, जिससे मानसिक सुख के उपभोग की क्षमता तुम में बनी रहे। मानसिक सुखों का भोग इस प्रकार करो कि आत्मा के सुख प्राप्त करने की तुम्हारी शक्ति सुरक्षित रहे। सुख-भोग ऐन्द्रिक हो और चाहे मानसिक. इसका मर्यादित होना जरूरी है। इस बात को हम समझ लें तो मनोनिग्रह की इच्छा शक्ति को दृढ़ से दृढ़तर बनाने की राह खुल जाएगी। हम चिंतन करें तो समझ पाएंगे कि अल्प (समिति) में सुख नहीं है. सुख तो असीम (ब्रह्मानन्द) में है। ऐन्द्रिक और मानसिक सुख-भोग अल्प ही तो है। आत्मा का सुख श्रेष्ठ है।"

आत्मा है क्या, स्वामीजी ?" एक सवाल उभरा।

"आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप, नित्यमुक्त अनन्त और शाश्वत है।"

"मन क्या है ?"

"मन मात्र यंत्र है। यह चित्र कंपनयुक्त जड़ है। यह सर्वव्यापी है। प्रत्येक मन विश्व मन का ही एक अंश है....सर्वव्यापी मन का एक हिस्सा मात्र है।"

"स्वामीजी, इस प्रकार तो एक मन दूसरे मन से सम्बन्धित हो गया ?"

"निश्चित सम्बन्धित हो गया। इसीलिए तो यदि हम चाहें तो अपने मन को विश्व में कहीं भी. किसी से भी सम्बन्धित कर सकते हैं।

ऋषिवर बाबू की भी जिज्ञासा जागी। उन्होंने भी सवालों की कड़ी पकड़ी।

"स्वामीजी, इसका अर्थ तो यह हुआ कि मन सूर्य सदृश है ?"

"जी हां, मन सूर्य है तो हम चन्द्रमा हैं। हमारा स्वयं का कोई प्रकाश नहीं है किन्तु मन प्रकाशमान है। यही ज्ञान का साधन है।"

"लेकिन स्वामीजी इनके मध्य कहीं चेतना भी तो है....चेतना के अभाव में मन शून्य है ?"

ऋषिवर बाबू ने अपनी एक अन्य जिज्ञासा प्रकट की। स्वामीजी ने उत्तर देने में क्षण भर भी विलम्ब नहीं किया।

"आप गलत नहीं हैं ऋषिवर बाबू। मन, चेतना से आलोकित होता है किन्तु फिर भी वह ज्ञान का सशक्त और सक्षम साधन है। मन में खुद को देखने-समझने और परखने की ताकत होती है।"

"स्वामीजी, आप मन को और विस्तार से स्पष्ट करने का कष्ट करिए।" ऋषिवर बाबू ने अनुनय-विनय की।

"मन सत्व, रज और तम से मिलकर बनता है। सत्व मन को स्थिरता और संतुलनता प्रदान करता है। रज उसे क्रियाशील रखता है और तम जड़ता, निष्क्रियता प्रदान करता है। अब आप इसके विपरीत चलिए। तमोगुण मन को जड़ बना देता है, रजोगुण उसे चचंलता प्रदान करता है और सत्व उसे ब्रह्मानन्द की ओर गतिशील करता है। इन बातों को ध्यान में रखकर हमें मनोनिग्रह के प्रभावी अभ्यास के लिए भीतरी अनुशासन को जगाना होगा ताकि हमें सटीक और स्वस्थ दिशा मिल सके। इस विषय में गुरुदेव ने मुझे शिक्षा दी है—'यह विश्व जंगल है। इसमें सत्व, रज, तम तीन डाकू रहते हैं।" स्वामीजी आगे बोलते कि एक श्रोता अपनी जिज्ञासा को अपने अधिकार में नहीं रख पाया। उसने टोका—"स्वामीजी, सत्वगुण भी डाकू है।"

"आप कृपया इसे साधारण अर्थ में न लें। सत् हो और चाहे रज या तम, तीनों ही जीवों को तत्त्व-ज्ञान की ओर बढ़ने से रोकते हैं। तमोगुण जीव का सब कुछ समाप्त कर देना चाहता है। रजोगुण जीव को संसार के लोभमय वातावण के पाश में ढकेलना चाहता है। लेकिन सद्गुण हैं, जो रज और तम से जीव को बचाते हैं। सद्गुणों के कारण ही काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, ईर्ष्या, द्वेष की जकड़न में जीव नहीं आता। सतोगुण ही है, जो जीव को सांसारिक बंधनों से मुक्त होने के लिए प्रेरित करता है। लेकिन ब्रह्मज्ञान के निकट सतोगुण भी नहीं ले जाता है। तत्व ज्ञान वह भी नहीं दे सकता। इस दृष्टि से गुरुदेव का कहना ठीक ही तो था कि सतोगुण भी डाकू है। हां, यह जरूर है कि सतोगुण हमें अन्तिम चरम लक्ष्य के मार्ग को पकड़ा देता है। दूर से उस लक्ष्य को दिखा देता है।"

"स्वामीजी, कृपया यह बतलाने का कष्ट करिए कि चेतन, अचेतन और अतिचेतन क्या हैं ?"

"ऋषिवर बाबू, ये तीनों मन के स्तर हैं। चेतन अहंकार लिए होता है। अतिचेतन पर समाधि की प्राप्ति होती है। इस समाधि की स्थिति के दौरान मन सापेक्ष चेतना से परे चला जाता है और ब्रह्म के साथ अपना तादात्मय बिठा लेता

है। अवचेतन मन की वह स्थिति है, जिसमें वह अच्छा और बुरा दोनों ही कर सकता है। मन के तीन स्तर हैं तो अवस्थाएं पांच हैं—क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। क्षिप्त मन अनिर्णयात्मक स्थिति में बिखरा रहता है। मूढ़ मन अनिष्टकारी है, यह सही दिशा में चल ही नहीं सकता है। विक्षिप्त मन केन्द्र को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। एकाग्रमन से मानव अपने भौतिक लक्ष्यों को प्राप्त करता है। एकाग्रता से वह श्रेष्ठता को प्राप्त करता है। इतना ही नहीं, एकाग्रमन मानव को निरुद्ध मन की स्थिति में भी पहुंचा सकता है। निरुद्ध समाधि है और समाधि मन का अतिचेतन स्तर कहलाता है।"

स्वामीजी ने एक दृष्टि श्रोताओं पर डाली। सभी मन्त्रमुग्ध थे। वे पुनः अपनी बात पर आ गए—"मैं फिर अपनी पहले वाली बात पर आता हूं। सत्संग, योग, विवेक, मानवीय सम्बन्ध, मन की स्वस्थ सक्रियता, कल्पना का विवेकपूर्ण उपयोग, जप-कीर्तन, ईश्वर पर अनुराग और उसे प्राणप्रण से चाहने पर मन पर अधिकार किया जा सकता है।"

"इसका मतलब है कि मन को साधने के लिए योग ही जरूरी नहीं है ?" भट्टाचार्यजी ने पूछा—"मैंने कई मार्ग बताए हैं। योग उनमें से एक है। शनैः शनैः मन पर फंदा डालना चाहिए। एकाएक यह फन्दे में नहीं फंसने का। इसे क्रमशः और विधिपूर्वक, धैर्यपूर्वक, संयम के द्वारा जीता जा सकता है। हमें अपनी इच्छाशक्ति इतनी मजबूत बनानी होगी कि जिधर हम चाहें, मन को ले जाएं। लेकिन इसे बच्चों का खेल भी न समझा जाए, कि जब चाहें अभ्यास किया और जब चाहा अभ्यास छोड़ दिया। इसे तो जीवन भर का काम मानकर चलना होगा। इसके लिए जो भी मूल्य चुकाना पड़े, चुकाने के लिए तत्पर रहना चाहिए। हमारी यही तत्परता सफलता का सूत्र है। ईश्वर से नाता जोड़ना है तो उसकी सिद्धि के लिए कैसा और कितना भी मूल्य चुकाना पड़े बड़ी बात नहीं है।"

प्रवचन चल रहा था। श्रोतागण भाव-विभोर थे कि सदानन्द पर स्वामीजी की दृष्टि पड़ी। सदानन्द चुपचाप श्रोताओं के पीछे आकर बैठ गया था। स्वामीजी ने अपना प्रवचन समाप्त किया। श्रोतागण एक-एक कर जाने लगे। अन्त में स्वामीजी अपने अतिथियों के साथ उठे। वे सदानन्द के पास आकर बोले—"सदानन्द, तुम मेरे लिए यहां तक उठ आए ?"

"तो और क्या करूं ? आपको न अपने खाने की चिन्ता है और न स्वास्थ्य की। अभी स्वस्थ हुए हैं और कर दी शुरू चाकरी।"

सदानन्द के कृत्रिम क्रोध को देखकर स्वामीजी मुस्कराए।

"सदानन्द, मैं देखता हूं कि कभी-कभी तुम में मेरी मां का सा आवेश आ जाता है।"

ऋषिवर बाबू, भट्टाचार्यजी आदि स्वामीजी के कथन को सुनकर मुस्करा दिए। उन्हीं के साथ एक अन्य सज्जन खड़े थे। वे स्वामीजी का व्यवहार देखकर बोले—"स्वामीजी, आप अद्‌भुत हैं। अपने अनुचरों से इतना स्नेह रखते हैं आप ?"

"भाई, यह मेरा अनुचर नहीं, यह मेरा अंश है। इस संसार में कौन किसका अनुचर है भला ?"

वह व्यक्ति स्वामीजी की वाणी सुनकर खिसिया गया।

उनके एक शिष्य ने पानी का लोटा लाकर उन्हें थमाया। वे हाथ-पैर धोकर स्वस्थ हुए और ईश्वर स्मरण में निमग्न हो गए। करीब एक घंटे ध्यान मग्न रहकर वे शिष्यों के साथ भोजनार्थ बैठे।

ऋषिवर बाबू, खुद उन लोगों को भोजन करवा रहे थे। भट्टाचार्यजी उनका सहयोग कर रहे थे। भोजनोपरान्त स्वामीजी ने परोसने वालों से कहा—"हम तृप्त हुए। अब कृपया आप लोग भोजन कर लें।"

न्यायमूर्ति का इशारा पाकर सभी भोजन करवाने वाले चले गए। स्वामीजी ने देखा कि सभी चले गए मगर ऋषिवर बाबू उनके सम्मुख ही खड़े हैं। उन्होंने प्रश्नात्मक मुद्रा में ऋषिवरजी को ओर देखा तो उत्तर मिला—"स्वामीजी, मैं एक बार ही भोजन करता हूं।"

"आप तो अपने नाम को कृतार्थ कर रहे हैं।"

"नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है।"

"आप सम्भवतः कुछ पूछना चाहते हैं ?" स्वामीजी ने न्यायमूर्ति के मन को टटोला।

"जी। लेकिन कहीं सदानन्दजी नाराज न हो जाएं।"

"अरे ! ऐसा कभी हो सकता है ?" सदानन्द बोला।

"मैं आपकी वाणी की अमृतधारा से अभी तृप्त नहीं हुआ हूं। ज्ञान, भक्ति और योग पर मैं कुछ और विस्तृत जानना-सुनना चाहता हूं।"

स्वामीजी के इशारे पर उनके समस्त शिष्य बैठ गए। स्वामीजी मृदुल वाणी में बोले—"आपकी जिज्ञासा शान्त करना मेरा कर्त्तव्य है। ज्ञान, भक्ति और योग के साथ बुद्धि तथा कर्म को और शामिल कर लीजिए। ब्रह्म चार प्रकार के महिमा भावों में परिणत हो रहा है—अव्यय ब्रह्म, अक्षरब्रह्म, आत्मक्षरब्रह्म और विश्वसृग्ब्रह्म। ब्रह्म के इन चार विवर्तों के कारण योग-बुद्धि, ज्ञान, भक्ति और कर्म भेदों में बंट जाता है। इन चारों योगों को समझाने के लिए—वेदशास्त्र, ब्रह्मासावेदशास्त्र, उपनिषद् और

आरण्यक शास्त्रों की रचना हुई है। ब्रह्म के अव्यय पुरुष रूप विवर्त की जानकारी के लिए गीताशास्त्र की उत्पत्ति हुई। वेदशास्त्र अव्यय पुरुष की ब्रह्मविद्या को अव्ययविद्या कहता है। गीताशास्त्र में इसी को राजर्षि विद्या कहा गया है। इस अव्यय विद्या पर वैराग्य योग स्थित है। गीता में इसे बुद्धियोग के नाम से जाना जाता है। ज्ञान योग, भक्ति योग और कर्मयोग की सफलता के लिए बुद्धियोग की नितान्त आवश्यकता है।"

"इस बुद्धियोग की उत्पत्ति कब से हुई है ?" न्यायमूर्ति गहन चिंतनात्मक स्वर में बोले।

"त्रेतायुग में भगवान ने इस योग का उपदेश विवस्वान को, विवस्वान ने मनु को तथा कालान्तर में मनु ने इक्ष्वाकु को प्रदान किया था। इसके बाद यह योग लुप्त रहा। द्वापर में भगवान ने इस योग का उपदेश अर्जुन को दिया।"

"स्वामीजी, बुद्धियोग का पथिक कैसे बना जा सकता है ?" न्यायमूर्ति के चिंतन पटल पर नाना प्रकार की जिज्ञासाएं तैर रही थीं।

"मानव ज्ञान शक्ति, क्रिया शक्ति और अर्थ शक्ति के तंत्रों के मोह में फंसा रहता है। जब तक वह इन पाशों से मुक्त होकर उस अव्यय पुरुष का अनुग्रह प्राप्त नहीं कर लेता तथा अपने पुरुषार्थ को नहीं दिखाता, तब तक बुद्धियोग का पथिक नहीं बन सकता है।"

"लेकिन मानव, ब्रह्म या उस अव्यक्त पुरुष का अंश ही तो है। फिर ऐसा क्यों है ? वह इतना अशक्त और दीन क्यों ?"

"ब्रह्म ही विश्व मूर्ति बनता है। इस अवस्था में उस अव्यक्त पुरुष का अंश, शरीर, मन तथा बुद्धि तंत्रों से युक्त होकर जीव के रूप में भाव ग्रहण करता है। अपने भाव दम्भ से यह जीव माया शक्ति में उलझ कर दीन और अशक्त हो बैठता है। इस जीव की प्रकृति तो ब्रह्म की ही होती है किन्तु माया शक्ति इसे कर्मपाश में बांध देती है। वैराग्य चेते तो ब्रह्म की माया शक्ति सिमटे और जीव कर्मपाश से छूटे।"

"दम्भ और मोह तो प्रबल हैं, इनसे बचा कैसे जाए ?"

"जब तक हम अपने को समस्त कार्यों का कर्त्ता मानने का दम्भ त्याग नहीं देंगे, तब तक माया शक्ति हमें घेरे रखेगी।"

"कर्म त्याग ही क्यों न कर दें ? न रहे बांस और न बजे बांसुरी।" भट्टाचार्यजी मुक्त स्वर में बोले।

"गीता में कहा गया है—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसास्मरन्।

इन्द्रियार्थान्विमूढ़ात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।। (गीता ३/6)

भगवान कृष्ण ने मन से इन्द्रियों को नियमित करके आसक्ति रहित होते हुए कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग करने को विशिष्ट माना है। शास्त्र भी स्वीकार करते हैं कि स्व कर्त्तव्य कर्मनिष्ठा में प्रवृत्त रहना उपयुक्त है। भट्टाचार्यजी, हम चाहे लोकनिष्ठा ले लें, और चाहे शास्त्रनिष्ठा, कर्म त्याग नहीं किया जा सकता। उस ब्रह्म ने अपने अंश को ऐसी प्रकृति दी है कि जीवात्मा अपने को कार्यों का कर्त्ता मानकर क्षण भर के लिए भी कर्म रहित नहीं हो सकता।"

"स्वामीजी, कर्मों का विभाजन पाप और पुण्य में किया गया है। लेकिन कई बार ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं कि एक ही क्षण, एक ही स्थल पर परस्पर विरोधी कार्य उपस्थित हो जाते हैं। ऐसे क्षणों में बाहर कैसे निकला जाए।" न्यायमूर्ति ने एक सार्थक प्रश्न स्वामीजी के सम्मुख रखा।

स्वामीजी ने तत्काल उत्तर दिया—"बुद्धियोग से, विवेक और निष्पक्ष सोच से ऐसी घड़ियों पर जीत पाई जा सकती है। हमें इस प्रकार की जड़ घड़ियों में अपने धर्म और कर्त्तव्य को सुकर्मों की ओर प्रवृत्त करना चाहिए। निजी मोह को एक किनारे रखना होगा ऐसे दुर्निवार समय में मोहवश ही तो अर्जुन क्षात्र धर्म का परित्याग करके ब्राह्मण धर्म को स्वीकार करना चाहता था। वह अपने कर्त्तव्य को कर्म में बदलने में संकोच करने लगा, उसे विपरीत निमित्त दिखने लगे, उसका शरीर कांपने लगा, उसे अनर्थ की परम्परा आभास होने लगी और वह पाण्डित्यपूर्ण तर्कों के आधार पर अपने कर्त्तव्य को पापकर्म बतलाने लगा। बड़ी विकट स्थिति है यह। इस स्थिति में भी जीवात्मा कर्म से विरत नहीं हो पाता। वह निंदित कर्म की ओर उन्मुख हो बैठता है। क्यों होता है ऐसा ?"

सभी स्वामीजी के मुख को ताक रहे थे। क्षण भर रुककर स्वामीजी पुनः बोले—"मानव के मन में अज्ञान के कारण यह बात बैठी हुई है कि कर्म बंधन का कारण है उसे बचने का उपाय नहीं सूझता, और वह अपनी बुद्धि से तय करके पुण्य कर्म करना चाहता है ताकि उसे अच्छा फल मिले। लेकिन कर्म कैसा ही हो, अयुक्त दशा में वह बंधन का कारण तो है ही। बंधन सीमा है....असीम का ससीम होना है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक जीव कर्म बंधन से मुक्त होना चाहता है। श्रेयस्कर को प्राप्त करना चाहता है। वैसे कर्म का त्याग करके बंधन से मुक्त तो हुआ जा सकता है किन्तु यह उचित नहीं है, मिथ्याचार है।"

"स्वामीजी, आपकी विश्लेषणात्मक शैली प्रशंसनीय है। एक बात और स्पष्ट करने का कष्ट करें।"

"पूछिए, न्यायमूर्ति जी ?" स्वामीजी ने मुखोपाध्याय बाबू को उत्साहित किया।

"कर्त्तव्य और कर्म में स्वेच्छारिता का सहारा लेना ठीक है क्या ?"

"ठीक नहीं है। हम जब सांसारिक कर्मों को अनासक्त भाव से करेंगे, अपने को कर्मों का कर्त्ता नहीं मानेंगे, तो कर्त्तव्य और कर्म में स्वेच्छारिता की बात ही नहीं उठेगी। अनासक्त भाव से किया गया काम सफल होता है बशर्ते हम बुद्धियोग का स्वरूप जान लें।"

"बुद्धियोग का स्वरूप क्या है ?" एक और सवाल उभरा....उत्तर मिला।

"बुद्धि दो प्रकार की होती है—व्यवसायात्मिका और अव्यवसायात्मिका। पहली प्रकार की बुद्धि में अपना कल्याण एवं समता प्राप्त करने का उद्देश्य होता है। दूसरी प्रकार की बुद्धि का उद्देश्य सांसारिक सुख, भोग, आराम, प्रतिष्ठा, प्रशंसा आदि प्राप्त करना होता है। यह बुद्धि हमेशा सिद्धि-असिद्धि, हानि-लाभ के चक्कर में फंसी रहती है। व्यवसायात्मिका बुद्धि सभी हानि-लाभ के चक्रों को लांघकर समाधि में स्थिर होने की क्षमता रखती है। सिद्धि-असिद्धि के द्वन्द्वों में समता बुद्धि रखना ही बुद्धि योग है। गीता में यही कहा गया है—

योगस्थ कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।। (गीता 2/48)

बुद्धि का समभाव में आना ही बुद्धियोग है।"

"सभी योगों में श्रेष्ठ योग कौन-सा है ? बुद्धियोग आसक्ति रहित है, सो क्या यही सबसे श्रेष्ठ योग है ?"

"निश्चित। ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग में यदि लोकनिष्ठा हो तो ये भी बुद्धियोग में परिणत हो जाते हैं। जब तक बुद्धियोग को सिद्ध नहीं किया जाएगा, तब तक शेष तीनों योग सिद्ध नहीं हो सकते। इस प्रकार सभी योगों के मूल में वस्तुतः बुद्धियोग ही है।"

"इन योगों को सिद्ध करने के लिए सावधान रहना आवश्यक है ?" भट्टाचार्यजी ने प्रश्न किया।

"कर्म, भक्ति और ज्ञान योग में जीवात्मा को सावधानी रखनी पड़ती है। बुद्धियोग में अपने आपको भगवान पर पूरी आस्था के साथ छोड़ देना होता है। इससे बुद्धियोग ही नहीं बल्कि शेष तीनों योग भी स्वतः सिद्ध हो जाते हैं। हम अपने सभी संकल्पों को यदि ब्रह्म को समर्पित कर दें, तो कर्मफल भी स्वयं उसे समर्पित हो जाएंगे, फिर सफलता और असफलता का भेद खुद-ब-खुद मिट जाएगा। यही मुक्ति है।"

"मैं अब ऐसा ही करूंगा। इसमें ज्यादा कठिनाई नहीं दिखती।" भट्टाचार्यजी बोले। लेकिन न्यायमूर्ति ने उन्हें टोक दिया।

"भट्टाचार्य बाबू जल्दी मत करिए। बुद्धियोग की सम स्थिति पर पहुंचने से पूर्व हमें अपने शरीर, इंद्रिय, इंद्रियार्थ आसक्ति त्यागनी होगी। हमें प्राकृत पदार्थों से अपनापन तोड़ना होगा और उनसे अपने लिए सहायता भी मांगनी होगी। अनुकूल-प्रतिकूल, मान-अपमान में निर्विकार रहना, ज्ञान-विज्ञान में अन्तःकरण को तृप्त रखना, मिट्टी-पत्थर और स्वर्ण में तटस्थ भाव रखना आदि सिद्ध करने होंगे।"

"तब तो यह बेहद कठिन है।" भट्टाचार्यजी मुस्कराए।

"और सुनिए,—आपको अपने सुहृद, मित्र, वैरी, साधु, असाधु सभी को समबुद्धि यानी मित्रभाव से देखना होगा। क्यों स्वामीजी, मैं गलत तो नहीं हूं ?"

"मुखोपाध्याय बाबू, यही स्थिति स्थितप्रज्ञ कही जाती है। हम मनोगत सभी इच्छाओं का त्याग कर दें तो ब्रह्मस्थित हो जाएं। वहां फिर न संतुष्टि है और न असंतुष्टि, राग, भय, क्रोध, सुख-दुःख, शुभ-अशुभ, शोक-हर्ष, कुछ नहीं है वहां। है तो केवल एक चीज-परम शान्ति, दिव्य शान्ति।"

प्रश्नोत्तर करते काफी देर हो गई थी। सभी रस-धार में निमग्न थे कि प्रवेश द्वार पर लाटू दिखे। स्वामीजी का शिष्यवर्ग संकेत समझ गया। सभी उठ गए। ऋषिवर बाबू बोले—"स्वामीजी, हम धन्य हुए। अब आप आराम करें।"

सदानन्द ने स्वामीजी की सोने की व्यवस्था की और कक्ष से बाहर निकल आया। अपने निकट खड़े लाटू से स्वामीजी बोले—"प्लेटो, तुम भी जाकर आराम करो।"

प्लेटो (लाटू) चले गए। स्वामीजी की आंखों में नींद नहीं थी। आज न जाने मन बार-बार क्यों पीछे को लौटने में रुचि ले रहा था। वे पद्मासन में बैठ गए, कुछ ही क्षणों में समाधिस्थ हो गए; और एक बार पुनः अतीत चलचित्र के सदृश उनके सम्मुख लहराने लगा। वे एक बार फिर से नरेन्द्र बन चुके थे।

8

बिले की अवस्था शनैः शनैः कालचक्र के साथ बढ़ती जा रही थी। उसकी शरारतों में कोई कमी नहीं आई थी। स्कूल उसकी अतिरिक्त क्षमता का उपयोग नहीं कर पा रहा था। उसमें तो सीखने की ललक ठाठें मार रही थीं....उसकी जिज्ञासा

पानी से लबालब भरी नदी के समान थीं, जो अपने कूलें तोड़ने को तत्पर रहती थीं। इसे कोई बांध बनाकर सही उपयोग करने वाला नहीं मिल रहा था। वह खुद जो पढ़ता, उसे तोलता-आंकता और निष्कर्ष निकालता।

मां का लाड़ला बिले चौदह वर्ष का हुआ। वह अच्छा भला चल-फिर रहा था कि एक दिन उसका पेट दुःखने लगा। ऐसी छोटी-छोटी बीमारियों की वह कभी परवाह नहीं करता था। लेकिन, एक दिन हुआ, दो दिन बीते....मां ने चिकित्सक से औषधि दिलवाई, कोई लाभ नहीं हुआ। धीरे-धीरे अशक्तता इतनी ज्यादा हो गई कि उसका उठना-बैठना भी दूभर हो गया। शरीर कंकाल मात्र रह गया। मां घबरा गई। औषधियों से लाभ तो हो रहा था, पर कमजोरी दूर नहीं हो पा रही थी।

इन दिनों उसके पिताजी कार्यवश रायपुर (मध्यप्रदेश) में रह रहे थे। उन्हें सूचना दी गई तो उन्होंने तत्काल पूरे परिवार को रायपुर बुलवा लिया। सन् 1877 ई॰ में वह अपने पिताजी के पास पहुंच गया। नरेन्द्र अस्वस्थ था, किन्तु इलाहाबाद, जबलपुर, होते हुए जब रेलगाड़ी नागपुर पहुंची तो वह उत्सुकता से प्लेटफार्म पर उतरा। मां ने टोका—"बेटे, मेरा हाथ पकड़े रहो, गिर जाओगे।"

"मां रायपुर अब यहां से कितनी दूर है ? ओह ! हम कितना बड़ा चक्कर लगाकर यहां पहुंचे हैं ! मां, भारत कितना बड़ा है ?"

"तू बड़ा हो जा, फिर अपने पैरों से नापकर देखना।"

आगे चलने के लिए पूरी व्यवस्था पहले से की हुई थी। परिवार के साथ आए सेवक ने पूरे परिवार को नाश्ता-पानी करवाया। कुछ देर सभी ने विश्राम किया और फिर बैलगाड़ी से वे रायपुर की ओर प्रस्थान कर गए।

नरेन्द्र के लेटने के लिए बैलगाड़ी में गद्दा बिछा दिया गया था। उसने आंखें मूंद लीं। बैलों के गले में बंधी घंटियों का स्वर उसे सुहा रहा था। उसका शरीर हिचकोले ले रहा था। मां का हाथ उसने अपने हाथ में ले रखा था और दूर कहीं गगन में तैर रहा था।

सुदीर्घ पथ बैलों के पैरों द्वारा कट रहा था। बैल एक समान गति से चल रहे थे। बैलगाड़ी वाला जानबूझ कर भी बैलों को धीमें हांक रहा था, ताकि सवारियों को तेज हिचकोलों का सामना न करना पड़े।

बिले से अधिक देर लेटा नहीं रहा गया। उसने मां की गोदी में सिर रख लिया और अपने चारों ओर से प्राकृतिक वातावरण का अवलोकन करने लगा। धरती मां के वैचित्र्यबहुल रूप देख-देखकर वह छक नहीं पा रहा था और मन में सोच रहा था कि विश्व प्रकृति के इस आनन्द रूप-राशि का सृष्टा कौन है ? यह मनुष्य के

बस की बात तो नहीं है। इस धरती मां का शृंगार करने वाला है कौन ?

बैलगाड़ी वन के बीच से गुजर रही थी। वह प्रथम बार वन-प्रान्तर की सुषमा की छटा देख रहा था। बहुत दूर निकल आने पर वे लोग एक स्थान पर रुके, बहुत बड़े वृक्ष के नीचे। बैलगाड़ी पर से दरियां, गद्दे आदि निकाल कर नीचे बिछा दिए गए। सभी भाई-बहन उन पर आराम से बैठ गए। सेवक और बैलगाड़ी वाला इधर-उधर से सूखी लकड़ियां बीनकर ले आए। पत्थरों को रखकर चूल्हा बनाया गया और भोजन बनाने की तैयारी हो गई। परिवार के लिए भोजन मां ने तैयार किया।

वह अशक्त होने के बावजूद भी मां से पूछकर कुछ दूर तक मंथर कदमों से सैर करने निकल गया। उसने वृक्षों से लताओं को लिपटे हुए देखा, पक्षियों का कलरव सुना, उन्हें आपस में लड़ते-झगड़ते और एक टहनी से दूसरी टहनी पर फुदकते हुए देखा, भिन्न-भिन्न वृक्ष और लताएं फूलों से लदी हुई, हवा में झूम रही थीं। उसने काफी देर तक एक वृक्ष के नीचे बैठकर प्रकृति का अवलोकन किया और बहन के बुलाने पर वापस आ गया।

परिवार के सभी सदस्यों ने भोजन करके कुछ देर विश्राम किया और फिर वे आगे के मार्ग पर रवाना हुए। उसे जगह-जगह रुकना, फिर चलना, रुकना, चलना बड़ा अच्छा लग रहा था। बैलगाड़ी वाले ने बताया था कि रायपुर पहुंचने में करीब पन्द्रह दिन लगेंगे।

एक दिन तो उसके आनन्द का पार नहीं रहा। बैलगाड़ी विंध्य पर्वत के उन्नत शिखर के कदमों में से होते हुए गुजर रही थी। उसके आग्रह से एक वृक्ष के नीचे, जहां पहाड़ की दो चोटियां करीब-करीब मिलने को थीं, बैलगाड़ी ने रुककर पड़ाव डाला। सभी परिवारजन अपने-अपने कार्यों में लग गए। उसे चैन कहां था ? वह अब पहले की अपेक्षा कुछ स्वस्थ भी हो चला था, सो निकल गया वह प्रकृति का रूप-रंग देखने।

मार्ग के दोनों ओर बीहड़ पर्वत की शृंखलाएं आकाश को छूने की होड़ में थीं। भिन्न-भिन्न प्रकार के पुष्प गुच्छ, लताएं, कुसुम और फलों के भार से लदी-फंदी शाखाएं धरती को नमन कर रही थीं, रंग-बिरंगे पंछी कुंज-कुंज में गूंजन कर रहे थे, वे कभी तो आहार की खोज में धरती पर आ जाते; और अगले ही क्षण पेड़ की डालों पर फुदकते नजर आते। वह बढ़ा चला जा रहा था।

एक स्थान पर आकर उसने देखा कि पहाड़ में एक बहुत बड़ा सुराख है। उस सुराख की ऊपरी सतह पर एक विशाल मधुमक्खियों का छत्ता लटक रहा है। उसके मुंह से निकला—"ओह ! अद्भुत, कमाल है यह। इसमें तो हजारों-हजार

मधुमक्खियां होंगी। मैंने इतना बड़ा मधुचक्र आज तक नहीं देखा।"

वह ईश्वर की अनोखी लीला पर विचार करता खो गया, तन्मय हो गया। उसकी कल्पना में सम्पूर्ण मक्षिका राज्य दौड़ रहा था। मक्खियां निरन्तर आतीं और क्षण भर में उड़ जातीं, क्षणिक विश्राम भी नहीं पातीं। न जाने कितने लाख फूलों का रस लाकर इन्होंने यहां एकत्रित किया होगा ? इस छत्ते को बनाने में इन्हें कितना समय लगा होगा ? इन्हें इस सारे हिसाब-किताब की जरूरत नहीं है। इन्हें तो कार्य करना है बस। ईश्वर की अद्‌भुत माया है....अद्‌भुत।

काफी देर बाद वह अपने होश में आया। उसे लगा, मानो वह कुछ देर अचेत रहा हो। वह अपने आस-पास की दुनिया को छोड़कर न जाने कहां चला गया था।

वह वापस ठिकाने पर आया। कुछ देर में बैलगाड़ी आगे बढ़ गई।

अन्ततः वे रायपुर पहुंच गए। रायपुर में कोई स्कूल था नहीं सो पिताजी ने उसे स्वयं शिक्षा देनी शुरू कर दी। अब पिताजी को पर्याप्त समय मिल जाता था। मुकदमों के मामलों की सिरदर्दी अब कम थी सो उन्हें अदालत में दौड़-धूप कम करनी पड़ती थी। उसकी प्रतिभा का पता पिताजी को था। पिताजी के पढ़ाने और अध्यापकों के पढ़ाने में बहुत अन्तर था। पिताजी उसकी जरूरतों को समझते थे। इसलिए पाठ्यपुस्तकों के अतिरिक्त उन्होंने उसे इतिहास, दर्शन, साहित्य आदि भी पढ़ाना शुरू कर दिया।

कलकत्ते की तरह रायपुर में भी पिताजी के पास गुणी-ज्ञानी व्यक्ति आया करते थे। इन श्रेष्ठ महानुभावों में साहित्य, धर्म, दर्शन आदि विषयों पर वाद-विवाद होता था। वह बड़े ध्यान से उनके तर्कों, उत्तर और प्रत्युत्तरों को सुनता। पिताजी उसकी रुचि जानते थे, सो कभी-कभी वे उसे भी वाद-विवाद में सम्मिलित होने का निमन्त्रण दे डालते थे। उसकी बात इतनी सटीक और अर्थपूर्ण होती थी कि सुनने वाले प्रशंसा किए बिना नहीं रह पाते थे। पिताजी उसकी पीठ थपकते और कहते—"तुझे पढ़ते तो देखता नहीं हूं, तू यह सब कब पढ़-लिख लेता है रे ?"

"अपनी पढ़ाई करने के उपरान्त अन्य पुस्तकें पढ़ता हूं।"

"शाबाश ! बेटे, तेरी योग्यता पर मुझे गर्व है।"

पिताजी के शब्द सुनकर वह बड़ा खुश हुआ था। उसे पढ़ाई के अलावा साहित्य की अन्य पुस्तकों को पढ़ने का चस्का लग गया। अब तो वह ऐसे व्यक्तियों की प्रतीक्षा में रहता, जो साहित्य में दखल रखते हों। बंगाली साहित्यकारों का साहित्य और महान व्यक्तियों की जीवनियों को वह पढ़ गया। पिता उसकी रुचि से प्रसन्न थे। वह भी प्रसन्न था कि पिताजी किताबी विद्या को महत्त्व नहीं देते, बल्कि उससे

अनेकानेक विषयों पर तर्क करके उसे स्वाधीन भाव से अपना मत प्रकट करने का पूर्ण अवसर देते हैं। पिताजी की ज्ञान-गरिमा और गम्भीरता से वह प्रभावित था। उनसे वह ज्ञान ग्रहण कर रहा था।

वह अपने पिताजी से और भी बहुत कुछ सीख रहा था। उसके किशोर चरित्र पर पिता की एक-एक बात का गहरा प्रभाव पड़ता था। दूसरों के दुःख को देखकर परेशान होना, मुसीबत में धैर्य न छोड़ना तथा विपरीत परिस्थितियों में भी अपना कर्त्तव्य निर्वाह करना आदि गुण उसने पिता से ही सीखे थे।

वह देखता था कि पिता को धन से बिलकुल लगाव नहीं है। कलकत्ते के अपने मकान में उसने परिचित और अपरिचितों का डेरा लगा हुआ देखा था। उनके सारे खर्च उसके पिता ही उठाते थे। रायपुर में भी यही हाल था। जिसने उनके घर में एक बार आश्रय ले लिया, समझो सभी ओर से वह निष्फिक्र हो गया। यहां तक कि उन लोगों के नशे-पत्ते का खर्च भी वे ही उठाते थे। उसने इस बाबत एक दिन पिताजी से शिकायतपूर्ण स्वर में पूछा था—"पिताजी, आप हमारे लिए क्या छोड़ जाएंगे ? जो कुछ घर में आता है, उसे तो आप निठल्ले लोगों पर खर्च कर देते हैं। यहां तक कि उनके नशे का खर्च भी आप ही उठाते हैं।"

उसके पिताजी मुस्कराए थे। वे उसे लेकर एक कमरे में आए और उसे शीशे के सामने खड़ा करके बोले थे—"बेटे, मैं अपने पीछे यह छोड़ जाऊंगा। है, इससे बड़ी कोई दौलत ? रही लोगों के नशे व्यसन के खर्च उठाने की बात, बेटे—जीवन में कितने दुःख हैं, यह तू अभी क्या समझेगा ! तू बड़ा होने पर देखेगा कि किस गहरे दुःख के पंजे में फंसे होने के कारण लोग नशा करते हैं।"

"लेकिन पिताजी, क्या इससे उन्हें पीड़ा से छुटकारा मिल जाता है ? उनके दुःख कम हो जाते हैं ?"

"वे क्षणिक छुटकारे से शायद अपने को हल्का महसूस करते होंगे। तू जब बेटे असलियत जानेगा तो तुझे भी इन पर दया आएगी।"

पिता की बात सुनकर, उसका पिता के प्रति और अनुराग पैदा हो गया। उनके प्रति अति श्रद्धा उसके मन में जाग गई। वह अपने मित्रों से कहता—"मैं एक महान व्यक्ति का पुत्र हूं।"

इस वाक्य को कहते हुए उसकी छाती फूल उठती थी। उसका प्रबल आत्माभिमान जाग उठता था। इस आत्माभिमान वश एक बार वह मां की अवज्ञा कर गया: और उन्हें कुछ दुर्वचन भी कह गया। पिता ने उसकी हरकत देख ली। उन्होंने उससे कुछ नहीं कहा। अगले दिन वह जब पिता के पास पढ़ने बैठा तो

सामने दीवार पर लिखा हुआ पाया।

"नरेन्द्र बाबू ने आज अपनी माताजी को दुर्वचन कहे हैं।"

नरेन्द्र चुपचाप पिताजी से पढ़ता तो रहा, किन्तु आज प्रतिप्रश्न करने की उसने कोई कोशिश नहीं की। अध्ययन समाप्ति पर वह उठा और वहां से खिसक लिया। उसने सबसे पहला काम अपनी माताजी से क्षमा याचना का किया।

पिता के इन सभी तरीकों और व्यवहार को वह हृदयंगम करता गया। उसने पिता से सच बोलना और खरा व्यवहार, सभी पड़ोसियों, ऊंच-नीच, गरीब-अमीर को समान सम्मान देना और निडरता आदि गुण ग्रहण किए। कई बार तो निर्भयता से कटु सत्य कहने के कारण कोई अप्रिय स्थिति खड़ी हो जाती थी और उसे दण्ड भी भुगतना पड़ता था। लेकिन वह चाहकर भी सत्य को छिपा नहीं सकता था। इसी प्रकार वह अपनी युक्तिपूर्ण बातों से महज बच्चों की कल्पना कहने वालों के गले पड़ जाता था। कई बार तो उसके पिता के अभिन्न मित्र भी उसके आवेश और क्रोध के शिकार हो जाते थे।

उसके पिताजी जानते थे कि उसे आत्मसम्मान अति प्रिय है। जब तक उसके आत्मसम्मान को गहरी ठेस पहुंचाने की कोशिश न की जाए, वह दूसरों के आत्मगौरव की रक्षा करता था, किन्तु अपने पर गलत और अन्यायपूर्ण चोट सहन करना उसके वश की बात नहीं थी। उसकी इस न्यायपूर्ण उग्रता के लिए कई बार पिता से उसे दण्ड भी मिलता था। लेकिन सजा भोगने के पश्चात् जब वह पिता की आंखों से आंखें मिलाता, तो पिता की दृष्टि में वह अपने लिए सम्मान ही पाता।

उसे अपने पिताजी और मां पर अगाध विश्वास था। लेकिन जहां तक ज्ञान की बातें ग्रहण करने की बात थी, वह इधर-उधर से प्रामाणिक बातें एकत्रित करके उन्हें पूछा करता। उसने कभी भी, किसी भी ज्ञान को अधकचरे रूप में प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं किया। ऐसी भी बात नहीं थी कि उसे लोगों या पिताजी की बातों पर अविश्वास होता था, पर उसे तो प्रत्येक बात को कसौटी पर कसने की आदत थी न !

अपने पिताजी द्वारा दी गई सजा को उसने कभी अन्यथा नहीं लिया। पिता द्वारा दिए गए दण्ड को वह प्रामाणिक मानता था और खिलाड़ी की भावना से निःसंकोच उसे भुगतता था, क्योंकि वह जानता था कि उसके स्नेही पिता इस विषय में गलत नहीं हो सकते।

कुछ ही महीनों में रायपुर आकर उसका स्वास्थ्य सुधर गया। उसके कसरती और सुघड़ बदन को देखकर लोग उसे कम से कम बीस वर्ष की आयु का समझते।

उसे कुश्ती का शौक तो बचपन से ही था, किन्तु अब तो यह शौक नियमित दिनचर्या में बदल चुका था।

उसे रायपुर में आकर एक अन्य शौक लगा, रसोई पकाने का। उसके पिता सुस्वादु रसोई बनाना जानते थे और उनसे ही उसने यह कला सीखी थी।

रायपुर में दो वर्ष व्यतीत करने के उपरान्त वह कलकत्ता लौटा। अब वह मानसिक और शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ था। उसके पुराने मित्र उसे लौटा देखकर अति प्रसन्न हुए। दो वर्ष की अनुपस्थिति के कारण उसे स्कूल में एन्ट्रेस की कक्षा में प्रवेश दिलाने में काफी अड़चनें आईं। लेकिन मेट्रोपोलियन स्कूल के शिक्षकवृंद उसके गुणों को जानते थे। सभी ने उसका पक्ष लिया और शिक्षा अधिकारियों की विशेष अनुमति से अन्ततः उसे अपने पुराने स्कूल में प्रवेश मिल गया।

स्कूल में प्रवेश तो उसे मिल गया। लेकिन एक चुनौती सम्मुख आन खड़ी हुई और किसी भी चुनौती की अनदेखी करना, उसे नकारना, उससे पीछे हटना, उसकी प्रकृति नहीं थी। चुनौती थी—दो वर्ष की पाठ्यपुस्तकों को एक वर्ष में समाप्त करके एन्ट्रेस परीक्षा में सम्मिलित होना। वह परिश्रम में लग गया। उसके दोनों छोटे भाई और बहनें कभी-कभी उसके पास आते और शरारतें कर जाते, तो वह उनके साथ कुछ देर निमग्न हो जाता और पुनः अध्ययन में जुट जाता। वह स्कूल के अन्य कार्यक्रमों की अनदेखी भी नहीं करता था। स्कूल के एक शिक्षक के विदाई समारोह में प्रसिद्ध वक्ता सुरेन्द्रनाथ बनर्जी आए थे। समस्या हुई कि समारोह में किस छात्र अभिनंदन भाषण करवाया जाए। नरेन्द्र इस अवसर पर आगे आया और लगभग आध घंटे तक ऐसी धाराप्रवाह अंग्रेजी में बोला कि सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को उसकी पीठ थपथपानी पड़ी। उसमें निडरता और निर्भयता तो कूट-कूटकर भरी हुई थी।

वह निर्भय होकर एन्ट्रेस परीक्षा में शामिल हुआ। असफलता का कहीं कोई भय नहीं था। उसके इस आत्मबल और आत्मविश्वास ने उसका साथ दिया। एक एन्ट्रेस परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुआ। स्कूल में वही एकमात्र विद्यार्थी था जो प्रतिष्ठापूर्वक उत्तीर्ण हुआ। स्वाभाविक था कि उसके सभी परिचितगण हर्षित होते। मां ने स्नेहवश उसे गले से लगा लिया और हर्षित स्वर में बोली—"अरे ! बिले, तू तो मुझसे लम्बा हो गया रे।"

"मां, मैं तो तेरी गोदी में खेलने वाला बिले बना रहना चाहता हूं, बस।"

स्कूल के शिक्षकों और अधिकारियों ने भी उसकी पीठ थपथपाई। प्रधानाध्यापक बोले—"नरेन्द्र, तुम हमारे स्कूल के गौरव हो। तुमने स्कूल को प्रतिष्ठा दिलाई है और इसका मान बढ़ाया है।"

"मैंने अपने आत्मविश्वास की रक्षा की है, सर।"

"जरूर....जरूर...., ईश्वर तुम्हें हमेशा सफल करे।"

पिताजी ने समाचार सुना तो उसे बुलाया और छाती से लगा लिया तथा गम्भीर स्वर में बोले—"शाबाश बेटे, गर्वरहित होकर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते चलो, सफलता तुम्हारे कदम चूमेगी।"

वह उन्नत ग्रीवा किए हुए पिता के कक्ष से निकला कि छोटे भाइयों और छोटी-बड़ी बहनों ने उसे घेर लिया। वे समवेत स्वर में बोले— "दादा, मिठाई। दादा, मिठाई।"

"भाई, मिठाई तो तुम रोज खाते हो।"

"आज आपसे खाएंगे।"

"ठीक है, मैं अपने हाथो से आज तुम लोगों को भोजन बनाकर खिलाऊंगा, जिसमें मिठाई भी होंगी।"

उस दिन संध्या को उसने रसोई का काम सम्भाल लिया। उसने बड़े चाव से तरह-तरह के पकवान बनाए और सबको खिलाकर वाहवाही लूटी।

अगले दिन माता-पिता ने उसके भविष्य के बारे में विचार विमर्श किया। मां बोली—"बिले अब अठारह वर्ष का हो रहा है। उसकी रुचि देखते हुए उसे कॉलेज में भर्ती करवा दीजिए।"

"प्रेसिडेन्सी कॉलेज ठीक रहेगा।"

"यह निर्णय करना आपका काम है।"

पिताजी ने उसे प्रेसिडेन्सी कॉलेज में प्रवेश दिला दिया।

भोर की किरणें फूटीं....एक नई सुबह का आगमन हुआ। सन् 1879 चल रहा था।

वह उमंग से कॉलेज जाने लगा कि मलेरिया ज्वर से आक्रान्त हो बैठा। उसने तो बुखार की स्थिति में भी कॉलेज जाना चाहा, पर मां ने सख्त मनाही कर दी। मां और पिता की बात वह कभी टालता नहीं था। सो उस वर्ष वह कॉलेज न जा सका।

अगले वर्ष पिता ने निर्णय किया कि उसे जनरल असेम्बली इंस्टिट्यूशन में एफ॰ए॰ की कक्षा में प्रवेश दिला दिया जाए।

वह इस कॉलेज में अति शीघ्र अपने गुणों और प्रखर व्यक्तित्व के कारण प्रसिद्ध हो गया। उसका गम्भीर विश्वास और तज्जन्य श्रेष्ठ भावना उसके चरित्र को एक विशिष्टता प्रदान करती थी, जिसके कारण प्रत्येक उसकी ओर खिंचा चला आता था। उसके कई छात्र भक्त बन गए। शिक्षकों ने भी कॉलेज में आज तक ऐसा प्रखर मानसिक शक्ति वाला छात्र, भव्य व्यक्तित्वपूर्ण विद्यार्थी नहीं देखा था। उसके

निर्भीक तथ्यपूर्ण और तर्कसंगत बातों के वे भी कायल हो गए। उसकी इस श्रेष्ठता के कारण कॉलेज में कुछ छात्र उससे ईर्ष्या भाव भी रखते थे।

एक दिन किसी छात्र ने एक शिक्षक के कान भर दिए कि नरेन्द्र उसकी आलोचना कर रहा था। शिक्षक ने नरेन्द्र से पूछ लिया—"नरेन्द्र, तुम्हें मुझसे कुछ शिकायत है ?"

"जी नहीं, लेकिन आप यह प्रश्न मुझसे क्यों पूछ रहे हैं, सर ?"

"ऐसे ही।"

शिक्षक ने बात टालने की गरज से कहा। लेकिन उसने गम्भीर स्वर में बात पकड़े रखी। वह बोला—"सर, नरेन्द्र पीठ के पीछे बात बनाना नहीं जानता है। उसे जो कुछ कहना होता है, वह मुंह के सामने कहता है। पीठ पीछे बात करने वालों में कोई दम नहीं होता। मैं ऐसी बेदम बात क्या करूंगा भला ? मैं दूसरों से भी इसी तरह के व्यवहार की अपेक्षा करता हूं। मेरे विचार में किसी के पीठ पीछे आलोचना करना, अपनी ईर्ष्या और कायर भावना का प्रदर्शन करना है। मैं ऐसा नहीं हूं।"

बात स्पष्ट हो गई। इससे शिक्षक का भ्रम ही नहीं टूटा अपितु बिले के सिद्धान्तों के प्रति उसमें विश्वास भी जागा। इस बात का जिक्र उस शिक्षक ने अन्य शिक्षकों से किया और शीघ्र ही पूरे कॉलेज में यह बात प्रचलित हो गई कि नरेन्द्र न गलत व्यवहार करता है; और न दूसरे का गलत व्यवहार सहन करता है।

इससे उसको एक लाभ यह हुआ कि उसके प्रति श्रद्धा रखने वाले घनिष्ठ मित्रों की काफी तादाद बढ़ गई। समझदार लोग उसकी स्पष्टवादिता पर कुछ देर नाराज रहते, किन्तु जब सारी घटना पर वे विश्लेषणात्मक दृष्टि डालते तो उसे सही मानते। पूरी कक्षा क्या, कॉलेज में उसका बोलबाला हो गया।

उसकी कक्षा के अधिकांश छात्र उससे मित्रता करने के लिए उत्सुक रहते। उनमें से कुछ को उसने अपना अंतरंग मित्र स्वीकार किया और कुछ को नहीं। उसके मित्रों की समझ में नहीं आया कि ऐसा क्यों ? एक दिन उसने इस बात को स्पष्ट किया।

"न जाने मुझमें कुछ बातें सहन नहीं होतीं। मैं पुरुष का मटक-मटक कर बातें करना पसन्द नहीं करता। मैं चाहता हू कि पुरुष सिंह सदृश हो। यह क्या बात हुई कि कोई आंख से आंख मिलाकर बात न कर सके ? आंखें लज्जावश नत कर लेना तो पुरुषत्व का लक्षण नहीं है। मैं ऐसे व्यक्तित्व को भी दूर रखता हूं जिसमें स्त्री सुलभ हाव-भाव विद्यमान रहें। सिंह के समान गौरवशाली चाल मे पुरुष क्यों नहीं चलता ? ऐसे लोगों से क्या मित्रता रखना, जिनमें पुरुषत्व के लक्षण ही नहीं है ?"

कई मित्र तो उसकी कठोर आलोचना के शिकार इसलिए हो जाते थे क्योंकि वे अनावश्यक विलासिता की सामग्री के दीवाने होते। बात सही होती सो वे उसकी बात का कभी बुरा नहीं मानते थे।

वह कॉलेज की सह-शैक्षिक गतिविधियों में भी खुलकर हिस्सा लेता था। व्यायाम, कुश्ती, क्रिकेट आदि में वह अपना सिक्का जमा चुका था। संगीत, हास-परिहास और समवयस्कों से गप-शप मारने में भी वह पीछे नहीं रहता था।

वह जानता था कि इस दुनिया में ऐसा कोई नहीं है जिसके सभी शुभचिंतक हों। कॉलेज और कॉलेज के बाहर आलोचना उसकी भी होती थीं, किन्तु अपनी निन्दा सुनकर वह कभी विचलित नहीं हुआ। ऐसे अवसर पर वह ईसा के शब्द दोहरा देता।

"हे प्रभो ! इन्हें क्षमा करना। यह नहीं जानते हैं कि ये क्या कह रहे हैं।"

उसके वाक्य सुनकर सभी मित्रगण ठट्ठा कर हंस पड़ते।

उसके दो रूप थे। अपने खिलंदड़े रूप के कारण वह कई बार आलोचना का पात्र बनता था। लोग उसके इस स्वभाव को उसका उच्छृंखल आचरण समझ लेते थे। लेकिन उसका यह आचरण अपने मस्तिष्क को विश्राम देने का एक साधन मात्र होता था। उग्र स्वभाव तो उसका बचपन से ही था। जिस किसी को उसका यह उग्र स्वभाव नहीं भाता था, वह उसके आवेश और कटु स्वभाव तथा सपाट सत्य करने की शैली की आलोचना कर, उसे बुरा सिद्ध करने की कोशिश करता था।

उसका दूसरा रूप था अध्ययनवेत्ता का, एक गम्भीर और गहन चिंतक एवं विश्लेषणकर्त्ता का। उसके इस रूप के कम ही साथी थे, क्योंकि अधिकांश मित्रगण पुस्तकों की सामग्री रटने तक ही सीमित थे। उनकी दृष्टि उस व्यापकता तक नहीं जा सकती थी, जिसमें वह खोया रहता था। अपने इस रूप में वह पाश्चात्य विज्ञान और दर्शनशास्त्रों की मीमांसाओं में डूबा रहता। डेकार्ट का अहंवाद, ह्यूम और बेन की ईश्वरीय सत्ता के विरुद्ध विद्रोह यानी नास्तिकतावाद, डार्विन का विकासवाद और स्पेन्सर का अज्ञेयवाद आदि को उसने खंगाल डाला। वह जितना इन्हें खंगालता गया, उतना ही उसके सम्मुख विराट द्वन्द्व पैदा होता गया। एक तरफ उसके जन्मगत संस्कार, ईश्वर पर अटूट आस्था और दूसरी तरफ वैज्ञानिक सत्य, जिन्हें मनुष्य ने अपने बुद्धि के बल पर सदियों के अंधेरे को चीरकर प्रकट किया था। इन सच्चाइयों के उद्घाटन के फलस्वरूप मनुष्य द्वारा स्थापित की गई कई मान्यताएं गलत सिद्ध हो चुकी थीं। उसने सुकरात को पढ़ा, गैलीलियो के उत्कर्ष को समझा, छद्‌म धर्म केन्द्रों और इनके विलायती ठेकेदारों को इन्हें कुचलने का प्रयास करने के किस्से पढ़े—उसके मन में कौंधा कि क्या सत्य से परिचय करना अपराध है ?

उसके जन्मगत संस्कारों की नींव हिल गई, आस्था डगमगाने लगी, अन्तर्निहित भावनाएं हिलोरें लेने लगीं। वह सत्य से साक्षात्कारार्थ व्यग्र हो उठा। ऐसी हलचल में उसका साथी था ब्रजेन्द्रनाथ सील। सील उसके वैचारिक द्वन्द्वों का साथी था। वे दोनों विचार- सागर में जब गहरे गोते लगाते, और थककर किनारे पर आते तो काफी संतुष्ट होते। उसके इस परम मित्र ने उसे सलाह दी कि हेगेल का दर्शन और शैले की कविताएं पढ़े तथा फ्रांसीसी क्रांति के इतिहास का अध्ययन करे। उसने मित्र की सलाह पर काम किया। लेकिन उसे संतुष्टि नहीं थी। उसने अपने विचार सील को बताए।

"दार्शनिकों के दर्शन पढ़े, महान कवियों की कविताओं का विश्लेषण किया, आध्यात्मिक गुरुओं की वाणियों की मीमांसाओं को चाट गया, वैज्ञानिक सत्यों और उनके विश्लेषण को पचा गया, लेकिन सील, जो चाहता हूं; उसे नहीं पा सकता हूं। इन सबकी मीमांसा करके तो उल्टा मैं मतिभ्रम में धंसा जा रहा हूं।"

"नरेन्द्र, तुम्हारी ज्ञान पिपासा के सम्मुख ये सारी चीजें बौनी सिद्ध हो रही हैं। मुझे लगता है तुम उस महान और विराट शून्य की ओर अग्रसर होने की ललक लिए हुए हो, जिसके आगे और कुछ नहीं है।"

"सील, इन दिनों मैं अति मानसिक पीड़ा भुगत रहा हूं। इस मानसिक अशान्ति के कारण चित भी भटक रहा है, कोई ठौर नजर नहीं आ रहा है। मेरे मन और मस्तिष्क में कई सवाल तैर रहे हैं।"

"कैसे सवाल ?"

"इस जड़-जगत के पीछे क्या ऐसी कोई अति समर्थवान सत्ता है, जिसके इशारे पर यह सम्पूर्ण सृष्टि परिचालित हो रही है। कौन है वह पुरुष ? है भी, या नहीं है ? इस सृष्टि में करोड़ों प्रकार के जीव-जन्तु और कीट-पतंग हैं। इनमें से श्रेष्ठ मनुष्य माना जाता है। श्रेष्ठ और अश्रेष्ठ का निर्णय कैसे करें ? मानव जीवन का उद्देश्य आखिर है क्या ?"

"नरेन्द्र, ये शाश्वत प्रश्न हैं। इन सवालों से कृष्ण, गौतम, महावीर, नानक, कबीर, मीरा, चैतन्य महाप्रभु और हमारे श्रेष्ठतम आध्यात्मिक महामानव भी गुजरे होंगे। उन्होंने अपने प्रश्नों के उत्तर निश्चित पाए होंगे, तभी तो वे दत्तचित्त होकर अपने कर्मक्षेत्र में लगे रहे। इतनी बड़ी सृष्टि, करोड़ों-अरबों-खरबों प्राणियों का नियन्ता कोई तो होगा ही ? हमारा छोटा-सा कस्बा; शहर तक, जब किन्हीं व्यक्तियों द्वारा संचालित होता है, तो सृष्टि सूनी नहीं हो सकती। इसकी देखरेख करने वाला कोई तो है। रही, मानव जीवन के श्रेष्ठ होने की बात। मानव श्रेष्ठ है, इसमें कोई

सन्देह नहीं। अपनी बुद्धि के बल पर वह श्रेष्ठ है। वह अपना हित और अहित जानता है, उसमें निर्णय लेने की शक्ति है, उसमें अपने जीवन को ऊंचे-से-ऊंचे धरातल तक ले जाने की क्षमता है। यह बात अन्य प्राणियों में नहीं है। मानव कुपथ पर चलकर अश्रेष्ठ हो सकता है, और सुपथ का राही बनकर श्रेष्ठ कहलाया जा सकता है। यह उसके उद्देश्यों पर निर्भर करता है। मैं इतना सक्षम तो नहीं कि तुम्हारे सवालों के सटीक उत्तर प्रमाण सहित प्रस्तुत कर सकूं। मेरा मस्तिष्क जहां तक जा सकता है, वह मैंने तुम्हें बतला दिया है।"

"तुमने इस सृष्टि के कर्त्ता-धर्त्ता को देखा है ?"

"नहीं।"

"उसकी उपस्थिति का तुम्हें आभास हुआ है कभी ?"

"नहीं।"

"तुम्हारी नजर में ऐसा कोई व्यक्ति है, जिसने इस ब्रह्मांड के नियन्ता को देखा हो या फिर अनुभव किया हो ?"

"नहीं।"

"यही तो मेरी समस्या है।"

"मैं तुम्हें एक सलाह दूं ?"

"जरूर।"

"तुम वेद, उपनिषदों, पुराणों की ओर ध्यान लगाओ। गीता को टटोलो। मैंने सुना है, इनमें उस परम पुरुष के सभी रहस्यों को उजागर किया गया है।"

"ठीक है, उस मार्ग पर भी जाकर देखता हूं।"

अब उसकी दिनचर्या में एक और अध्याय जुड़ गया। पाठ्यपुस्तकों पर नियमित समय लगाने के बाद वह वेद, उपनिषद्, पुराण आदि में ध्यान लगाता। उसकी सत्य को जानने की जिज्ञासा दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। अपने मन में उभर रहे सवाल को वह यत्र-तत्र प्रस्तुत करता रहता। उसने मां से सवाल किया।

"मां, तुमने ईश्वर को देखा है ?"

उसने अपने पिताजी से पूछा—"पिताजी, आपने ईश्वर के दर्शन किए हैं ?"

उसने पिताजी के मित्रों, अपने रिश्तेदारों और शिक्षकों को कुरेदा।

"आपने ईश्वर से साक्षात्कार किया है ? कैसा है वह ? उसका रूप-रंग, आकार-प्रकार कैसा है ? क्या वह हमारी तरह है ?"

उसे कहीं से कोई उत्तर नहीं मिला। साहित्य, दर्शन, विज्ञान, इतिहास, धर्म, कर्म, पूजा-पाठ, साधु-सन्यासियों, विद्धानों, प्रचारकों, उपदेशकों आदि को उसने

टटोल लिया, पर हर कहीं, उसे ज्योति बुझी ही मिली।

वह इधर-उधर भटक कर आता और मां से पूछता—"मां, रोज सिर पर गागर लेकर जाता हूं; और रीती गगरिया लिए वापस आता हूं।"

मां अपने पुत्र की उद्विगनता से परिचित थी। वह उत्तर देती।

"बिले, तूने जो राह पकड़ी है, उसमें तो यह कठिनाई कुछ भी नहीं है रे।"

"लेकिन, मैं कब तक भटकूंगा ?"

"जब तक तुझे तेरा लक्ष्य न मिल जाए।"

"लेकिन ?...."

"लेकिन-वेकिन कुछ नहीं। मैं तेरी मां हूं। तेरी प्रकृति जानती हूं। तुझे लक्ष्य प्राप्त किए बिना चैन मिलेगा क्या ? तू तो धुन का पक्का है रे !"

मां के शब्दों से आगे बढ़ने की प्रेरणा मिलती और मन की उद्विगनता कुछ कम होती।

वह कई आध्यात्मिक तत्वों की व्याख्या करने वाले सज्जनों और अपने-अपने क्षेत्र में प्रकाण्ड समझे जाने वाले धर्माचार्यो से मिला। उन्होंने उसके प्रश्नों के उत्तर में लम्बी-चौड़ी व्याख्याएं और कोरे उपदेश देकर उसे संतुष्ट करने की कोशिश की, किन्तु वह इतने से संतुष्ट होना तो कभी का हो जाता। रटने के लिए तो उसने भी कई अनुपम और अद्भुत उपदेशात्मक सूत्र रट रखे थे। वह जिससे भी अपनी जिज्ञासा को लेकर मिला, उसी ने प्रयास किया कि वह सत्य प्राप्ति की आकांक्षा अपने हृदय से निकाल दे। वह जब ऐसे सज्जनों से मिलकर बाहर आता तो गुनगुनाता।

अविद्यायायान्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पाण्डितम्मन्ययानाः।
दन्द्रम्ययाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।।

—कठोनिषद्-1/2/5

वह सोचता कि अपनी समझ में बड़े बुद्धिमान बने हुए और खुद को पण्डित माननेवाले मूढ़. चारों ओर से अविद्या से घिरे हुए हैं। सच कोई तलाश करना ही नहीं चाहता। मैं ऐसे अन्धों के नेतृत्व में चलकर अन्धा बनकर क्यों भटकूं। इसलिए वह कहीं स्थिर नहीं हो सका।

इसी ऊहापोह में वह एक दिन ब्रह्म समाज का सदस्य बन गया। उसके साथ कुछ मित्र भी थे। वह सत्यान्वेषी दृष्टि से ब्रह्म आचार्यों का उपदेश ग्रहण करने लगा। उसने ब्रह्म समाज के नक्षत्र महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशव बाबू से मिलने का मानस बनाया ताकि अपनी शंकाओं के विषय में उनसे तात्विक विवेचना कर सके। लेकिन मित्र ब्रजेन्द्र बाबू ने अपना सुझाव दिया।

"इन प्रकाण्ड पण्डितों से मिलने से पूर्व तुम ब्रह्म समाज के जन्मदाता राजा राममोहन राय के क्रियाकलाप एवं विचारधारा से तो परिचित हो लो। वे क्यों ब्रह्म समाज की स्थापना की ओर उन्मुख हुए, इसका कारण जानना बहुत आवश्यक है।"

"तुम्हारी पहली बात तो मैं मानता हूं, किन्तु दूसरी बात का सीधा-सादा उत्तर है। इसके लिए हमें 18वीं सदी की धार्मिक स्थिति का विश्लेषण करना होगा।

"इसका उत्तर भी कोई स्पष्ट नहीं है। 18वीं सदी में भारत की दोनों महान जातियों यानी हिन्दू और मुसलमानों के वंशधर, धार्मिक, सामाजिक दृष्टि से पतन के कगार पर थे। मुगल साम्राज्य की शान का प्रतीक मयूर सिंहासन लुट चुका था। दूसरी ओर उस समय की प्रबल हिन्दू शक्ति मराठा जाति के रूप में उभर कर सामने आई, पर वे अपनी शक्ति और गौरव को सम्भाल नहीं सके, फलस्वरूप अंग्रेजी शासक प्रकट हुए। उधर सिक्खों की शान भी डूब चुकी थी। इसलिए सभी अपने नए गोरे शासक के सम्मुख नतमस्तक हो गए।"

"ऐसा ही 12वीं सदी में भी हुआ था, जब हिन्दू और बौद्ध इस्लामी शासकों के सामने झुके थे।"

"अब तुम खुद अनुमान लगा लो। जो जाति अपने गौरव, सम्मान और राज्य की रक्षा नहीं कर सकती, वह क्या खाकर अपने समाज और धर्म की रक्षा करेगी।"

"नहीं, ब्रजेन्द्र ऐसा न कहो। अपनी सभ्यता और संस्कृति तथा धर्म का मूल्यांकन हम केवल कुछ सदियों के काल खण्ड के आधार पर नहीं कर सकते ?"

"तुम धर्म का पाखण्ड नहीं देख रहे हो ? तुम जिस सभ्यता, संस्कृति और धर्म की बात कर रहे हो, वह है कहीं इस वक्त ?"

"वह है, इस वक्त भी है। वह खत्म हो ही नहीं सकती। हमें नहीं भूलना चाहिए कि हिन्दू जाति प्रबल थपेड़े सहने के बावजूद भी अपनी जातीय विशिष्टता को बनाए हुए है। हां, यह जरूर है कि इस्लामी शिक्षा और सभ्यता से बचाव के लिए हमने जो रक्षा प्रणाली अपनाई थी, वह अंग्रेजों द्वारा दी जा रही निषेधात्मक शिक्षा और सभ्यता से हमारा बचाव नहीं कर पा रही है। हमारी वह रक्षात्मक प्रणाली कारगर सिद्ध नहीं हो पा रही है। मैं इसका एक कारण मानता हूं।"

"केवल एक ?"

"बिलकुल, केवल एक।"

"लेकिन मैं इसके कई कारण मानता हूं। हमारी अर्थ चाहना, हमारी झूठी शानो-शौकत दिखाने का लोभ, नवीन शिक्षा और सभ्यता की ओर जाने की ललक, पराधीनता में भी सुख अनुभव करने की अनुभूति, कुसंस्कारों के प्रति निरपेक्ष भावना

....कितने ही कारण हैं, जिनसे हम आत्मविस्मृत हो रहे हैं। ऐसी दीन अवस्था में कौन-सा एक कारण मानें, जिससे हमारी रक्षात्मक प्रणाली ठप्प हो रही है; और हम पतन की ओर जाने से नहीं बच पा रहे हैं ?"

"ब्रजेन्द्र, इन्सान की एक सबसे बड़ी कमजोरी होती है कि वह पराजित होकर विजयी की सम्मोहन शक्ति में कैद हो जाता है। ऐसे वक्त में पराजित व्यक्ति या जाति को सम्मोहन की कारा से मुक्त करवाने के लिए सुधारकों को आगे आना चाहिए।"

"ऐसे कई सुधारक हुए तो हैं किन्तु ये मुर्दों में जान कहां फूंक सके। इस असमर्थ हिन्दू कौम को अपने पैरों पर खड़ा कर सकना बेहद कठिन है। मुझे दुःख तो इस बात का है कि इस विषय में सबसे अधिक असमर्थ हमारा बंग देश हुआ है। जिस गति से बंगालियों ने पाश्चात्य शिक्षा और सभ्यता ओढ़ी है, वह अद्‌भुत और लज्जाजनक है। अन्य कोई भी प्रान्त विदेशी संस्कारों को अपनाने में इतना असंयत और अमर्यादित नहीं हुआ। आज देख लो, कलकत्ता क्या था; और क्या हो गया है ? यह नवप्रतिष्ठित राजधानी क्या बनी, कि हमारा सब कुछ बहा ले गई। विदेशी सभ्यता और संस्कृति की नकल की होड़ में बंगाली समाज पागल हुआ जा रहा है। बेचारे बूढ़े लोग अपने पुश्तैनी संस्कारों को जरूर अपनाए हुए हैं, लेकिन भावी पीढ़ी की उच्छृंखलता के आगे ये कब तक टिकेंगे ?"

"ब्रजेन्द्र, मैं तुम्हारी बातों को स्वीकार करता हूं, किन्तु मेरा अपना मत है, कि यह जो कुछ हो रहा है, हमारे धर्म प्रचारकों और समाज सुधारकों की असक्षमता के कारण हो रहा है।"

"वह तो है ही, अन्यथा अंग्रेजों की क्या मजाल थी कि वे यहां ईसाईयत का प्रचार कर सकते। वे एक पत्थर से दो शिकार कर रहे हैं। पाश्चात्य शिक्षा के साथ ईसाई-धर्म का प्रचार भी कर रहे हैं। तुम अपने आसपास नजर दौड़ाओ। है कोई मिशनरी, जो शुद्ध हृदय से शिक्षा-दान कर रहा हो ? उन्होंने जगह-जगह स्कूलें खोली हैं, क्योंकि उन्हें शिक्षा के माध्यम से हमारे बच्चों को न केवल राष्ट्रीय सभ्यता और संस्कृति से दूर करना है, अपितु धर्मच्युत भी करना है।"

"सभी तो ऐसे नहीं हैं, ब्रजेन्द्र। आधुनिक शिक्षा के जन्मदाता मिस्टर डेविड हेअर ने अपना सारा जीवन केवल शिक्षा प्रसार में ही लगाया था।"

"ऐसे लोगों को तुम उंगलियों पर गिन सकते हो।"

"चलो तुम्हारी बात मान ली। लेकिन इसमें ईसाई प्रचारकों का क्या दोष है ? दोष है, हमारे धर्म प्रचारकों का। वे हिन्दू-धर्म के विषय में कुछ जानते ही नहीं हैं।

अन्य धर्मों के विषय में वे शून्य हैं। इस स्थिति में वे कैसे अपने धर्म को श्रेष्ठ सिद्ध कर सकते हैं ? यही कारण है कि हम ग्रीवा झुकाकर अपने धर्म की निन्दा सुनते हैं। असलियत यह है कि हम अपने समाज के कुसंस्कारों, गलत रीति-रिवाजों और कुछ तयशुदा नियमों के पालन को धर्म मान बैठे हैं। आज हमारी सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि हमें हिन्दू-धर्म की सही व्याख्या करनी है; और निडरता से इसके सच्चे स्वरूप को जनता के सम्मुख प्रकट करना है।"

"इस सत्य की खोज करना अति दुश्वर कार्य है।"

"मेरी यही दिशा है।" वह दृढ़ स्वर में बोला।

"तो तुम निश्चित दिशा पाओगे।"

"ब्रजेन्द्र, मेरी आत्मा बहुत कुंठित है। मैं अभी तक जहां-जहां भी गया हूं, मैंने मात्र धर्म का आडम्बर ही देखा है, ईश्वर के नाम पर धोखाधड़ी ही पाई है। अपने कर्म से लोग च्युत हो गए हैं, सो धर्म कहां होगा। ब्राह्मणों को ही देखो न। कितने हैं, जो न्याय शास्त्र, स्मृतिशास्त्र, वेद-वेदान्त, पुराण-उपनिषदों पर चर्चा करते हैं ? बंगभूमि से ये सब बातें काफूर हो गई लगती हैं। धर्म को अर्थोपार्जन बना दिया गया है। आज हमारा काम बुलबुल लड़ाना, पतंगें उड़ाना या उप-पत्नियों के साथ आनन्द करना रह गया है, बस।"

"समाज के इसी पतन से तो राजा राममोहन राय दुःखी हुए थे। उन्होंने ब्रह्म समाज की स्थापना की। लेकिन उससे हुआ क्या ? मुझे तो कोई सुधार नजर नहीं आया।"

"तुम निष्कर्ष बहुत जल्दी निकाल लेते हो।"

"चावलों की पकी हुई पतीली का एक चावल उसका कच्चा और पक्कापन बता देता है।"

"धर्म के मामले में यह सोच गलत है। धर्म ही क्या, मैं तो हर बात और चीज की तह में जाकर किसी निष्कर्ष पर पहुंचने के सिद्धान्त का पालन करता हूं। अब देखो, मैं ब्रह्म समाज की ओर उन्मुख हुआ हूं, पर एकदम कैसे कह दूं कि यह अच्छा है या बुरा।" दोनों मित्रों ने चर्चा समाप्त की।

वह अपने इसी सिद्धान्त को लेकर ब्रह्म समाज में पैठ करने लगा। राजा राममोहन राय के जीवनवृत से वह बहुत प्रभावित हुआ। राममोहन राय ने किसी एक निष्कर्ष पर पहुंचने से पूर्व अरबी, फारसी सीखी। कुरान, यूक्लिड, अरस्तु आदि का अध्ययन किया। संस्कृत भाषा सीखकर वेदान्त का अध्ययन किया। प्रचलित धर्म की आलोचना करके एवं मूर्ति पूजा का विरोध कर, उन्होंने विच्छु छोड़ दिया। इसके

परिणामस्वरूप वे पिता एवं स्वजनों द्वारा बहिष्कृत कर दिए गए। एक धनी और ब्राह्मण युवक के लिए यह झटका प्रबल था। लेकिन सत्य के मार्ग पर चलने वाले लोग इन छोटी-मोटी विपत्तियों से घबराते नहीं हैं। राय ने कलकत्ते आकर अंग्रेजी, लैटिन, हिब्रू भाषा सीखकर बाइबिल का सार ज्ञान प्राप्त किया। विभिन्न धार्मिक तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करके उन्होंने समालोचनात्मक रुख अपनाया। उस समय यह एक आश्चर्य था।

सन् 1803 में राय पिता की मृत्यु के बाद पुनः परिवार में सम्मिलित हो गए। 1814 ई० में उन्होंने कलकत्ते में 'आत्मीय सभा' नाम से एक समिति का निर्माण किया और अपना ध्यान हिन्दू-धर्म के कुसंस्कारों तथा युक्ति विरुद्ध मतवादों के विरोधार्थ केन्द्रित कर दिया। ईसाई-धर्म और मिशनरियों द्वारा प्रचारित मतवादों की भ्रमात्मक सोच के छिलके भी उन्होंने उतारने शुरू कर दिए। उनके 'एकेश्वरवाद' का आधार था वेदान्त दर्शन। उन्होंने जब वेदान्त दर्शन का प्रचार-प्रसार किया तो पोंगा पण्डित और मिशनरी दोनों उनके दुश्मन बन गए। ईसाईयों द्वारा हिन्दुओं के धर्म और दर्शन की गलत व्याख्याएं कर फैलाए गए भ्रम टूटने लगे। अकेले राममोहन सिंह सदृश मिशनरियों और छद्म हिन्दू धर्मावलंबियों के सम्मुख शास्त्र और युक्ति लेकर डट गए।

समाज की जड़ता और भ्रामक अवस्था में कुछ हलचल मचने लगी। राजा ने शिक्षा, राजनीति, बंगला भाषा, बंग साहित्य, समाज और धर्म की नींद उचाटनी शुरू कर दी। जातिप्रथा, मूर्तिपूजा, सतीप्रथा और अन्य जातिगत कुसंस्कारों से बंधे लोग छटपटाने लगे मुक्ति के लिए। लार्ड विलियम बेन्टिक ने राजा राममोहन के विचारों में एकदम उचित मानते हुए सतीप्रथा के विरुद्ध कानून बना दिया। गंगा सागर में सन्तान फेंकने की प्रथा भी बंद कर दी गई। तत्कालीन हिन्दू समाज और सर राधाकान्त गला फाड़-फाड़कर चिल्लाने लगे, 'हिन्दू-धर्म' भ्रष्ट हो गया है।' इससे एक लाभ हुआ कि जिन शास्त्रों को लोग भूल चुके थे, अब उनकी चर्चा होने लगी।

नरेन्द्र ने राजा राममोहन राय के विचारों और कार्यप्रणाली का गहन अध्ययन किया और फिर एक दिन वह महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के सम्मुख उपस्थित हो गया। महर्षि उन दिनों गंगाजी में तैरती एक नौका में रहा करते थे। नौका लहरों की गति के साथ नृत्य कर रही थी किन्तु नरेन्द्र अपना संतुलन बनाकर, पैर जमाकर खड़ा था। वह चुप खड़ा था पर उसकी जिज्ञासाएं उसके नेत्रों में कौंध रही थीं। महर्षि ने जब अपने सम्मुख एक कांतिमय युवक को ग्रीवा ऊंची किए, आंखों मे स्वाभिमान की भावना लिए देखा, तो वे आश्चर्यचकित हुए। उन्होंने शान्त, निश्छल स्वर में

पूछा—"युवक कैसे आए ?"

"आपसे मिलने।"

"क्यों, क्या बात है ?"

"कुछ जिज्ञासाएं हैं, उनका समाधान आपसे चाहता हूं।"

"बेटे, तुम पहले बैठो।"

वह बैठ गया। महर्षि पुनः बोले।

"अब अपनी बात कहो।"

"मैंने राजा राममोहन राय की भावभूमि को स्पर्श करने की कोशिश की है।"

"अच्छा, क्या कुछ जाना इस बारे में ?"

"आत्मा और परमात्मा के अभेद-चिंतन रूप की उपासना की बात को समझने की ओर कुछ बढ़ा हूं। मेरे विचार में राजाजी का प्रयास उनके ठोस ज्ञान और अनुभूति पर आधारित था। उन्होंने तालाब में जो कंकड़ियां फेंकी हैं, उनका असर तो हुआ ही है। देश को जाग्रत करने की उनकी कोशिश पूर्ण सफल नहीं हुई तो असफल भी नहीं कही जा सकती। कम से कम शुरुआत तो हुई। आपने भी ब्रह्म-धर्म की दीक्षा ली है। दीक्षा ही नहीं, इस क्षेत्र में आप काम भी कर रहे हैं।"

"मेरे विषय में कुछ जाना ?"

"जानने का प्रयास किया है। आपके ब्रह्म-धर्म और राममोहनजी के ब्रह्म-धर्म में काफी अन्तर है। इसका कारण यह है कि आपने शास्त्र प्रमाणों को पूर्णरूप से ठुकरा दिया।"

"हां, राजाजी ने शास्त्रों की प्रामाणिकता का पूर्ण बहिष्कार नहीं किया था। मैंने धर्माधर्म की मीमांसा का सबूत वेदों को नहीं बल्कि व्यक्तिगत विचार बुद्धि को माना है।"

"आपने सिद्धि प्राप्त करने के लिए गुरु को आवश्यक नहीं समझा।"

"जिस व्यक्ति की प्रत्यक्ष आत्मशक्ति कमजोर होगी, वही गुरु की तलाश करेगा।"

"लेकिन महर्षि, क्या सभी आप जैसी सशक्त आत्मशक्ति के स्वामी होंगे ? आत्मशक्ति जगाने के लिए गुरु की जरूरत तो पड़ेगी ही।"

"मैंने वेदान्त द्वारा प्रतिपादित धर्म को ब्रह्म-धर्म का आधार नहीं माना। इसीलिए गुरु की अवधारणा से मैं सहमत नहीं हूं। मेरा ब्रह्मधर्म स्वानुभूत प्रतिपाद्य धर्म है। सो इसमें गुरु की आवश्यकता नहीं है।"

"आपने अपने धर्म में उपनिषदों की कुछ श्रुतियां स्वीकार की हैं ? उसका आधार बताने का आप कष्ट करेंगे ?"

"मुझे जो श्रुतियां सही लगीं, उन्हें मैंने कांट-छांटकर अपने ब्रह्म-धर्म के ग्रन्थों में शामिल कर लिया।"

"महर्षि, मैं आपके ज्ञान और अनुभव के समक्ष अभी बहुत क्षीण हूं। लेकिन एक सवाल आपसे करना चाहता हूं।"

"पूछो....जरूर पूछो।"

"जिन श्रुतियों को आपने ग्रहण किया है और जिन्हें छोड़ा है, उसका आधार क्या गहन अनुसंधान नहीं होना चाहिए था ? हमारे ऋषियों ने सत्य के रूप में क्या किया, क्या जाना था, इसकी जांच-पड़ताल किए बिना, श्रुतियों से छेड़छाड़ कैसे की जा सकती है ?"

महर्षि समझ गए कि उनके सामने जो युवक खड़ा है, वह साधारण नहीं है। वे निरपेक्ष भाव से बोले—"मेरे द्वारा लिखे गए ग्रन्थों में मेरे विचार हैं। मैंने अपने विवेक और विचार से जो सत्य समझा, वह सिद्ध किया।"

वह समझ गया कि जोड़ासांकों के ठाकुर चर्चा से बचना चाहते हैं। उनकी ब्रह्म-धर्म की प्रचार शैली तर्कवाद और बुद्धिवाद पर केन्द्रित है। उनके अन्यतम साथी अक्षयकुमार दत्त और राजनारायण बसु अपनी तर्कपूर्ण बातों से जनता को आकर्षित करते तथा महर्षि अपनी धन शक्ति से उनकी सहायता करते। वह सोचता जा रहा था कि महर्षि ने धीर-गम्भीर में कहा—"बेटे, मैं तुम में भविष्य की आशा देख रहा हूं। मेरे ब्रह्म समाज का सीधा-सादा एक उद्देश्य है—हिन्दू समाज के साथ मिलकर चलते हुए अपने नए धर्म का प्रचार करना। तुमने पता लगा लिया होगा कि कैसे मेरे धर्म और समाज के प्रति अनर्गल बातों की बाढ़ को मैंने अपनी पत्रिका 'तत्त्व बोधिनी' के माध्यम से रोका। हमारे लोग बिना सोचे-समझे ईसाई बनते जा रहे थे।"

"महर्षि, यह तो मैं जानता हूं कि आप ईसाईयत के विरुद्ध एक सशक्त प्राचीर बनकर खड़े हैं। आपने वेदान्त युद्ध का मार्ग प्रशस्त किया था। लेकिन वेदों की अपौरुषेयता के सिद्धान्त को आपने एकाएक क्यों त्याग दिया ? यदि आपके पास इसका कोई ठोस कारण हो तो कृपया मुझे भी बताएं ताकि मेरे सत्य और असत्य का वह आधार बन सके।"

महर्षि कुछ क्षण शान्त रहे और फिर उसके मुख पर अपनी दृष्टि टिकाते हुए बोले—"तुम तो काफी गहरे में उतर रहे हो ?"

"सत्य के अन्वेषण के लिए यह जरूरी है। आपने अभी कहा था कि आपके धर्म का लक्ष्य हिन्दू-धर्म से मिलकर चलना है, किन्तु आज की हालत में तो ब्रह्म-धर्म,

हिन्दू-धर्म से दूर हो गया है। मैं तो हिन्दू-धर्म का आधार ही वेदों को मानता हूं।"

"तुम अति जिज्ञासु हो ? तुम्हारी आंखों को देखकर लगता है कि तुम योगी हो ?" महर्षि मुस्कराए।

"आप मेरी मदद कीजिए न ? मैं जानना चाहता हूं कि इस सृष्टि का संचालन कौन कर रहा है ? उससे कैसे मिला जाए ? वह रहता कहां है ? वह एक है या अनेक हैं ?"

"रास्ता स्वयं खोजना पड़ता है।"

"महर्षि, मैं आपसे एक अन्तिम प्रश्न और करना चाहूंगा।"

"जरूर, करो।"

"आपने ब्रह्म-धर्म को सजाया-संवारा है। मेरी दृष्टि में प्रत्येक धर्म का चरम लक्ष्य ईश्वर प्राप्ति होती है। आपने ईश्वर की अनुभूति की है, उसे देखा है ?"

"नहीं।"

महर्षि का उत्तर सुनकर, वह उठा और उन्हें प्रणाम कर बाहर आ गया। भटकन और जिज्ञासा का फिर से उसके सम्मुख समुद्र लहराने लगा। उसे मालूम था कि महर्षि ने अक्षयकुमार दत्त और राजनारायण बसु के कहने से राजा राममोहन राय द्वारा प्रतिपादित वेदान्त युद्ध के प्रांगण से अपने पैर वापस खींच लिए थे, और ब्रह्म-धर्म को एक अलग मार्ग पर ले चले थे। इसलिए वे उसे संतुष्ट नहीं कर सके थे। वह बुदबुदाया—"मुझे सत्य की ओर कौन ले जाएगा ? मुझे कौन उस सत्ता के दर्शन करवा सकेगा, जिसके हाथों में जीवन और मृत्यु है ? सुख और दुःख है ?"

उसने यह सारी घटना अपने परम मित्र ब्रजेन्द्र को सुनाई और अपने मन के भावों को प्रकट करते हुए बोला—"ब्रजेन्द्र, राजा राममोहन राय की कीर्ति के मैं तीन स्तम्भ मानता हूं। उनका वेदान्त ग्रहण, स्वदेश प्रेम प्रचार तथा हिन्दू-मुसलमान के समान स्नेह की भावना मुझे अच्छी लगी।"

"लेकिन, उन्होंने पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली को जमाने में जो सहयोग दिया, उसे क्या कहोगे ?"

"यह उनका दृष्टि दोष नहीं था। दोष था हमारे शिक्षकों का जो भावी पीढ़ी को कुसंस्कारों की ओर ले गए। यदि वे शिक्षक ऊंचे आदर्शयुक्त होते तो विद्यार्थियों का पतन कभी नहीं होता।"

"तुम्हारी इस बात को तो मैं मानता हूं। अब तुम सही बिन्दु पर आ रहे हो। तुम्हें याद है, इससे पहले तुमने कहा था कि राजा राममोहन राय के सुधार आंदोलन से कुछ नहीं हुआ। उन्होंने शायद पाश्चात्य शिक्षा का समर्थन इसलिए किया था कि

हम प्रगति के साथ कदम से कदम बढ़ाकर चल सकें, अपने बुद्धिबल को इतना समर्थ कर सकें ताकि वेदान्त दर्शन एवं अद्वैतवाद की तुलना पाश्चात्य धर्म से कर सकें। लेकिन हुआ उल्टा। हम धार्मिक सूक्ष्मता की ओर तो बढ़े नहीं। हां पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षा हमें स्वेच्छाचारिता की ओर जरूर ले गई। इसकी कल्पना शायद राजाजी को भी नहीं रही होगी। अपने अन्तिम दिनों में कलकत्तावासियों को उच्छृंखल पाश्चात्य शिक्षा और सभ्यता में लिपटे देखकर उन्हें दुःख हुआ था।"

"इतना महान व्यक्ति ऐमी बड़ी भूल क्यों कर गया कि संस्थाओं के साथ गुरु के महत्व को भूल गया ?"

"हो सकता है, अपनी व्यस्तता में उन्हें यह बात ध्यान में न रही हो। या फिर उन्हें अपनी विचारधारा के लोग न मिल पाए हों, जिन्हें वे शिक्षकत्व सम्भालने के लिए कहते।"

"ब्रजेन्द्र, मैं इस बात से हटकर एक अन्य बात पर आ रहा हूं। हमारी विचारधारा यदि सत्य पर आधारित है तो गुरु और शिष्य में मतभेद नहीं हो सकते। राजाजी ने एक अच्छी शुरुआत की, किन्तु उनके अनुयायियों ने मार्ग क्यों बदल लिया ? इससे सिद्ध होता है कि उनके द्वारा चलाए गए ब्रह्म-धर्म में निश्चित ही छिद्र रहे होंगे ? यही बात देवेन्द्रनाथजी के साथ हुई। उनके शिष्य केशवचन्द्र सेन ने महर्षि के ब्रह्म-धर्म को मानने से इन्कार कर दिया; और भारतवर्षीय ब्रह्म समाज की स्थापना कर ली। यदि इस प्रकार होता रहा, तो ब्रह्म समाज का प्रभाव ही खत्म हो जाएगा।"

"नरेन्द्र, क्या यह नहीं हो सकता कि उनके अनुयायी उनके विचारों, उनके मन्तव्यों, उनके सिद्धान्तों से छिटक गए हों। बौद्ध-धर्म, जैन-धर्म, ईसाई या अन्य किसी धर्म की ही बात लो, क्या यह मूल धर्म से अलग-थलग नहीं जा पड़ा है ? जानते हो, ऐसा क्यों हुआ है ? क्योंकि हमने शिक्षा को धर्म से अलग कर दिया। राजाजी ने पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली को स्वीकारा, कोई बुरा नहीं किया, पर वे अगर शाश्वत हिन्दू-धर्म को इस शिक्षा में शामिल कर लेते, तो शायद समाज उच्छृंखल न होता।"

"इस बात को तो अभी के ब्रह्म धर्माचार्य भी कहां समझ रहे हैं। उन्होंने तो उल्टे इसे वैदिक धर्म से और अलग कर दिया है। मैं तो यहां भी कोई सार नहीं पा रहा हूं।"

"लगे रहो....कभी तो किनारा आएगा।" ब्रजेन्द्र हंसा।

वह किनारे की तलाश में जुटा रहा। उसने ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के

क्रियाकलापों पर भी दृष्टि डाली। बंग देश के इस समाज सुधारक की जिजीविषा और समर्पण भावना से वह प्रभावित हुआ। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ही थे जिन्होंने उस समय की सामाजिक कुरीति पर प्रहार किया; और विधवा विवाह को शास्त्रसम्मत प्रमाणित कर दिखाया। उन्हीं के प्रयास से विधवा विवाह कानून के रूप में परिणत हुआ। वह उनके पौरुपत्व और कर्मवीरता की प्रशंसा करते न थकता था। लेकिन यहां भी उसे इच्छित ध्रुव सत्य के दर्शन नहीं हुए। उसने अब निर्णय किया कि वह 'भारतवर्षीय ब्रह्म समाज' के अधिष्ठाता केशवचन्द्र सेन से प्रत्यक्ष मिलेगा ताकि धर्म के विषय में उनके विचार जान सके।

इन दिनों केशवचन्द्र सेन अपने पूर्ण उत्कर्ष पर थे। नवयुवक वर्ग उनके प्रखर भाषणों का दीवाना था। वह भी सेन की विद्वता का कायल था, पर सेन ब्रह्म-धर्म को जो मोड़ दे रहे थे, उससे वह सहमत नहीं था।

आखिरकार एक दिन वह सेन से जा टकराया। सेन ने उसे आदर से बिठाया और प्रश्नात्मक मुद्रा से उसे देखने लगे।

"मैं अपने मन में उपजते कुछ संशयों को दूर करने के लिए आपके पास आया हूं।"

"मनुष्य संशय के कारण ही तो कुछ कर नहीं सकता।"

"तभी तो आपके पास आया हूं।"

"तुम अपना संशय व्यक्त करो।"

"मैं इस भ्रम में हूं कि हम धर्म की सच्चाई तक नहीं पहुंच पा रहे हैं, हम भटक रहे हैं।"

"ऐसा क्यों ?"

"मैं धर्म-तत्त्वों की खोज में ब्रह्म-धर्म की ओर उन्मुख हुआ हूं। लेकिन यहां भी भटकन ही देख रहा हूं। राजा राममोहन राय ने इसे जिस रूप में लिया था, महर्षि ने उसे बदल दिया।"

"और महर्षि ने उसे जो रूप दिया है, उसे मैं बदल रहा हूं।" केशव सेन ने उसका वाक्य पूरा किया।

"जी हां, मैं इस परिवर्तन का कारण नहीं समझ पा रहा हूं। ब्रह्म-धर्म को स्थापित हुए अभी इतना समय भी नहीं हुआ है कि हम कह सकें कि यह अपने पथ से भटक गया है।"

"तुमने इस विचलन का क्या अर्थ लगाया है ?"

"मैंने इसका यह अर्थ लगाया है कि हम अंधेरे में हाथ-पैर पटक रहे हैं।"

"नहीं, ऐसी बात नहीं है। मैं एक निश्चित धारणा लेकर चल रहा हूं।"

"लेकिन मैं तो यह पा रहा हूं कि हम बंधे हुए मतवादों पर चल रहे हैं। पूर्णता को प्राप्त करने का यह मार्ग नहीं है। हम जातिवाद का विरोध कर रहे हैं, हम स्त्रियों को धार्मिक कार्यों तथा सामाजिक जीवन में बराबरी का स्थान देने के लिए संघर्ष कर रहे हैं।"

"क्या ये सद्कार्य तुम्हें सत्य की प्राप्ति के साधन नहीं लग रहे हैं ? क्या हम अपने निश्चित उद्देश्यों की ओर नहीं बढ़ रहे हैं ?"

"यह सब ठीक है किन्तु आपके ब्रह्म धर्म में भावावेश में रोने का नाटक करना; और भक्ति के आवेश में आपको 'प्रेरित' पुरुष कहना, प्रार्थना एवं भक्ति को बांधकर चलना तथा ईसाई प्रणाली के अनुसार समाज को ढालने का प्रयास करना आदि कई बातें हैं, जिनसे मैं सहमत नहीं हूं। हम यदि अपने खोए हुए धर्म को खोजें तो सत्य को प्राप्त करने का मार्ग सूझ सकता है, पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव में आकर, अपने धर्म और मान्यताओं को खोकर, हम कैसे पूर्ण उत्कर्ष को प्राप्त कर सकते हैं ?"

"तुम अपने इस सड़े-गले समाज और विकृत हुए धर्म की राख में से सत्य को प्रकट करोगे ?"

"मैं किसी भी धर्म को सड़ा गला नहीं मानता। प्रत्येक धर्म में सार्वभौमिकता है, कुछ श्रेष्ठता है। लेकिन मेरी समझ में इन्हें एक नहीं किया जा सकता। हम चाहें कि हिन्दू-धर्म को संकीर्ण मानकर, भारत में अन्य किसी धर्म की मान्यताओं को स्थापित करें, तो मेरे विचार में यह असम्भव है। देश, काल और परिस्थिति के अनुसार हमें अपने धर्म की अच्छाइयों को खोजकर, बुराइयों के प्रति लोगों को जागृत करना होगा।"

"लेकिन तुम जिस सत्य की तलाश कर रहे हो, क्या वह भी देश, काल और परिस्थिति के अनुसार अलग-अलग है ?"

"वह एक अलग बात है। पूर्ण सत्य एक है। मैं धर्म को सामाजिक सन्दर्भ में ले रहा हूं। आप भी तो इसी आशय को लेकर हिन्दू-धर्म की कुरीतियों का विरोध कर रहे हैं ?"

"युवक, तुमने मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं दिया।"

"आध्यात्मिक दृष्टि से पूर्ण सत्य एक है। मेरा उद्देश्य उसी को पाना है।"

"नरेन्द्र, मैंने जब महर्षि का विरोध इस बात पर किया कि यज्ञोपवीतधारी आचार्यों को अनुष्ठान वेदी पर काम नहीं करने देना चाहिए, तो वे नाराज हो गए।

मैंने यूरोप की ईसाई प्रणाली में अपने समाज को ढालने का कार्य शुरू किया है। असवर्ण विवाह की प्रथा भी मैंने आरम्भ करवाने की कोशिश की है। इन सब बातों को महर्षि ने पसन्द नहीं किया, क्यों ? क्या मैं सत्य की ओर उन्मुख नहीं हूं। मैं अपने विकृत समाज पर प्रहार कर रहा हूं। इसके लिए मैं यदि ईसाईयत का सहारा ले रहा हूं, तो क्या बुरा कर रहा हूं ? पापबोध, पापभय, पश्चात्ताप आदि क्या आध्यात्मिक उन्नति में सहायक नहीं हैं ? यदि हमें अपने पाप की अनुभूति हो और हम सच्चे हृदय से पश्चात्ताप करें, तो भावावेश में आंसू बहाने लगते हैं; और हृदय निर्मल हो जाता है। क्या यह तुम्हारे पूर्ण सत्य को पाने का रास्ता नहीं है ?"

"मैं आपकी बात को काट नहीं सकता। लेकिन मैं फिर भी अपने इस विचार पर अटल हूं कि भारतीय समाज का भला मिश्रित धर्मानुराग से नहीं होने का। हमें आध्यात्मिक श्रेष्ठता प्राप्त करने के लिए वैदिक हिन्दू-धर्म का अन्वेषण करना होगा। अपने इसी धर्म से हम भारतीय समाज को मानवीय मूल्यों से युक्त कर पाएंगे। भावावेश में आकर रोने से क्या होगा ? वैसे यह भी साधना की एक युक्ति हो सकती है। लेकिन पाप है क्या ? पुण्य क्या है ? इस पाप और पुण्य का नियामक कौन है ? निर्मल हृदय का स्वामी कौन है ? वह कहां रहता है ? उसका रूप क्या है ? हमें जब तक इन बातों के रहस्य का पता न लग जाए, तब तक हमारा हृदय पूर्ण निर्मल नहीं हो सकता। फिर चाहे महर्षि का 'आदि समाज' हो, चाहे आपका 'भारतवर्षीय ब्रह्म समाज' हो और चाहे राममोहनजी का 'ब्रह्म-धर्म' हो।"

केशवसेन के मन में इस असाधारण नवयुवक की बातें बैठ रही थीं। वे चिंतनयुक्त मुद्रा में बोले—"नरेन्द्र, मेरा उद्देश्य समाज सुधार का है।"

"मैं आपकी बात मानता हूं आचार्य प्रवर। लेकिन निराकार ब्रह्म के ढोंगी उपासक आपके विरोध में 'हरिसभा', 'धर्मसभा' आदि की स्थापना कर रहे हैं।"

"मैं जानता हूं। वे यह सब 'हिन्दुत्व' की रक्षा के नाम पर कर रहे हैं ताकि उन्हें भरपेट भोजन और दान-दक्षिणा मिलती रहे। मैं 'हिन्दुत्व' के इसी ढोंग का प्रबल विरोध कर रहा हूं। इसी बात पर मुझे अपने गुरुदेव (महर्षि) के विरोध में खड़ा होना पड़ा, और 'भारतवर्षीय ब्रह्म समाज' की स्थापना करनी पड़ी।" केशवसेन का स्वर निक्त हो उठा।

"आप मुझे क्षमा करें। मेरा मत यह है कि यह सामाजिक विरोध आपके मिश्रित धर्मानुराग से हो रहा है। मेरे विचार में सबसे सरल रास्ता है 'हिन्दुत्व' की सही व्याख्या और 'हिन्दू-धर्म' का सही प्रचार-प्रसार। इससे पाखण्डी धर्मानुयायी स्वतः ही ध्वस्त हो जाएंगे। मैं इसके लिए ही उस 'पूर्ण सत्य' की तलाश में हूं,

जिसका कोई विरोध ही नहीं हो। मैं जब उस 'सत्य' को पा लूंगा, उसकी अनुभूति कर लूंगा तो मेरे सम्मुख झूठ और पाखण्ड खुद-ब-खुद समर्पण कर देंगे।"

केशवसेन उसका प्रतिवाद नहीं कर पाए। उनके मुंह से इतना ही निकला—"तुम्हें तुम्हारा लक्ष्य प्राप्त हो।"

नरेन्द्र उस समय के धुरंधर भाषणकर्त्ता और प्रखर समाज सुधारक के पास से भी लौट आया। वह जिसकी तलाश में था, उसका अभी अता-पता ही नहीं था।

आचार्य बिले को जाता देख रहे थे और विचार रहे थे कि काश ! उन्हें ऐसे प्रखर और तेजस्वी व्यक्तित्व वाले दस युवक मिल जाते, तो वे कट्टरपंथियों को नाकों चने चबवा देते। वे सुधार आंदोलनों की क्रिया-प्रतिक्रिया को अश्लीलता की ओर जाते देख दुःखी थे। कट्टरपंथी दल अश्लील साहित्यिक विधाओं द्वारा केशव के धार्मिक अनुराग का प्रतिवाद कर रहे थे। वे धर्म के इस रूप को देखकर खिन्न थे। धर्म के नाम पर समाज भ्रष्टाचार और दुश्चरित्रता का घर बनता जा रहा था। उन्हें नरेन्द्र के रूप में प्रकाश की एक किरण दिख रही थी। उन्होंने अपने मन-ही-मन में प्रश्नोत्तर का क्रम शुरू कर दिया।

"धर्म के पाखण्डी इस नवयुवक को सत्य की ओर प्रेरित होने देंगे ?"

"इस नवयुवक के व्यक्तित्व से लगता है कि यह आंधी बनकर पाखंडियों के आडम्बर को तहस-नहस करने की क्षमता रखता है।"

"अकबर जैसा महान शासक अपने इच्छित धर्म को स्थापित नहीं कर पाया तो यह बेचारा तो साधारण परिवार का दीपक है।"

"नहीं, यह बेचारा नहीं है। इसके उदात्त विचार हैं। जब बोलता है तो लगता है कि मानो समुद्र गर्जन कर रहा है। कितना प्रभाव है इसकी वाणी में। लेकिन मुझसे और मेरी धार्मिक विचारधारा से वह प्रभावित नहीं हो पाया। वह यदि हिन्दू कट्टरपन्थियों के विरूद्ध है, तो ईसाइयों की धर्मप्रीति को भी तो नहीं मानता।"

"यह तो अपनी-अपनी सोच है।"

"हां, उसकी सोच का दायरा विस्तृत हो सकता है। मैं ईसाई प्रणाली से प्रभावित हूं। उसे भी तो स्वतंत्रता है कि वह धर्म की किसी भी प्रणाली से प्रभावित हो। इसमें बुरा क्या है ?"

"लेकिन मैं उसे प्रभावित नहीं कर पाया।"

"मैं उसके सवालों का उत्तर भी नहीं दे सका थे।"

"मैं तो अपने को प्रखर मानता था।"

"यही मेरी भूल थी।"

"भूल ?"

"हां, भूल।"

"कोरी विद्वता और आध्यात्मिक ज्ञान में अन्तर है।"

"हां, तभी तो वह पूर्णता की बात कर रहा था।"

"पूर्णता पर तो मैंने कभी सोचा भी नहीं।"

"मैं सोचता भी कैसे ? मैं तो धर्म के ऊपरी रूप यानी शब्दिक ज्ञान पर टिके धर्म में लिपटा हुआ हूं।"

"सही है, तुम सही कह रहे हो।" केशव ने अचेतनता के आगे हथियार डाल दिए।

नरेन्द्र की स्थिति भी कुछ ऐसी ही थी। सोच-विचार में खोया वह ब्रजेन्द्र के घर की ओर बढ़ रहा था। वह जब मित्र के घर में पहुंचा तो ब्रजेन्द्र उसके उलझन भरे मुख की ओर देखते हुए बोला—"क्या बात है, थके हुए नजर आ रहे हो ?"

"थका नहीं हूं, उलझन में हूं।"

"इस उलझन से कभी मुक्त भी होगे ?"

"मुक्ति के लिए ही तो छटपटा रहा हूं। मैं केशवजी के पास गया था....चर्चा हुई....संतुष्टि नहीं मिल पाई।"

"असली बात यह है कि तुमसे तुम्हारी विचारधारा का कोई व्यक्ति नहीं टकरा पा रहा है जो तुमसे इक्कीस हो।"

"मैं जल पीना चाहूंगा।"

"जरूर।"

ब्रजेन्द्र स्वयं जल से भरा लोटा ले आया। नरेन्द्र गटागट जल पी गए।

"तृप्ति हुई ?" ब्रजेन्द्र ने पूछा।

नरेन्द्र मुस्कराया और बोला—"तृप्ति....कभी होती है ?"

"नहीं।" ब्रजेन्द्र ने कहा।

तृप्ति नरेन्द्र को आज विवेकानन्द बनकर भी नहीं हुई थी। नरेन्द्र विवेकानन्द की काया में प्रविष्ट हो चुका था। वे उठकर खिड़की तक आए। सर्द रात थी। उन्होंने खिड़की खोल दी। चांद बादलों में तैरता-सा निकल रहा था। स्वामीजी के नेत्र पल भर के लिए विधु पर ठिठके...वे मुस्कराए और बुदबुदाए....भ्रम होता है कि चन्द्रमा गतिशील है; और मेघों को चीरता हुआ निकल रहा है, कुछ ऐसी ही दशा आज हमारी है। हमें भ्रम है कि धर्म हमारे कारण चल रहा है। हम धर्म को चला रहे हैं। हम न हों तो धर्म निःशेष हो जाए। लेकिन हम तो बादलों की तरह बरस कर चले जाते हैं। बादल कम-से-कम धरती के किसी टुकड़े को तृप्त कर जाता है किन्तु हम....

एक लम्बी सांस लेकर वे अपने नित्यकर्म पर जुट गए।

9

स्वामीजी स्नान-ध्यान कर उठे ही थे कि कक्ष में सदानन्द और लाटू ने प्रवेश किया। वे दोनों पालथी मारकर विवेकानन्दजी के सम्मुख बैठ गए। सदानन्द ने कुछ याद-सा करके कहा—"आपने ब्रह्मानन्दजी को पत्र लिख दिया ?"

"मुझे याद है राखाल (ब्रह्मानन्द) के पत्र का उत्तर देना है। कुमारी नोबल (जो बाद में भगिनी निवेदिता बनीं) ने अपने पत्र में हमारे द्वारा खोली जाने वाली मठ की शाखाओं के बाबत कुछ प्रश्न पूछे हैं, जिनका स्पष्टकरण राखाल ने मुझसे चाहा है।"

"लेकिन अभी तक राजा महाराज (ब्रह्मानन्दजी अपने साथियों में इसी नाम से प्रसिद्ध थे) के पास उत्तर पहुंच जाना चाहिए था ?"

"प्लेटो, तुम्हारा आदेश सही है। मैं कुछ लापरवाही कर गया।" विवेकानन्द मुस्कराए।

स्वामीजी दोपहर तक व्यस्त रहे। दिन बीतने पर कुछ विश्राम की घड़ियां मिली तो उन्होंने राखाल को पत्र लिखना आरम्भ किया।

श्रीनगर, कश्मीर
30 सितम्बर, 1897

अभिन्न हृदय,

तुम्हारा प्रेमपूर्ण पत्र मिला एवं मठ से भी पत्र प्राप्त हुआ। शीघ्र पंजाब रवाना हो रहा हूं। विलायत से बुलावा आया है। कुमारी नोबल ने अपने पत्र में जो-जो प्रश्न किए हैं, उनके बारे में मेरे निम्नलिखित उत्तर हैं :-

1. प्रायः सभी शाखा केन्द्र स्थापित किए जा चुके हैं, किन्तु यह अभी आंदोलन का प्रारम्भ मात्र है।

2. सन्यासियों में अधिकांश शिक्षित हैं, जो लोग शिक्षित नहीं हैं उन्हें व्यावहारिक शिक्षा दी जा रही है। किन्तु सद्कार्य के लिए सर्वोपरि निष्कपट स्वार्थशून्यता नितान्त आवश्यक है। तदर्थ अन्यान्य शिक्षाओं की अपेक्षा आध्यात्मिक शिक्षा की ओर ही विशेष ध्यान दिया जाता है।

3. व्यावहारिक शिक्षक वर्ग, जो कि हमारे शिक्षक वर्ग हैं—उनमें अधिकांश

शिक्षक वर्ग हैं। इस समय केवल उन लोगों को हमारी कार्यप्रणाली की शिक्षा देना तथा उनके चरित्र का निर्माण करना आवश्यक है। शिक्षा का उद्देश्य है—उनको विनीत, आज्ञापालक तथा निर्भीक बनाना। हमारी प्रणाली है—सर्वप्रथम गरीबों की शरीर-यात्रा की व्यवस्था करना तथा क्रमशः उन्हें मानसिक उच्चता की ओर अग्रसर करना। अपनी कार्य-सूची के अन्तर्गत 'शिल्प एवं कला' को अभी हम अपने अर्थाभाव के कारण शुरू नहीं कर पा रहे हैं। इस समय जो सीधा-सादा कार्य किया जा सकता है, वह यह है कि भारतवासियों में स्वदेशी वस्तु काम में लाने की भावना जागृत करनी होगी तथा भारत में निर्मित वस्तुएं देश के बाहर बेचने का उपाय करना होगा। इसके लिए बाजार की व्यवस्था की ओर ध्यान देना होगा। यह कार्य ऐसे लोगों के द्वारा होना चाहिए जो दलाल न हों। उन्हें निर्मित सामग्री विक्रय करने से जो लाभ हो, उसे वे कारीगरों के उपकारार्थ व्यय करने हेतु तत्पर हों।

4. जब तक जनता शिक्षा की ओर आकृष्ट न हो जाए, तब तक ही परिव्राजक सन्यासियों के लिए विभिन्न स्थानों में पर्यटन करना आवश्यक होगा। परिव्राजक सन्यासियों के लिए धार्मिक भावना तथा धार्मिक जीवन अन्य सब कार्यों की अपेक्षा अधिक फलदायक माना जाएगा।

5. हमें अपने प्रभाव का विस्तार बिना किसी जातिगत भेदभाव के करना होगा। अभी तक केवल उच्चतम वर्ग में ही कार्य होता रहा है। लेकिन अब हमारे कार्य विभाग ने दुर्भिक्ष सहायता केन्द्रों द्वारा निम्नतर जातियों में कार्य करके अपना प्रभाव जमाने में सफलता प्राप्त की है।

6. प्रायः सभी हिन्दू हमारे कार्य का समर्थन करते हैं, किन्तु वे इस प्रकार के कार्यों में प्रत्यक्ष सहायता प्रदान करने के अभ्यस्त नहीं हैं।

7. हां, एक बात यह भी है कि हम पहले से ही दान तथा अन्यान्य सत्कार्यों में भारत के विभिन्न धर्मावलम्बियों के साथ किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करते हैं।

इन सूत्रों के आधार पर कुमारी नोबल को पत्र लिखना पर्याप्त होगा। योगेन (अमेरिकन डॉ॰ स्ट्रीट जो विवेकानन्द के प्रभाव में आकर स्वामी योगानन्द हुआ) की चिकित्सा में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं होनी चाहिए। आवश्यकता पड़ने पर मूलधन राशि से भी खर्च करना। भवनाथ की पत्नी को क्या तुम देखने गए थे ?

ब्रह्मचारी हरिपद यहां आ सके तो उत्तम होगा। श्री सेवियर जगह के लिए अत्यन्त ही अधीर हो उठे हैं। इसकी व्यवस्था शीघ्र ही हो जाए तो उत्तम है। हरिपद इंजीनियर है, झटपट इस बारे में कुछ कर सकता है। उसे जगह इत्यादि का अच्छा ज्ञान है। देहरादून-मसूरी के समीप ये लोग जगह लेना चाहते हैं, अर्थात् जहां अधिक

सर्दी न हो तथा बारह महीनों रहा जा सके।

अतः इस पत्र को देखते ही हरिपद को श्यामापद मुखोपाध्याय के मकान, मैडीकल हॉल, अम्बाला कैंट आदि पतों पर रवाना कर देना। मैं पंजाब में उतरते ही सेव्हियर को उसके साथ भेज दूंगा। मैं शीघ्र ही पंजाब होता हुआ काठियावाड़-गुजरात न जाकर करांची एवं वहां से राजपूताना के अन्दर होकर नेपाल का चक्कर लगाता हुआ जल्द ही वापस आ रहा हूं। क्या तुलसी (स्वामी निर्मलानन्द) दुर्भिक्ष में कार्य करने के लिए मध्यभारत गया ?

यहां पर हम लोग कुशल हैं। अब पेशाब में शक्कर आने की कोई शिकायत नहीं है। डॉक्टर मिश्रा ने परीक्षा की थी। कभी पेट गरम होने पर पेशाब में गाढ़ेपन की कुछ वृद्धि होती है—बस इतना ही। साधारण स्वास्थ्य बहुत अच्छा है तथा डायबिटीज तो बहुत पहले ही भाग चुका है, अब आगे डरना नहीं है। जब चावल-चीनी इत्यादि के व्यवहार से भी कोई हानि नहीं हुई, तो डर कैसा ? सबसे मेरा आशीर्वाद, प्रणाम तथा प्यार कहना। मुझे समाचार प्राप्त हुआ है कि काली (स्वामी अभेदानन्द) न्यूयार्क पहुंच चुका है, किन्तु उसने कोई पत्र नहीं दिया है। स्टर्डी (विवेकानन्दजी का इंग्लैंड में भक्त बना) ने लिखा है कि काली का कार्य इतना बढ़ गया था कि लोग आश्चर्य करने लगे थे। साथ ही दो-चार अन्य लोगों ने भी उसकी विशेष प्रशंसा में पत्र लिखे हैं। अस्तु अमेरिका में काम चलता रहेगा। शुद्धानन्द तथा उसके भाई को भी हरिपद के साथ भेज देना। वर्तमान दल में से मेरे साथ केवल गुप्ता तथा अच्युत रहेंगे। इति

—विवेकानन्द

वह दिन भी व्यस्त बीता। दोपहर ढलने के बाद स्वामीजी से चर्चा करने के लिए कुछ गणमान्य लोग पधारे। एक गणमान्य व्यक्ति ने स्वामीजी से प्रश्न किया—"स्वामीजी, चरित्र क्या है ?"

"चरित्र को समझने के लिए हमें अपने विचरण के संसारों को टटोलना होगा।"

"मेरी दृष्टि में संसार एक ही है, जिसमें हम निवास कर रहे हैं, चल रहे हैं और फिर रहे हैं। इसके अतिरिक्त और कौन-सा संसार है ?" प्रश्नकर्त्ता के स्वर में व्यंग्य भरा हुआ था।

"संसार दो हैं—भीतरी और बाहरी। हम इन दोनों संसारों में विचरण करते हैं। आप सनातन काल से देखिए मनुष्य ने अपने इन दोनों संसारों में उन्नति की

है, उन्हें सजाया और संवारा है। उसके सम्मुख जब भी बाहरी संसार द्वारा प्रश्न खड़े किए गए; और वह उनका उत्तर न समझ पाया, तो उसने अपने भीतरी संसार में झांका। उसने पाया कि उनका भीतरी संसार उत्कृष्ट, सुन्दर और व्यापक है। मानव प्रकृति है कि वह सुन्दरता की ओर झुकता है। उसने अपने भीतर के संसार की वास्तविकताओं को जानने का प्रयास किया। इसी प्रयास के अन्तर्गत उसने अपने भीतर की दुनिया को नाम दिया—**'अंतश्चेतना'**। वह जब इस अंतश्चतेना जगत में गहरा पैठा तो उसने पाया कि उसके बाह्य जगत और भीतरी जगत की क्रियाओं में क्रम-प्रतिक्रम का सम्बन्ध है। उसकी बाहरी क्रियाओं की छाया उसकी अंतश्चेतना पर पड़ती है। उसने इस छाया को 'संस्कार' नाम से पुकारना शुरू कर दिया। इन्हीं हमारे संस्कारों की समग्रता चरित्र है।"

श्रोता सम्मोहित थे। एक प्रबुद्ध श्रोता ने सवाल किया।

"स्वामीजी, इसका अर्थ यह हुआ कि हमें अपने चरित्र निर्माण के लिए अपनी अंतश्चेतना को समझना आवश्यक है ?"

"बिलकुल आवश्यक है। बिना आंतरिक सम्प्रेषणता को समझे हम चरित्रवान नहीं बन सकते।"

"लेकिन, इस वैज्ञानिक युग में अंतश्चेतना को समझना कौन चाहता है ?" एक अन्य जिज्ञासु ने प्रश्न पूछा।

"वैज्ञानिक अनेक अनुसंधानों के बाद इस तथ्य को स्वीकार कर चुके हैं। रही हमारी बात, हम तो इस तथ्य को वैदिक काल से मानते आ रहे हैं। हां, इस वक्त जरूर एक विशेष काल चल रहा है जिसमें हम भौतिक सुखों के लोभ में अंतश्चेतना को बिसराए हुए हैं, किन्तु मुझे विश्वास है कि हमें ही क्या, पाश्चात्य सभ्यता को भी इस ओर उन्मुख होना पड़ेगा। आप देख रहे हैं न, अंतश्चेतना की पहचान को भूलकर हम आज कितनी और कैसी मनोशारीरिक अस्वस्थता से घिरे हुए हैं ?"

"इसी कारण तो चारों ओर चरित्र का अभाव अनुभव हो रहा है। हम पाश्चात्य सभ्यता अपना कर अपनी पहचान, अपनी अस्मिता और अपना चरित्र खोते जा रहे हैं।" एक श्रोता बोला।

"श्रीमानजी, इससे भी दो कदम आगे बढ़कर कहिए कि पूरा इन्सान ही खोता जा रहा है। चरित्र के बिना इन्सान का महत्त्व क्या है ?" दूसरे श्रोता ने पहले वाले की बात आगे खींची।

"हमें इसी निराशा का तो सामना करना है। यह तभी होगा जब हम खुद जागकर, लोगों को जगाने निकलेंगे।" स्वामीजी ने हस्तक्षेप किया।

"खुद जागना ही तो कठिन है।" एक जिज्ञासु ने शंका प्रकट की।

"आप गलत नहीं कह रहे हैं। खुद को जगा पाना बेहद कठिन है। लेकिन जब तक कठिनाई के दौर से नहीं गुजरेंगे तो जागेंगे कैसे ?"

"आप जागने के लिए कठिनाइयों के किन-किन दौर से गुजरे हैं ?" श्रोताओं में से एक ने पूछा।

"कोई एक कठिनाई नहीं थी।"

"किसी एकाध का वर्णन तो कीजिए।"

स्वामीजी ने कुछ क्षणों के लिए आंखें मूंदी, लगा वे अतीत ढूंढ़ रहे हैं। अधिक समय नहीं लगा, उन्होंने नेत्र खोले।

"सन् 1890 जनवरी की बात है। मैं देश भ्रमण करता हुआ इलाहाबाद की घनी बस्तियों से गुजरा। वाराणसी में मलेरिया से घिरा रहा और फिर जागने-जगाने की ललक में गाजीपुर में आकर ठहरा। श्रीरामकृष्णदेव की कृपा मुझ पर पहले ही हो चुकी थी, किन्तु जागने की सद्इच्छा निरन्तर चली आ रही थी। इसी इच्छा के वश मैं गालीपुर के संत पवहारी बाबा की शरण में पहुंचा। गाजीपुर के विख्यात योगी पवहारी बाबा का निवास स्थान बहुत बड़े बंगले सदृश था। चारों तरफ ऊंची-ऊंची दीवारें थीं। किसी को भीतर जाने की आज्ञा नहीं थी। लोगों से सुना कि अन्दर बगीचे और विशाल भव्य कमरे हैं। बाबा की जब इच्छा होती, दरवाजे पर आकर भीतर से बातचीत करते थे। मैं वहां नित जाता और बंगले की ऊंची-ऊंची दो चिमनियों को काफी देर ताक कर वापस आ जाता।"

"आप खुद महान हैं। बाबा में ऐसा कौन-सा आकर्षण था।" किसी सज्जन ने अपनी जिज्ञासा प्रकट की।

"मैं बाबा की महानता के समक्ष तृणवत हूं। मैंने जब एक बड़े भू-भाग में बाबा की महानता के विषय में सुना, तो कुछ सीख पाने की उत्कट इच्छा ने मुझे उनसे मिलने को प्रेरित किया।"

"आपकी इच्छा पूरी हुई ?"

"उसी प्रसंग पर मैं क्रमशः आ रहा हूं। एक दिन तो भयंकर सर्दी में पूरी रात भर मैं बाबा के बंगले के दरवाजे पर बैठा रहा। लेकिन बाबा का स्वर सुनाई नहीं पड़ा। थककर मैंने वापस वाराणसी लौटने का मानस बनाया। लेकिन उत्कट इच्छा ने कदमों को रोक लिया। मैंने एक प्रयास फिर से किया। श्रीरामकृष्णदेव की कृपा थी। बाबाजी के स्वर तो सुने ही सुने, उनके दर्शनों का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ। इस नास्तिकता के युग में भक्ति एवं योग के संगम को देखकर मैं अभिभूत हो उठा।

पहले ही साक्षात्कार में उनकी दिव्यता ने मुझे प्रभावित कर डाला। मुझे उनसे वह प्रसाद प्राप्त हुआ जो शायद ही किसी को प्राप्त हुआ हो।"

"उस प्रसाद की ऐसी क्या विशेषता थी ?" एक स्वर जागा।

"उन्होंने मुझे शरण देकर कहा कि उनकी इच्छा है कि मैं कुछ दिन उनके पास ठहरूं, वे मेरा कल्याण करेंगे। क्या यह बाबाजी की मुझ पर महती कृपा नहीं थी ?"

"निश्चित थी।" समवेत स्वर गूंजा।

"मैं बाबाजी के सम्पर्क में आया। वे वैष्णव थे। मैंने दीवारों के भीतर जाकर देखा कि अन्दर एक गुफा है। जहां बाबा समाधिस्थ रहते हैं। कई दिनों तक न खाना और न पीना। इसीलिए उनका नाम पवहारी (पवन का आहार करने वाला) पड़ा। उन्होंने मुझे बताया कि एक बार वे 5 साल तक समाधिस्थ रहे। लोगों ने समझा कि बाबा ने शरीर त्याग दिया है। वे अकुला उठे। बाबा की आत्मा ने उनकी व्याकुलता देखी तो पुनः सशरीर उठ आए। उसके बाद उनका लोगों के सामने आने का क्रम बदल गया। अब वे बातचीत द्वार के अन्दर से ही करते हैं।"

"ऐसा उन्होंने क्यों किया ?" जिज्ञासा प्रकट हुई किसी की।

"शायद इसीलिए कि उनकी नश्वर काया के प्रति लोगों का मोह न जागे।"

"आपने उनमें और क्या विशेषता देखी ?"

"उनकी जैसी मीठी वाणी मैंने आज तक कहीं नहीं सुनी। उनकी वाणी में यह अद्‌भुत गुण उनके योग, भक्ति और विनयशीलता के कारण पैदा हुआ। वे कभी प्रश्नों का सीधा उत्तर नहीं देते थे। उनके मुंह से केवल 'दास क्या जाने' उच्चारित होता है। मैंने उन्हें बाह्य रूप मे टटोलना चाहा पर कुछ नहीं समझ पाया। वे शास्त्रोक्त कर्मकाण्ड के उद्‌भट विद्वान थे। पूर्णिमा से संक्रान्ति तक उनका यज्ञ चलता रहता था। इस दौरान उनकी अग्नि समान प्रखर वाणी—अत्यन्त गूढ़ भक्ति, सत्य और आत्मसमर्पण की बातें करती, जिसमें नितिक्षा और विनम्रता झलकती।"

"उनसे आपको मिला क्या ?" एक व्यक्ति ने अपने मन की बात कही।

"मुझे उनसे 'विनय' का गुण प्राप्त हुआ। क्या यह कम था ?"

श्रोता स्वामीजी के स्वर आकर्षण में जकड़े हुए थे। खामोशी देख, उनका स्वर पुनः जागृत हुआ।

"हमारी अन्यों से अपेक्षाएं अधिक होती हैं। मेरी भी थीं। बाबा की विनयशीलता ने मेरे पैर बांध दिए थे। उधर मेरे गुरुभाइयों के पत्र पर पत्र आने लगे। उन्हें भ्रम हो गया था कि पवहारी बाबा से मेरे सम्पर्क के कारण मेरी गुरुभक्ति (श्रीरामकृष्णदेव) के प्रति कम हो जाएगी।"

"उनका संशय गलत तो नहीं था ?"

"अडिग विश्वास न होने के कारण ऐसा होता है। मेरा तो मूलमन्त्र यह रहा है कि जहां जो कुछ अच्छा मिले, सीखना चाहिए। इसके विपरीत विचारों को मैं पागलों तथा कट्टरपंथियों के विचार समझता हूं। क्योंकि विश्व में जितने भी गुरु हैं वे सब एक उसी जगद्गुरु के अंश तथा आभास स्वरूप हैं। अपने इन्हीं वेदान्त विचारों के कारण यह हुआ कि मैं बाबा से बंध गया और बाबा मुझसे। वे प्रतिदिन मेरी खोज-खबर लेते रहते थे। मैं उनसे अधिक-से-अधिक सीखना चाहता था। कुछ दिनों बाद मुझे आभास हुआ कि मैंने—उल्टा समझ लिया राम। मुझे लगा कि मामला उल्टा है....बाबाजी तो मुझसे कुछ सीखना चाहते हैं। मैंने निष्कर्ष निकाला कि बाबाजी नामी सिद्ध हैं किन्तु उनके चरण अभी पूर्णता तक नहीं पहुंचे। क्योंकि वे बहुत से कर्म, व्रत, आचार-व्यवहार में लिप्त रहते थे और गुप्त भाव अपनाते थे। समुद्र पूर्ण होने पर कभी मर्यादित नहीं रह सकता।"

"इसका मतलब यह हुआ कि बाबाजी में कोई तंत नहीं था। आपने वहां से पीछा कैसे छुड़ाया ?" हंसीयुक्त स्वर में स्वामीजी से पूछा गया।

"नहीं, ऐसी बात नहीं है। मैंने बाबाजी से काफी लिया, किन्तु वे शायद अधिक देना नहीं चाहते थे। मैं ठहरा यायावर, सो वहां से भाग खड़ा हुआ। हां, यह जरूर निश्चय कर लिया कि—

रे मन, तू अपने में रह स्थिर, जा न किसी के द्वार
केवल शान्तचित्त हो, कर विनय विवेक विचार।
परम अर्थ का जिसमें रहता सदा भरा भण्डार
वह पारसमणि तो तुझमें है, कर उससे व्यवहार।।"(श्रीरामप्रसाद)

"श्रीरामकृष्णदेव जैसे गुरु को पाकर भी आपकी प्यास पूरी नहीं हुई जिससे कि आप अपने को इस जंजाल में फंसा बैठे ?" प्रश्नात्मक स्वर पुनः गूंजा।

"ये तो परीक्षाएं होती हैं, जिनसे मनुष्य को गुजरना ही पड़ता है। इन परीक्षाओ या कह लीजिए कठिनाइयों के बाद ही तो ठोस निष्कर्ष निकलते हैं। इस घटना के पश्चात् मैंने परिणाम निकाला कि श्रीरामकृष्णदेव जैसी अपूर्व सिद्धि, अद्भुत अकारण दया, जन्म-मरण से जकड़े हुए जीव के लिए प्रगाढ़ सहानुभूति कहीं नहीं है। श्रीरामकृष्णदेव या तो अपने कथनानुसार अवतार हैं अथवा वेदान्त दर्शन में जिसे नित्य सिद्ध महापुरुष **'लोकहिताय मुक्तोऽपि शरीरग्रहणकारी'** कहा गया है, वे हैं। मैं इस प्रकार जागा, निरन्तर जाग रहा हूं और जब तक जीवित हूं, जागता रहूंगा। आप भी जागिए....आपको जागना होगा....अपनी अंतश्चेतना को टटोलना

होगा, उसे नींद में से जगाना होगा।"

स्वामीजी के शब्द हवा में तैरते हुए श्रोताओं के हृदय में गहरे तक पैठ रहे थे। वे सब स्वामीजी के हो चुके थे। विवेकानन्दजी ने कुछ देर के लिए अपनी शब्द-यात्रा समाप्त की: और आंखें मूंदकर मुगलसराय, दिलदार नगर, लारीघाट और तारीघाट से गंगा पार करके गाजीपुर के गोरा बाजार होते हुए वापस आ गए। इस यात्रा में वे अपने कई प्रेमीजनों—प्रमदादास मित्र, गगनबाबू, सतीश मुखर्जी आदि की याद भी कर आए।

उन्होंने जब अपनी आंखें खोलीं तो सभी को एकटक अपनी ओर देखते पाया। वे धीमें स्वर में बोले—'अब कल।' उपस्थित एक-एक करके चुपचाप कक्ष से बाहर निकल गए। स्वामीजी अविचल बैठे थे। सदानन्द बोला।

"गुरुदेव, आप कुछ विश्राम कर लें।"

"सदानन्द विश्राम कैसा ? समय बहुत बीत गया। मेरे कानों में अपने गुरुदेव की वाणी गूंज रही है—सर्व-धर्म-समन्वय का दर्शन देश के कोने-कोने में फैला दो। समस्त जग में मानव प्रेम की ध्वजा फहरा दो। लेकिन मुझे लगता है कि मैं कुछ नहीं कर पा रहा हूं। लोगों का सहयोग जितना मिलना चाहिए, नहीं मिल पा रहा है। धर्म के असली स्वरूप को कोई नहीं जानना चाह रहा है। अपने-अपने धर्म को सभी श्रेष्ठ जताने के प्रयत्न में लगे हुए हैं। श्रीरामकृष्णदेव कहते थे—बड़े तालाब में बहुत से घाट होते हैं। किसी भी घाट पर उतरने से एक ही प्रकार का पानी मिलता है। इसलिए 'मेरा घाट अच्छा है, तुम्हारा घाट अच्छा नहीं' कह कर झगड़ना निरर्थक है। मैंने अनुभव किया है कि सच्चिदानन्द सरोवर में भी अनेक घाट हैं। व्याकुल होकर किसी भी एक घाट के सहारे आगे बढ़ा जाए तो उस परम पिता को पाया जा सकता है। यही तो हमारा प्राचीन आर्य ऋषियों का सनातन-धर्म भी कहता है। फिर हम क्यों आपस मे लड़ रहे हैं ? दूसरे धर्मों के प्रति हममें श्रद्धा भाव क्यों नहीं जाग रहे हैं। हमारी विनय भावना, हमारा चरित्र लोप क्यों हो रहा है ? हम क्यों नहीं सोचते कि यदि हम ईसाइयों की तरह दयावान, मुसलमानों की तरह बाह्य विधि- निषेधो के प्रति दृढ़ आस्थावान तथा हिन्दुओं के समान सबके प्रति उदार एवं दानशील होंगे तो हमारा चरित्र निखरेगा। दुःख होता है कि चरित्र बल पर आकाश को छूने वाला भारत आज 'चरित्र' को ढूंढ़ रहा है।"

"मैं इस बात को नहीं मानता कि आप परम पावन श्रीरामकृष्णदेव की कसौटी पर खरे नहीं उतर रहे हैं। यह कम नहीं है कि लोग सामाजिक मूल्यों के विषय में

आपसे अपनी जिज्ञासा प्रकट करते हैं। इसका अर्थ हुआ कि लोगों में अपने समाज, अपने धर्म, अपने देश और स्वयं के प्रति सुप्त भाव तो हैं ही जिन्हें जगाने का कार्य आप कर रहे हैं। आप जहां भी जा रहे हैं, वहां श्रीरामकृष्णदेव के नाम पर चेतना केन्द्र खुल रहे हैं। परम देव के विचारों का प्रसार हो रहा है।"

"सदानन्द, तुम ठीक कह रहे हो किन्तु मुझे अपेक्षित सहयोग नहीं मिल पा रहा है। देश में धनिको की कमी नहीं है पर उनकी भावनाएं मृत हैं। जन-जन स्वयं प्रेरित, स्वयंस्फूर्त हो तो बात बने। तुम अपना ही उदाहरण ले लो। तुम्हें अपना विगत याद है ?"

"मैं अपना भूत, भविष्य आपको अर्पित कर चुका हूं।"

"सन् 1888 की बात है। मैं उत्तर भारत के भ्रमण पर निकला हुआ था। उसी क्रम में मैं सूर्यवंशी पराक्रमशील नृपतियों की गौरव स्थली अयोध्या में पहुंचा था। काव्य मर्मज्ञ वाल्मीकी, तेजस्वी ऋषिवर श्रेष्ठ वशिष्ठ, तपस्वी विश्वामित्र, ब्रह्मज्ञानी जनकजी, सीताराम, वीरवर हनुमान, की स्मृतियों में मैं खो गया था। मुझे बचपन मे ही इन सब लोगों से अति लगाव था, सो वहां इन सबको पाकर धन्य होकर श्रीरामनाम कीर्तन में कुछ दिन खोया रहा।"

सदानन्द दत्तचित्त होकर सुन रहा था। बहुत कम ऐसे मौके आते थे कि स्वामीजी अपने विगत के बारे में मुखर होते हों। अकेले सदानन्द को अमृत पान करता देखकर स्वामीजी के अन्य शिष्य भी वहां आ जुटे।

"अयोध्या से मैं लखनऊ, आगरा होते हुए श्रीवृन्दावन धाम की ओर बढ़ा। आगरे में शिल्प सौन्दर्य का अवलोकन करता हुआ मैं एक दिन रुका और फिर वहां से करीब 30 मील दूर वृन्दावनजी की ओर चल पड़ा। मैं एक गांव के निकट से होकर गुजर रहा था कि मेरी दृष्टि वृक्ष के नीचे बैठे एक वृद्ध पर पड़ी। वह निश्चिंत होकर तम्बाकू पी रहा था। मैं भी क्लान्त था। मैं निःसंकोच उस व्यक्ति के पास पहुंचा, और उसके हाथ मे तम्बाकू की चिलम लेने के लिए मैंने अपना हाथ बढ़ा दिया। वह व्यक्ति संकोच से बोला—'महाराज, मैं भंगी हूं।' उसके मुंह से इन शब्दों के निकलते ही मेरा आगे बढ़ा हुआ हाथ पीछे हो गया। मैंने तुरन्त अपना रास्ता पकड़ लिया। लेकिन चंद कदम आगे बढ़ने के उपरान्त ही मेरी सोच ने मुझे धिक्कारा....'ओह ! कैसा साधु है तू....पाखण्डी....साधु तो निर्मल स्वभाव का होना चाहिए....उसे जात-पांत से क्या लेना-देना।' मुझे आत्मिक पीड़ा हुई कि मैं अभी तक जाति, कुल, मान के आजन्म संस्कारों के वशीभूत हूं, अभी तक कुसंस्कार रूपी मोहिनी के पाशबद्ध हूं।"

"इसके पश्चात् आपके मानस ने क्या रुख लिया ?" एक शिष्य ने पूछा।

"मैं लौट पड़ा और उस व्यक्ति के पास आकर, क्षमा मांगी तथा प्रेम से उससे चिलम भरवाकर धूम्रपान किया। तुम लोगों ने देखा आत्माभिमान कैसा प्रबल होता है ? कैसे अभ्यासजनित संस्कारों का सांप मौके पर फन उठाता है ?"

"आप जैसे योगी को भी जब ये कुसंस्कार फंदे में ले सकते हैं, तो हम जैसों का क्या बिसात ?" सदानन्द अभिभूत होकर बोला।

"समबुद्धि के रक्षार्थ इन कुसंस्कारों का शमन करना पड़ता है तभी तो चरित्र निखरता है।"

"लेकिन गुरुदेव, हमारा अभिमान इस मार्ग में सबसे बड़ा बाधक होता है। निराभिमानी हो सकें तो बात बने।"

"व्यक्ति में अभिमान तो होना ही चाहिए, किन्तु उसे गर्वोक्तिपूर्ण नहीं होना चाहिए। हम जो कुछ हैं, जो कर रहे हैं,जो कुछ पा रहे हैं और नहीं पा रहे हैं, यह सब ईश्वराधीन हैं। हम तो निमित्त मात्र हैं। इस स्थिति में गर्व कैसा ? अभिमान कैसा ? हां, एक स्थिति ऐसी भी है, जब हमें अपना अभिमान दिखाना चाहिए, गर्व से सिर उठाना चाहिए। वह अभिमान सच्चा अभिमान होगा जो हमें संतुष्ट करेगा।"

"वह स्थिति कौन-सी है ?"

"जानना चाहोगे ?"

"निश्चित।"

"तो सुनो। मैं वृन्दावन धाम पहुंचा और काला बाबू के कुंज में अतिथि बनकर रुक गया। वहां मेरा मन नहीं लगा। मैं नन्दग्राम, बरसाना, गोकुल, राधाकुंड की ओर चला आया। यहां शान्ति थी। सरल हृदयी ग्रामवासी, ग्राम सौन्दर्य और निर्भय होकर विचरण करती गायें देखकर मन प्रफुल्लित हो गया। राधाकुंड में तो मैंने पूर्ण आनन्द का अनुभव किया। लगता था कि श्रीकृष्ण और श्रीराधा मेरे चारों ओर अठखेलियां कर रहे हैं। वह एक स्थिति थी जब मेरी आन्तरिक और वाह्य मनः स्थिति एकाकार हो उठी थी। अपने आनन्द के संसार में रमता-रमता रोज मैं राधाकुंड में नहाता, खूब विचरण करता, जी भर कर वृक्षों के नीचे बैठा रहता। एक दिन मैंने रोज की भांति अपने एकमात्र कौपीन को धोकर धूप में सुखाने डाल दिया और नहाने के लिए राधाकुंड में उतर गया। मैं नहाने के बाद जब वापस बाहर आया और देखा कि मेरा कौपीन गायब है। मैं विचलित हो उठा। मेरी दृष्टि अपने कौपीन की तलाश में इधर-उधर भटकी। मैंने देखा एक बन्दर कौपीन अपने हाथों में लिए वृक्ष की ऊंची शाखा पर बैठा है।"

"आपने बन्दर महाराज से अनुनय-विनय नहीं की ?" लाटू मुस्कराया।

"क्यों नहीं की। लेकिन वह इन्सान तो नहीं था ! मेरे अनुनय का उस पर क्या प्रभाव पड़ता ? मैं व्याकुल हो उठा। कुछ देर विचार करने के उपरान्त मन में गर्व का एक भाव जागा, मैंने निश्चय किया कि जब तक मेरा वस्त्र नहीं मिलेगा तब तक निकट के जंगल में बिना खाए-पिए पड़ा रहूंगा। अपना हठ पूरा करने के लिए मैं बियावान जंगल की ओर बढ़ा कि पीछे से आवाज आई। मैं मुड़ा, किन्तु रुका नहीं। मुझे पीछे से आवाज देने वाले व्यक्ति ने दौड़कर मेरा मार्ग रोक लिया। मैं उस व्यक्ति के हाथों में नया कौपीन और भोजन सामग्री देखकर हैरान था। उसने अनुरोध करके वे चीजें मेरी ओर बढ़ा दीं। मैंने वे चीजें सहर्ष ग्रहण कीं, और क्षण भर के लिए श्रीराधाकृष्ण की कृपा में खो गया। नेत्र खुले तो देखा, वह व्यक्ति ओझल है। ईश्वर की दया पर प्रेमाश्रु बहाता मैं वापस राधाकुंड पहुंचा, तो देखा कि मेरा पुराना कौपीन उसी स्थान पर सूख रहा है, जहां मैंने उसे सुखाया था। अब बताओ, क्या मेरा गर्व गलत था ?"

कौन स्वामीजी के सवाल का उत्तर देता। सभी भावाविभोर थे। स्वामीजी सभी को निरुत्तर देखकर बोले—"मेरे गर्व के पीछे मेरा आत्मविश्वास था। राधाकृष्ण के प्रति अगाध निष्ठा थी। ऐसा गर्व हानिप्रद नहीं है।"

स्वामीजी का स्वर प्रवाह कुछ देर के लिए थमा। सूर्य ढल चुका था। कृष्णलाल ने निरंजन से कुछ कहा। स्वामीजी ने मुस्करा कर पूछा—"कृष्ण, क्या बात है ?"

"महाराज, आपके भ्रमण का समय हो चुका है।"

"लेकिन आपकी बात कहां पूरी हुई है। आप सदानन्द के विगत के विषय में बताना चाह रहे थे न ?" लाटू ने याद दिलाया।

"उसी बात पर आ रहा हूं मैं। लेकिन अच्छा रहेगा कि सदानन्द खुद अपना विगत बताए।"

"ठीक है, सदानन्द तुम खुद बताओ कि तुम्हें स्वामीजी का सानिध्य कैसे प्राप्त हुआ ?" कृष्ण बोला।

"विगत को याद करना ठीक होगा ?" सदानन्द संकोचवश बोला।

"कभी-कभी हमारा विगत भविष्य को संवारने के काम आता है।" लाटू ने उत्तर दिया।

सदानन्द संकोची स्वभाव का था किन्तु लाटूजी का आग्रह न ठुकरा सका। उसने मंद स्वर में अपना विगत बताना आरम्भ किया—"मैं एक दिन हाथरस रेलवे स्टेशन से अपना कार्य समाप्त कर घर वापस लौट रहा था। मैं वहां स्टेशन मास्टर

था। मेरा नाम शरच्चन्द्र गुप्त था। मार्ग में एक वृक्ष के नीचे मैंने दिव्य प्रकाशयुक्त साधु को बैठे देखा। मेरे पैर स्वतः उस दिव्य व्यक्ति की ओर बढ़ गए। मैं उनके चरण स्पर्श करके बोला—'महाराज, मुझ पर कृपा करके मेरा घर पवित्र कीजिए।' साधु ने नेत्र खोले और मेरे साथ हो लिए। मुझ से जितना हो सका, मैंने उनकी सेवा की। वे प्रसन्न हुए। उन्हें प्रसन्न हुआ देखकर मैं गद्‌गद् हो उठा और उनसे आत्मज्ञान देने की बात कही। उन्होंने मुझसे प्रश्न किया—'बिना आत्मज्ञान के क्या तुम मुझे यहां ला सकते थे ?' मैंने उत्तर दिया—"स्वामीजी, यह तो साधारण बात है। मेरे लिए तो सौभाग्य की यह बात है कि आप जैसे महान पुरुष मुझे इतनी सरलता से प्राप्त हो गए। मैं भाग्यवान हूं कि मुझे भटकना नहीं पड़ा....ईश्वरीय प्रेरणा से आप मुझे स्वतः मिल गए।"

"सदानन्द, तुम वास्तव में भाग्यवान हो कि गुरु स्वयं तुम्हें धन्य करने तुम्हारे द्वार तक चले आए।" निरंजन प्रसन्न मुख बोला।

"दो-चार दिन गुरुदेव मुझे टालते रहे। एक दिन उनके क्लान्त मुख को देखकर मुझे अत्यधिक पीड़ा हुई। मैंने सोचा कि मेरी सेवा-सुश्रुषा में कहीं खोट है। मैंने उनकी उदासी का कारण जानना चाहा तो उत्तर मिला—'बेटे, मेरे गुरुदेव की हार्दिक इच्छा सनातन-धर्म के लुप्त गौरव को पुनर्स्थापित करने की थी। उनकी इच्छा को पूर्ण करने का उत्तरदायित्व मैंने अपने कंधों पर लिया है। लेकिन मेरी शक्ति सीमित है न। धर्म के पतन और इसके विकृत रूप को देखकर मेरी आत्मा कराह उठती है। दूसरी ओर भूख और कष्टों से पीड़ित देशवासियों की दशा मुझे व्याकुल कर रही है। क्या मैं भारत को पुनः धर्म की संजीवनी से उस ऊंचाई पर नहीं ले जा सकता, जिस पर यह सहस्रों वर्ष पहले था ?"

मैं स्वामीजी की पीड़ा समझ गया। मेरे मुंह से निकल पड़ा—'ईश्वर प्रत्येक सद्‌इच्छा को पूर्ण करता है।' स्वामीजी ने फिर से सवाल किया—'लेकिन कोई उपाय तो होना चाहिए। उपाय क्या है ?' उनके स्वर से उपजती करुणा से मैं विगलित हो गया। मैं पूछ बैठा—'क्या मैं आपके कोई काम नहीं आ सकता ?' अपने प्रश्न के उत्तर में मुझे सुनने को मिला—'इस महान कार्य में आहूति डालने के लिए क्या तुम भिक्षापात्र लेकर मार्ग में खड़े हो सकते हो ? इस मार्ग में आने वाली नानाविध कठिनाइयों को सहने के लिए क्या तुम त्याग करने के लिए तैयार हो ?"

अपने मनोकूल संवाद को सुनकर मैं उत्साह से कह उठा—'मैं तैयार हूं। आप मुझे अपना शिष्य बना लीजिए।' स्वामीजी ने तुरन्त कहा—'तो जाओ, यह लो मेरा भिक्षा पात्र और स्टेशन के कुलियों से भीख मांगकर ले आओ।"

"और तुम चले गए ? तुम्हें संकोच नहीं हुआ ?" कृष्णलाल ने उत्सुकता से पूछा।

"संकोच कैसा ? मैं गया और भिक्षा ले आया। इसके उपरान्त गुरुदेव ने मुझ पर कृपा की। मैं अपने माता-पिता की आज्ञा लेकर स्वामीजी के साथ हाथरस से ऋषिकेश आ गया। तब से गुरुदेव की कृपा मुझ पर बनी हुई है।"

विवेकानन्द जी ने अपने सर्वप्रथम शिष्य पर एक निर्मल दृष्टि डाली और मृदु स्वर में बोले—"मेरी वह पीड़ा आज भी कायम है। मेरी आध्यात्मिक पिपासा तो श्रीरामकृष्णदेव ने तृप्त कर दी, किन्तु मेरा लक्ष्य तो अपनी इस तृप्ति को देश के कोने-कोने में बिखेरने का है, ताकि जन-जन का मन अद्भुत आनन्द से सिंचित हो सके, और वे सही और सच्चे धर्म की ओर उन्मुख हो सकें।"

"हम आपके साधक हैं। आपकी साधना को पूर्ण बनाने के लिए हम समर्पित हैं।" समवेत स्वर गूंजा।

विवेकानन्द बोले—"संवाद समाप्त करें। ईश वन्दना का समय हो चुका है।"

विवेकानन्द शिष्यों के साथ उठ खड़े हुए। वे संतुष्ट थे। उनका अपने शिष्यों को शिक्षा देने का यही तरीका था। आपसी संवाद और अनुभवों के आधार पर प्राप्त दी गई शिक्षा स्थायी होती है।

अगले दिन कई प्रतिष्ठित नागरिकों ने रामकृष्ण संघ में शामिल होकर सेवाकार्य का व्रत लिया। दिन में स्वामीजी राजप्रासाद में आमंत्रित थे। वहां भी चर्चा के दौरान गणमान्य लोगों तथा राजपुरुषों ने हृदय से संकल्प लिया कि वे रामकृष्ण संघ के प्रसार में भरपूर सहयोग देंगे।

आज स्वामीजी अन्य दिनों की अपेक्षा अधिक प्रफुल्लित थे। रात्रि को उन्होंने भगिनी निवेदिता को पत्र लिखकर उनकी कुछ समस्याओं का समाधान किया। निवेदिता ने सवाल किया था कि अपने विचारों का प्रचार सफलतापूर्वक कैसे किया जा सकता है ? क्या इसके लिए व्यक्ति सापेक्ष होना जरूरी है ? वेदान्त का सार क्या है ?

श्रीनगर, कश्मीर,
1 अक्टूबर, 1897

प्रिय भगिनी निवेदिता,

कुछ लोग किसी के नेतृत्व में सर्वोत्तम काम करते हैं। प्रत्येक मनुष्य का जन्म पथ-प्रदर्शन के लिए नहीं होता। सर्वोत्तम नेता वह है जो 'शिशुवत मार्ग प्रदर्शन करता है।' शिशु जब सब पर आश्रित रहते हुए भी घर का राजा होता है। कम-से-कम मेरे विचार से तो यही रहस्य है, जिसे अनुभव तो बहुत से करते हैं पर प्रकट बिरले

ही कर सकते हैं। दूसरों के प्रति अपना प्रेम, गुण-ग्राहकता और सहानुभूति प्रकट करने की जिसमें शक्ति होती है, उसे विचारों के प्रचार करने में औरों से अधिक सफलता प्राप्त होती है।

मैं तुमसे कश्मीर के वर्णन करने का यत्न नहीं करूंगा। इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि इस भूलोक के स्वर्ग के अतिरिक्त, किसी भी देश को छोड़ने का दुःख मुझे नहीं हुआ। मैं भरसक कोशिश कर रहा हूं कि राजा को प्रभावित करके यहां अपने मिशन का केन्द्र खोल सकूं। यहां करने के लिए काम बहुत है और कार्यक्षेत्र भी आशाप्रद है।

महान कठिनाई यह है कि लोग प्रायः अपना सम्पूर्ण प्रेम मुझे देते हैं परन्तु बदले में मैं किसी को अपना पूर्ण प्रेम नहीं दे पाता।

लेकिन कुछ लोग ऐसे भी हैं जो बदले में मेरा पूर्ण प्रेम चाहते हैं। ऐसे लोगों में सर्वव्यापक दृष्टि का अभाव होता है। किसी कार्य के लिए यह आवश्यक है कि अधिक-से-अधिक लोगों का मुझसे उत्साहपूर्ण प्रेम हो, किन्तु मैं स्वयं में बिलकुल निःसंग और निरपेक्ष होऊं। ऐसा न हो तो आपसी ईर्ष्या और झगड़ों से कार्य का सर्वनाश हो जाएगा। नेता को व्यक्ति निरपेक्ष निःसंग होना आवश्यक है।

मुझे विश्वास है कि तुम मेरी इस भावना को समझती हो। मेरा यह आशय नहीं कि मनुष्य को पशुवत अपने स्वार्थ के लिए दूसरों की भक्ति का उपयोग करके, पीठ पीछे उनका मजाक उड़ाना चाहिए। तात्पर्य यह है कि मेरा प्रेम नितान्त व्यक्ति सापेक्ष है, किन्तु जैसा कि बुद्धदेव ने कहा है—**'बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय'** में मैं आस्था रखता हूं। यदि आवश्यक हो तो मुझमें वह भी शक्ति है कि मैं अपने हाथों अपना हृदय निकाल फेंक सकता हूं।

प्रेम में मतवालापन और फिर भी बंधन का अभाव होता है। प्रेम शक्ति से जड़ भी चेतन हो उठता है। यही तो हमारा वेदान्त का सार है। सर्वशक्तिमान सत्ता एक ही है जिसे अज्ञानी जड़ के रूप में देखते हैं और ज्ञानी ईश्वर के। जड़ में अधिकाधिक सभ्यता का इतिहास ही आत्मदर्शन है। अज्ञानी निराकार को साकार रूप में देखते हैं, तथा ज्ञानी साकार में भी निराकार का दर्शन करते हैं। सुख और दुःख में, संतोष और संताप में हम यही एक सबक सीख रहे हैं। कर्म के लिए अधिक भावप्रवणता अनिष्टकर है। 'वज्र के समान दृढ़ और कुसुम के समान कोमल' यही है सार्थक नीति।

चिर स्नेहशील सत्याबद्ध
विवेकानन्द

पत्र पूर्ण करने के उपरान्त विवेकानन्द कुछ देर अपने आसन पर बैठे, ध्यान में खोए रहे और फिर वहीं शयन कर लिया। इस प्रकार दिनचर्या नियमित चलती रही।

पूरा एक सप्ताह विद्वलजनों की संगति और आपसी आध्यात्मिक चर्चा में गुजर गया। स्वामीजी ने मरी जाने का विचार किया। स्वजनों के आग्रह के बावजूद भी वे अक्टूबर के द्वितीय सप्ताह में मरी की ओर प्रस्थान कर गए। उन्हें प्रसन्नता इस बात की थी कि उनके कुछ भक्तों ने श्रीरामकृष्णदेव की विचारधारा के प्रसार का उत्तरदायित्त्व स्वेच्छा से अपने कंधों पर ले लिया। इस सारी व्यवस्था को स्थायी रूप देने के लिए उन्होंने अपने दो शिष्य वहां छोड़ दिए।

मरी पहुंचने के उपरान्त उन्हें स्वामी अखण्डानन्द (गंगाधर गंगोपाध्याय) का पत्र प्राप्त हुआ जिसमें उन्होंने अनाथालयों की स्थापना के लिए मार्ग निर्देशन चाहा था। पत्र का उत्तर उन्होंने तुरन्त लिख डाला।

मरी

10 अक्टूबर, 1897

प्रिय अखण्डानन्द,

तुम्हारा पत्र पाकर मुझे हर्ष हुआ। इस समय तुम्हें बड़े-बड़े कामों पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है। वर्तमान परिस्थिति में जो सम्भव है, उतना ही करो। धीरे-धीरे तुम्हारे लिए मार्ग खुल जाएगा। अनाथालय की स्थापना के बारे में सोच-विचार की जरूरत नहीं है। यह तो होना ही चाहिए। बालिकाओं को भी हम आपत्ति में नहीं छोड़ सकते। बालिका अनाथालय के लिए हमें एक स्त्री पदाधिकारी की आवश्यकता होगी। मैं समझता हूं कि मां उसके लिए सुयोग्य होगी या गांव की किसी सन्तानहीन विधवा को इस काम में लगाओ। लड़के-लड़कियों के रहने का स्थान पृथक होना चाहिए। कैप्टन सेव्हियर इस काम के लिए धन भेजने के लिए तैयार हैं। उनका पता नेडोल्स होटल, लाहौर है। यदि तुम उन्हें पत्र लिखो तो ये शब्द पत्र के ऊपर लिख देना—'आने की प्रतीक्षा की जाए।' मैं शीघ्र रावलपिंडी जाने वाला हूं, कल या परसों। जम्मू होते हुए लाहौर और दूसरे स्थानों को देखता हुआ, करांची होकर राजपूताना लौटूंगा। मैं अच्छा हूं।

तुम्हारा

विवेकानन्द

पुनश्चः- तुम्हें मुसलमान लड़कों को भी अनाथालय में ले लेना चाहिए। परन्तु उनके धर्म को कभी दूषित न करना। तुम्हें केवल यही करना है कि उनके भोजन आदि का प्रबन्ध अलग कर दो और उन्हें शुद्धाचरण, पुरुषार्थ और परहित में

श्रद्धापूर्वक शिक्षा दो। अपने उलझाने वाले दर्शनिक विचारों को कुछ समय के लिए अलग रख दो।

इस समय हमारे देश में पुरुषार्थ और दया की जरूरत है। **'स ईशः अनिवर्चनीय प्रेमस्वरूपः'**—ईश्वर अनिवर्चनीय प्रेम का स्वरूप है। परन्तु **'प्रकाश्यते क्वापि पात्रे'**—विशेष पात्रों में उसका प्रकाश होता है। हमें यह कहने के बदले **'स प्रत्यक्ष एवं सर्वेषां प्रेमरूपः'**—वह सब जीवों में प्रेम रूप से प्रकट होता है, कहना चाहिए। इसे छोड़कर और किस ईश्वर की—जिसे कि तुम्हारे मन ने ही निर्माण किया है—तुम पूजा करोगे? वेद, कुरान, पुराण और सब शास्त्रों को कुछ समय के लिए विश्राम करने दो। मूर्तिमान ईश्वर जो प्रेम और दया का स्वरूप है, उसकी उपासना देश में होने दो। भेद के सब भाव-बंधन हैं और अभेद के भाव मुक्ति है। विषयों के मद से मतवाले संसारी जीवों के शब्दों से मत डरो। **'अभीरभीः'**—निर्भय बनो। सब धर्मों के लड़कों को लेना—हिन्दू, मुसलमान, ईसाई या कुछ और भी हों। लेकिन यह सब धीरे-धीरे शुरू करना—अर्थात् यह ध्यान रखना कि उनका खान-पान अलग हो तथा धर्म की सार्वभौमिकता का ही केवल उन्हें उपदेश देना।

इस भाव में पागल हो जाओ तथा औरों को भी बना दो। इस जीवन का और कुछ उद्देश्य नहीं है। प्रभु के नाम का प्रचार करो। संसार की रग-रग में उनकी शिक्षा को भर जाने दो। कभी न भूलो। अपने दैनिक कार्य करते हुए अन्तरात्मा में निरन्तर इस मन्त्र का जाप करो।

—विवेकानन्द

उन्होंने पत्र पूरा किया था कि कक्ष में सदानन्द ने प्रवेश किया। स्वामीजी ने निकट खड़े सदानन्द से पूछा।

"सदानन्द, हम किसी अच्छे कार्य को करने से क्यों हिचकिचाते हैं, डरते क्यों हैं हम?"

"गुरुदेव, आत्मविश्वास की कमी के कारण ऐसा होता है। कई बार सही काम करते हुए भी लांछना के भय से हमारे कदम डगमगाते हैं।"

"इसका अर्थ यह हुआ कि हममें कोई न कोई कमजोरी व्याप्त है। ईश्वर के प्रति हमारे समर्पण में कहीं न कहीं कोई कमी है। अपने द्वारा किए जा रहे कार्य में संकोच और भय कैसा? बशर्ते आपका वह कार्य शुद्ध और सात्विक भावना से ईश्वर को समर्पित किया गया हो। ऐसे पवित्र कार्य में जाति, धर्म सम्प्रदाय का बंधन नहीं होता। सब समान हैं....सब ईश्वर अंश है। यह तभी हो

सकता है, जब हमारे अंतश्चक्षु अखिल विश्व ब्रह्मांड में उस मंगलमय चैतन्यात्मा आलोक पुरुष का स्पन्दन महसूस करें। यही तो मंथन है अज्ञानांधकार रूपी सागर का। मेरे और मेरे गुरुदेव का उद्देश्य यही है कि हम जाति-पांति भूलकर, उस एकमात्र अमृत रूपी देदीप्यमान सत्ता के नाद का अनुभव करें। इस स्थिति में न कोई हिन्दू होगा और न कोई मुसलमान। सब जीव मात्र हैं जो सुख-दुःख भोग रहे हैं। दुःख, संकट जाति और धर्मों में भेद नहीं करता, तो हम पीड़ाओं से घिरे लोगों में अन्तर क्यों करें ? अपनी बाहें पसारो....और सबको सहारा दो निःसंकोच, निर्भय, निडर होकर।"

सदानन्द के कानों में उस दिव्य पुरुष की स्वर लहरी पड़ रही थी। वह मग्न था। स्वामीजी की प्रखर वाणी पुनः गूंजनी शुरू हुई।

"मेरा अपने शिष्यों से कहना है....आगे बढ़ो....अपने हृदय को शंका रहित करो, तभी देश के सोते हुए लोगों को उठा पाओगे। कृष्ण ने अर्जुन से यही कहा था। मैंने उनके शब्दों को हृदयंगम किया है और अपने शिष्यों से यही अपेक्षा करता हूं।

क्लैब्यं मस्मगमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदय दौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप।। (2·3)-गीता

क्लीव भाव मत अपनाओ। हृदय की दुर्बलता त्याग कर उठो। सिंहनाद करते हुए आगे बढ़ो, आगे बढ़ो।"

सदानन्द समझ गया कि स्वामीजी के किसी गुरुभाई या शिष्य ने अपनी जिज्ञासा प्रकट की होगी फलस्वरूप वह कृतार्थ हुआ। स्वामीजी का वात्सल्य इसी प्रकार ज्ञानरूप में प्रवाहित हो उठता था। वह कृतार्थ भरे स्वर में बोला—"गुरुदेव जिज्ञासा किसी की थी, धन्य मैं हुआ।"

"सदानन्द, जिज्ञासा होना जरूरी है अन्यथा समाधान और श्रेष्ठता का पता कैसे लगेगा ? मैं भी जिज्ञासु था और अब भी हूं। सीखने का कोई भी अवसर मैं नहीं छोड़ता। मैंने अपनी जिज्ञासाएं धर्मप्राण लोगों के आगे रखीं और मुझे मार्ग मिला। मेरी शंकाएं दूर हुईं।"

"मैं आज ईश प्रार्थना के बाद गुरुजी से अपनी कुछ शंकाएं प्रकट करूंगा।" निरंजन सदानन्द से बोला।

"अच्छा। लगता है अब तुमने खुद से लड़ने की सोच ली है। खुद से लड़ने वाला व्यक्ति ही बाह्य युद्ध के क्रम में सफल हो सकता है। तुम प्रश्न पर प्रश्न करोगे, अपने मन में उठती हिलोरों को धरती पर लाओगे, तुम्हारी यह मुखरता हम सब का भला करेगी। लेकिन तुम्हारे प्रश्न किस प्रकार के होंगे ? सांसारिक या आध्यात्मिक ?"

सदानन्द का स्वर उपहासात्मक था।

"मैं इसका निर्णय समय पर करूंगा।" निरंजन ने गम्भीरता से उत्तर दिया।

इसके बाद सभी साथी नियमित कार्यों में दत्तचित्त हो गए। प्रार्थना-ध्यान के बाद वह समय आया जिसकी निरंजन को प्रतीक्षा थी। सदानन्द निरंजन की बगल में बैठा हुआ था। निरंजन का स्वर फूटा।

"गुरुदेव, हमें तो आप जैसे सर्वज्ञ गुरु मिल गए। हमें भटकना नहीं पड़ा। लेकिन आपने अपने गुरु की तलाश कैसे की ?"

विवेकानन्द अपनी चिर-परिचित मुस्कान में बोले—"मैं सर्वज्ञ नहीं हूं। मैं ज्ञान की तलाश में घूमने वाला यायावर हूं। मेरी ज्ञान के प्रति तीव्र अभिलाषा, जिज्ञासा और असाधारण अकुलाहट मुझे मेरे गुरु तक ले गई। तुमने मुझे सरिता की उस निर्मल धारा में खींच लिया है जिसमें मैं बहुधा बहता रहता हूं। मुझे नरेन्द्र के इतिहास के उस अध्याय को खोलना होगा, जब वह युक्तिवादी ब्रह्म होते हुए भी अपनी विराट आध्यात्मिक क्षुधा के शमनाथ भटक रहा था जिसकी प्राप्ति के बाद परम शान्ति प्राप्त की। मुझे नरेन्द्र के उस रूप में जाना बहुत अच्छा लगता है। मैं खुद भी नरेन्द्र के [illegible] को टटोलता रहता हूं। आश्चर्य यह है कि तुम्हारे प्रश्न के शुरुआत तक मैं अपने को तलाशता हुआ पहुंचा था। ठीक हुआ, आगे बढ़ने का निमित्त तुम बन गए।

"नाना प्रकार के महान ग्रन्थों को आत्मसात करके भी आपकी ज्ञान-क्षुधा नहीं मिटी ? आप तो रात-दिन का स्मरण करने वाले हैं, फिर भी आपको श्रीकृष्ण की तलाश रही ? आश्चर्य है !" निरंजन ने अगला सवाल किया।

"पढ़ना, समझना तथा नाना प्रकार की पुस्तकों को रट लेना एक अलग बात है। वास्तविकता यह है कि मेरे मन में जिज्ञासा तैर रही थी कि—**'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विशालं भवतीती ?'** (हे भगवान, भला ऐसा ज्ञान कौन-सा है जिसे जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है ?) मेरी यही जिज्ञासा ऐसे महापुरुष की तलाश में थी जिसने अपने जीवन में परम शान्ति को पा लिया हो, जिसने जगत के प्राणियों के उद्भव और विनाश के कारण, उस परम सत्ता को पाकर तृप्ति अनुभव कर ली हो, और जिसमें अन्यों को तृप्त कर सकने की क्षमता हो।"

सभी शिष्य एकटक विवेकानन्दजी का मुंह निहार रहे थे। विवेकानन्दजी ने नेत्र मूंद लिए थे। उनके समक्ष पीछे का दृश्य पटल घूम रहा था जो घूमते-घूमते उस पड़ाव पर आ गया जब वह एफ०ए० की परीक्षा की तैयारी में जुटे हुए थे। एक ओर परीक्षा और दूसरी ओर आध्यात्मिक ज्ञान की पिपासा, सत्य के छोर को

पकड़ने की उत्कट चाहना। वे राजा राममोहन राय, महर्षि देवेन्द्रनाथ, प्रखर वक्ता केशवचन्द्र के अनुरागी बने किन्तु उन्हें जो चाहिए था, वह इन किसी से प्राप्त नहीं हो सका।

10

विवेकानन्दजी का मन और मस्तिष्क कलकत्ता में अपने मकान के निकट मातामही के मकान के कमरे में पहुंच चुका था। सन् 1881 में वे इसी किराए के कमरे में रहते थे। पिता विश्वनाथ पुत्र की स्वाधीनता में कभी बाधक नहीं बने। उनका मानना था कि पुत्र को अध्ययनार्थ एकान्त में कमरा तो चाहिए ही। मां को पता था कि पुत्र अध्ययन तो करता ही है किन्तु साथ ही एकान्त में भूमि शयन, परिमित भोजन, भजन और देवानुराग में भी निमग्न रहता है।

विवेकानन्दजी का मन इस ठौर पर आकर स्थिर हुआ। शिष्यों के सम्मुख बिराजमान काया के अधर बुदबुदाए—"मैं सद्गुरु न मिलने के कारण अतृप्त था। मेरी व्याकुलता बढ़ती जा रही थी। इसी बीच नवम्बर माह, 1881 ई. में एक दिन कलकत्ते के शिमला मोहल्ले के सुरेन्द्रनाथ मित्र से पता लगा कि उनके घर में आनन्दोत्सव का आयोजन होने जा रहा है। मेरे लिए यह कोई विशेष बात नहीं थी। मैंने ऐसे कर्मकाण्डों में जाना छोड़ दिया था, क्योंकि वहां पाखण्ड और अश्लीलता के सिवाय और कुछ भी देखने के लिए नहीं मिलता था। मुझे मां ने बताया कि इस आयोजन में एक पहुंचे तपस्वी आ रहे हैं। मैं असमंजस में था कि सुरेन्द्रनाथजी ने आकर कहा—'नरेन, तुम्हें आनन्दोत्सव में आना है और वहां अपने मधुर स्वर में कोई भजन भी गाना है।' मैं उनका आग्रह न टाल सका। मैं वहां गया। गाना गाया। तपस्वी के दर्शन किए। उस तपस्वी के मुखमंडल पर की आभा को देखकर मैं प्रभावित हुआ। कद-काया साधारण, सिर पर छोटे-छोटे बाल, मुख पर दाढ़ी, छिटकी हुई दंतावली, कटि प्रदेश पर एक मोटा-सा कपड़ा लपेटे हुए जो घुटनों से ऊपर था, ऊपर का शेष भाग खुला हुआ, कंधे कुछ झुके हुए। मुझे तपस्वी की काया में ऐसी कोई विशेष बात नजर आई कि उसे पहुंचा हुआ सिद्ध मान सकूं।

मैं मन-ही-मन विश्लेषण कर रहा था कि तपस्वी-नाद मुखरित हुआ—'तुमने बहुत मीठा स्वर पाया है। संगीत का अभ्यास करते हो ?'

मैंने उत्तर दिया—"नहीं, केवल चर्चा करता हूं।"

"पढ़ते हो ?"

"जी हां, एफ०ए० की परीक्षा दे रहा हूं।"

"विश्वनाथ के बेटे हो ?"

"जी हां, आपको किसने बताया ?"

"सुरेन्द्रनाथ बाबू ने। उन्हें जानते हो ?"

"जी हां, उनका लालन-पालन हमारे घर पर ही हुआ है। वे हमारे दूर के नाते में सम्बन्धी हैं।"

"दूर और पास क्या होता है ?" तपस्वी मुस्कराया। मैं अचकचा-सा गया। तपस्वी फिर बोला—"मैं तो सबको दूर भी मानता हूं और बिलकुल पास भी।"

मैं किंचित हास्य से बोला—"यह तो कोरा पागलपन है। किसी निर्णय पर न पहुंच पाने वाली स्थिति है।"

"नहीं, यह मनुष्य की पहुंच की सर्वोच्च स्थिति है। देखो न, मैं तपस्वी भी हूं और गृहस्थ भी।"

"दुनिया में इससे बड़ा पाखण्ड और हो ही नहीं सकता।"

"इस पाखण्ड को देखने कभी दत्त के साथ दक्षिणेश्वर आओ न।"

मेरी दृष्टि तपस्वी के मुख पर टिक गई। उनकी स्नेहिल आंखों ने मुझे दुलारा। उनका स्वर पुनः गूंजा—"आओगे न ?"

"कह नहीं सकता।"

"समय निकल सके तो अवश्य आना।"

मैं घर आने लगा तो सुरेन्द्रनाथजी बोले—"कमाल है ! श्रीरामकृष्णदेव तुमसे दक्षिणेश्वर आने का आग्रह कर गए। मैंने पहली बार इन्हें किसी से दक्षिणेश्वर आने का आग्रह करते देखा है। लोग इन्हें 'पगला' कहते हैं किन्तु हैं ये पहुंचे हुए सिद्ध।"

सुरेन्द्रनाथजी की बातों पर मैंने कोई विशेष गौर नहीं किया। लेकिन हां, एक बात जरूर थी कि मैं श्रीरामकृष्णदेव की सौम्यता से बेहद प्रभावित हुआ। मैं घर आ गया और अपनी परीक्षा की तैयारियों में जुट गया। इस दौरान मेरा ब्रह्म समाज के प्रवचनों में जाना जारी रहा और मैं निराकार ब्रह्म की उपासना में लगा रहा।

परीक्षा समाप्त हुई। मैंने सोचा अब उपासना, ध्यान, योग के लिए अधिक समय निकाल पाऊंगा कि अचानक एक स्वजन बोले—'तुम्हारी परीक्षा समाप्त हुई। मेरा विचार है कि अब तुम्हें असली परीक्षा के लिए तैयार हो जाना चाहिए।' मैं उनका तात्पर्य समझ नहीं पाया था। सो बोला—"असली परीक्षा ?"

"तुम्हें गृहस्थ जीवन में प्रवेश करना होगा। यदि तुम्हारी सहमति हो तो बात चलाएं। लड़की सुसंस्कृत और सुन्दर है। उसके पिता दहेज के रूप में दस हजार रुपए नगद देने के लिए तत्पर हैं। ऐसा धनिक श्वसुर मिल पाना सौभाग्य की बात है।"

"विवाह करके क्या होगा ? धन प्राप्त हो जाने से क्या यह जीवन भर चल जाएगा ?"

"कमाल है भाई। अरे ! विवाह करके तुम्हारी वंश वृद्धि होगी। और रही धन की बात, धन तो धन को खींचता है। तुम्हारे होने वाले श्वसुर के पास धन की क्या कमी है।"

"इस जीवन का उद्देश्य क्या वंश वृद्धि और धन ही है ?"

"तो और जीवन में क्या चाहिए ?"

"आप नहीं समझ पाएंगे। मेरे जीवन का यह सीमित और संकीर्ण उद्देश्य नहीं है।"

"तो क्या तुम जीवन में विवाह नहीं करोगे ?"

"आप तो इस सवाल को आज पूछ रहे हैं, पर मैं तो बहुत-बहुत पहले से ही अपने जीवन का लक्ष्य निर्धारित कर चुका हूं। मैं जिस मार्ग पर चलूंगा, उसमें विवाह का कोई स्थान नहीं है।"

मेरे विचार को जानकर स्वजन चले गए। मैंने अनुमान लगाया कि मेरे विवाह की चिन्ता मेरे स्वजन की न होकर, मेरे पिताजी की हो सकती है। मेरा विचार सही था। मैंने इस विषय में अपने पिताजी से बात की तो उन्होंने जवाब दिया—"बिले, पिता के नाते इस विषय में तुमसे बात करना मेरा कर्त्तव्य था। तुम्हारी इच्छा है। मैंने किसी की व्यक्तिगत स्वाधीनता में कभी हस्क्षेप नहीं किया।" अपने पिताजी की बात से मैं निश्चिंत हो गया। उनके प्रति मेरी श्रद्धा द्विगुणित हो गई।

लेकिन मेरे मन में फिर भी भय था कि गृहस्थी में ढकेलने के लिए मुझ पर परिवार के अन्य सदस्यों की ओर से दबाव डाले जाएंगे। मैंने अपने इस भय का जिक्र अपने एक निकटस्थ से किया। उन्होंने उदार स्वर में मुझ से पूछा कि क्या मैं अपने सत्य प्राप्ति के लक्ष्य पर अडिग रहूंगा। मेरा उत्तर था—निश्चित। वे बोले—'यदि तुम्हारा लक्ष्य वास्तव में सत्य की प्राप्ति है तो ब्रह्म समाज या अन्य स्थानों पर न भटक कर सीधे दक्षिणेश्वर जाकर श्रीरामकृष्णदेव की शरण लो।'

मैंने उनके कथन पर विचार किया और इस सम्बन्ध में अपने मित्र राखालचन्द्र घोष (जो बाद में स्वामी ब्रह्मानन्द के नाम से विख्यात हुए) से राय ली। वह भी ब्रह्म समाज का सदस्य था। मेरे पूछने पर वह संकोचवश बोला—'मैं दक्षिणेश्वर काफी दिनों से जा रहा हूं। मैं क्या ? केशवजी, प्रताप बाबू, चिरंजीव बाबू

भी श्रीरामकृष्णदेव के सत्संग का लाभ उठाते हैं।'

"वहां कुछ प्राप्त हुआ ? मन को कुछ शान्ति मिली ?" मेरा अगला सवाल था।

"मन को शान्ति तो मिलती है। लेकिन जब उनके आस-पास के व्यक्तियों को देखता हूं तो सोचता हूं—

हरि निरमल मल ग्रसित हृदय
असमंजस मोहि जनावत।
जेहि सर काक कंक बक सूकर
क्यों मराल तहं आवत।

(विनय पत्रिका : तुलसीकृत)

लेकिन मुझे आशा है श्रीरामकृष्णदेव की कृपा से मेरे मन की दूषित भावनाएं निर्मल हो सकेंगी। तब मैं उनका निकटस्थ बन सकूंगा।"

मैं आश्चर्यचकित था कि राखाल ने दक्षिणेश्वर जाने की बात कभी मुझसे नहीं कही। मैंने उत्सुकता से उससे पूछा—"तुम वहां पहुंचे कैसे ?"

उसने सहज उत्तर दिया कि वह अपने साले मनमोहन के आग्रह पर एक दिन दक्षिणेश्वर गया था। मेरी जिज्ञासा उभरी। मैंने फिर सवाल किया।

"और वहां बंध कैसे गए ?"

उसने जो उत्तर दिया उससे मैं दक्षिणेश्वर के विषय में सोचने के लिए विवश हो गया।

"अच्छा, ऐसा उनका क्या उत्तर था गुरुदेव ?" निरंजन अपने कौतूहल को न दबा सका।

राखाल का कहना था कि वह बंधा नहीं, बांधा गया है। उसके उत्तर को सुनकर एक बार तो मैं भी जी खोलकर हंसा—'राखाल, इन साधु-सन्यासियों में से कुछ ऐसे हैं जो वशीकरण मन्त्र जानते हैं। लेकिन तुम जैसे व्यक्ति से यह अपेक्षा नहीं की जा सकती है कि वह तंत्र-मन्त्र के वशीभूत हो जाएगा। तुम्हें बांध लिया गया है, इसका मतलब वहां कुछ न कुछ काम की चीज है।'

राखाल ने मुझे निमन्त्रण दिया कि मैं एक बार दक्षिणेश्वर चलूं और परखूं।

मैंने दक्षिणेश्वर जाकर देखने का निश्चय किया कि वहां ऐसा क्या आकर्षण है कि राखाल जैसे पक्के ब्रह्मधर्मी को बांध लिया गया है।

दक्षिणेश्वर के विषय में मेरा सोच निरन्तर मेरे मस्तिष्क को विचलित करता रहा किन्तु मैं अपने कदमों को रोके रहा। रात्रि को नींद के दौरान मुझे लगता कि मुझे कोई पुकार रहा है। मैंने अपनी इस व्याकुलता का जिक्र मां से किया। मां ने

परामर्श दिया कि मुझे एक बार दक्षिणेश्वर हो आना चाहिए। सो एक दिन मैं अपने चार मित्रों को लेकर दक्षिणेश्वर पहुंच ही गया। उस समय वहां भजन गाए जा रहे थे। भक्तगण तन्मय होकर भक्ति रस में डूबे हुए थे। श्रीरामकृष्णदेव नेत्र मूंदे भजन गुनगुना रहे थे। मैं भी मित्रों के साथ पीछे जाकर बैठ गया। भजन समाप्त हुआ और श्रीरामकृष्णदेव ने नेत्र खोले और मुझे देखते ही बोले—'तू आ गया। तू इतने दिन तक मुझे भूलकर कैसे रहा ? मैं कब से तेरी आने की बाट जोह रहा हूं।' उनके शब्दों की अपनत्व भरी रागिनी में कुछ ऐसा अद्भुत आकर्षण था कि मैं अपने को अवश पा रहा था। उन्होंने मुझे बुलाया और एक ओर ले गए। मेरा हाथ पकड़ कर वे पुनः भावविभोर गद्गद् कंठ से बुदबुदाए—'विषयी लोगों से बात करते-करते मेरा मुंह जल गया है। अब आज से तुम जैसे सच्चे त्यागी के साथ बातें करके मुझे शान्ति मिलेगी।'

मुझे आश्चर्य तो तब हुआ, जब मैंने देखा कि भाव विह्वल तपस्वी के नेत्रों से टपटप अश्रु गिरने लगे। मैं तो खुद को वाचाल और दूसरों की वाणी को अवरुद्ध करने वाला मानता था, पर यहां तो वाजी पलट गई। मैं लड़खड़ाए स्वर में बोला—'मैं अममंजस में होने के कारण नहीं आया।' भावातिरेक योगी नम्रता से हाथ जोड़कर मुझसे बोले कि वह जानते हैं कि मैं सप्तर्षि मंडल का ऋषि हूं....नररूपी नारायण हूं। मैंने जीवों के कल्याण के लिए देह धरी है।

मैं अचम्भित था। मैं विश्वनाथदत्तजी का पुत्र नरेन्द्र....कॉलेज में पढ़ने वाला लड़का; और कहां सप्तर्षि। मेरे मस्तिष्क में कौंधा था कि ये तपस्वी कहीं पागल तो नहीं हैं। इसके बाद हम फिर से भक्तों के बीच लौट आए। मैं श्रोता के रूप में उनके एक-एक क्रियाकलाप पर गौर करता रहा। उन्हें जांचने के लिए मैंने भी एक-दो गम्भीर सवाल किए, जिनका बहुत ही सरल भाषा में उत्तर मिल गया। मेरे काफी प्रयत्नों के बावजूद भी मैं उनकी ऐसी कोई हरकत देख नहीं पाया, जिससे यह सिद्ध हो सके कि वे पागल हैं। उनकी सरल और सीधी भाषा में ऐसे सारयुक्त गूढ़तम रहस्य छिपे होते थे कि किसी भी प्रकार उसे अप्रासंगिक प्रलाप नहीं कहा जा सकता था। मैं मन ही मन में आश्चर्य पाले घर आ गया। अब मस्तिष्क में एक अन्य विचार करवट लेने लगा कि आखिरकार इस योगी के पीछे रहस्य क्या है ?

मैंने अब प्रायः दक्षिणेश्वर जाना शुरू कर दिया था। लेकिन श्रीरामकृष्णदेव के व्यक्तित्व के प्रति अभी भी मेरी शंका जारी थी। वहीं मां शारदा (श्रीरामकृष्णदेव की धर्मपत्नी) के दर्शन हुए। ममत्व की उस मूर्ति को पाकर तो दक्षिणेश्वर के प्रति और भी अधिक आकर्षण बढ़ गया। वहीं शरतचन्द्र (स्वामी शारदानन्द) से भी भेंट

हुई। शरत से अच्छी मित्रता हो जाने के उपरान्त एक दिन मैंने उसके आगे अपना हृदय खोला और पूछा—"यहां का भेद समझ में नहीं बैठ रहा। लगता है मैं बड़ी अल्प बुद्धि का हूं।"

शरत बोला कि वह जो कुछ कहेगा, क्या मैं उस पर विश्वास करूंगा ? मैंने उत्तर दिया कि सार्थक बात पर अविश्वास की उंगली नहीं उठ सकती। शरत ने कहना शुरू किया—"तुम्हारे दक्षिणेश्वर आने और तुम्हें सुरेन्द्रनाथजी के यहां मिलने से पूर्व ही श्रीरामकृष्णदेव ने कह दिया था कि तुम दक्षिणेश्वर आओगे। हमारे पूछने पर उन्होंने कहा था कि उन्हें एक दिव्य दर्शन हुआ है। उन्होंने देखा कि समाधि-पथ में वे प्रकाशवान मार्ग से ऊपर चलते जा रहे हैं। स्थूल जगत को छोड़कर वे सूक्ष्म भाव-जगत में पहुंचे। इस जगत से गुजरते समय उन्होंने विभिन्न देवी-देवताओं की ज्योतिर्मय मूर्तियों को देखा। वे जब अन्तिम छोर पर आ पहुंचे तो उनकी दृष्टि एक आलोकमयी रेखा पर पड़ी जो खण्ड और अखण्ड राज्य की विभाजक रेखा थी। वे रेखा को लांघकर अखण्ड राज्य में प्रविष्ट हुए। वहां कुछ भी साकार नहीं था। दिव्य शरीर वाले देवतागणों का प्रवेश भी वहां निषिद्ध था। कुछ ही देर में उन्होंने अद्भुत दिव्य शक्तिपुंज सप्त ऋषियों को वहां समाधिस्थ बैठे देखा। वे समझ गए कि ऋषियों के इस समूह ने इन्सान क्या देवताओं को भी ज्ञान, पुण्य, त्याग और प्रेम से पछाड़ दिया है। ये अभिभूत होकर ऋषियों को देख ही रहे थे कि एक प्रखर प्रकाशपुंज घनीभूत होकर दिव्य शिशु का रूप धारण करके वहां उपस्थित हुआ। वह बड़े प्रेम-स्नेह से सप्त ऋषियों को अपनी वाणी द्वारा जगाने का प्रयास करने लगा। बालक के स्पर्श से ऋषिगण ने अपनी समाधि तोड़ी। ऋषियों के चेहरे बालक को देखकर उल्लसित थे। उन्होंने अनुमान लगाया कि वह अनोखा बालक ऋषिगण का पूर्ण परिचित है। बालक शिशु क्रीड़ाएं करता ऋषिवरों से बोला कि 'वह जा रहा है और उन्हें उनके पीछे (ऋषियों को) आना होगा।' ऋषियों ने अपने मौन अधरों से नेत्रों द्वारा बालक को अपनी स्वीकृति जता दी।"

इसके पश्चात् श्रीरामकृष्णदेव ने देखा कि ऋषियों की कांति का एक अंश ज्योति के रूप में परिणत होकर पृथ्वी की ओर गमन कर गया। उनका कहना है कि तुम्हीं ऋषियों की वह अंश ज्योति हो।

मैं इस बात की सार्थकता पर विश्वास और अविश्वास नहीं कर पाया। मैंने निश्चय किया कि श्रीरामकृष्णदेव की मैं अन्य कई दृष्टि से परीक्षा लूंगा, तभी उन्हें ईश्वरदर्शी महापुरुष स्वीकार करूंगा।

मैं निरन्तर तीन वर्षों तक उन्हें परखता रहा। मैंने समय और असमय उनका

अपूर्व त्याग, शिशु की तरह उनका भोलापन तथा अहंकार रहित स्वभाव, विनयपूर्ण नम्रता, अमृतमयी वाणी और प्रत्येक जीव के प्रति निष्काम प्रेम भाव देखा। उनके इन गुणों में कहीं भी कोई दिखावा न था। अपनी परख के दौरान मैंने इस बात का भी विश्लेषण किया कि जिस व्यक्ति ने केशव बाबू और विजय गोस्वामी जैसे प्रकाण्ड आचार्यों के धर्म जीवन में परिवर्तन कर दिया है, उसमें कोई न कोई आन्तरिक दिव्य शक्ति तो है ही। उनकी एक अन्य बात से भी मैं प्रभावित हुआ।

एक दिन मैंने देखा कि राखाल, जिसे कि मां शारदा और श्रीरामकृष्णदेव अपना मानस पुत्र घोषित कर चुके थे, चुपचाप श्रीरामकृष्णदेव के पीछे देव मन्दिर में चला जा रहा है। देव प्रतिमा के सम्मुख उसे नमन करते देखकर मैं आपे से बाहर हो गया; और श्रीरामकृष्णदेव के सम्मुख ही उसे डपटने लगा। मैं आवेश में बोला कि उसने ब्रह्म समाज के प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर किए थे कि वह एकमात्र निराकार ब्रह्म की उपासना करेगा। राखाल ने लज्जा से नेत्र झुका रखे थे।

इतने में श्रीरामकृष्णदेव की अमृतमयी वाणी झंकृत हुई—'नरेन, यदि उसकी साकार में भक्ति है, तो वह भला क्या करेगा ? तुम्हें अच्छा न लगे, तो तुम न करो, पर इस प्रकार दूसरों का भाव नष्ट करने का तुम्हें क्या अधिकार है ?'

मुझे उनकी बात तर्क संगत लगी। मैं जब तक निराकार ब्रह्म में विश्वास रखे रहा तब तक उस अन्तर्दृष्टि सम्पन्न पुरुष ने कभी मेरी साधना की उस रीति में हस्तक्षेप नहीं किया। वे मुझे मेरी भावना के अनुकूल साधना की प्रणाली में उपदेश देते रहे।

और एक दिन तो कमाल ही हो गया। मैं भक्तगणों के बीच बैठा हुआ श्रीरामकृष्णदेव का प्रवचन सुन रहा था। वे भावस्थ हुए और उनके अधरों से स्वर निकले कि उन्होंने अभी-अभी देखा है कि केशवजी ने जिस शक्ति के आधार पर सम्मान और यश प्राप्त किया है। नरेन्द्र में उसी प्रकार की अठारह शक्तियां निहित हैं।

मुझे आश्चर्य हुआ। मैं प्रतिवाद के फलस्वरूप बोला—'क्या कहते हैं आप ? विश्वविख्यात केशव सेन की तुलना में तो मैं कहीं ठहरता ही नहीं हूं। आपके कथन को लोग सुनेंगे तो आपको पागल कहेंगे।' मेरे कटु और तीक्ष्ण वचनों को सुनकर भी वे हंस दिए और बोले—'मैं क्या करूं भला। मां ने जो दिखाया, वही मैंने कहा।'

मैं इस बात को पचा नहीं पाया क्योंकि मुझे अभी तक भी इस बात पर विश्वास नहीं हो पाया था कि श्रीरामकृष्णदेव को 'मां' के साक्षात दर्शन होते हैं। सो मैंने पुनः प्रतिवाद किया—'मैं यह कैसे समझूं कि यह आपके मस्तिष्क की उपज नहीं है। यदि आपके स्थान पर मैं होता तो इसे अपने मस्तिष्क का ख्याल ही मानता।'

उन्होंने निर्मल स्वर में उत्तर दिया—'तुम शीघ्र खुद को और मुझे समझ पाओगे। तुम में निहित शक्तियों का जब उदय होगा, तब सब जान जाओगे।'

मैं श्रीरामकृष्णदेव से ही नहीं बल्कि उनके अनन्य भक्तगणों से भी बहस में उलझ जाता था और अपनी धारदार युक्तियों से उन्हें खिन्न कर डालता था। मेरी इस भावना का अनुचित लाभ ब्रह्म समाज के शिवनाथ बाबू ने उठाना चाहा। उन्होंने मुझे दक्षिणेश्वर जाने की मनाही की। मेरी प्रश्नवाचक मुद्रा देखकर वे बोले—'परमहंस की समाधि, भाव आदि स्नायु की दुर्बलता है। अत्यधिक शारीरिक कठोरता का अभ्यास करने के कारण परमहंस का मस्तिष्क विकृत हो गया है।' मैंने शिवनाथ बाबू का कथन सुना किन्तु चुप रहा। मेरी उनके पाण्डित्य तथा चरित्र के प्रति श्रद्धा थी। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं था कि मैं उनके विचार से सहमत था। मेरा हृदय और बुद्धि श्रीरामकृष्णदेव जैसे त्यागी, सरल हृदयी, निष्काम प्रेमी और सभी जीवों को अपनी स्नेहांजलि भेंट करने वाले व्यक्ति को पागल मानने के लिए तैयार नहीं था।

"आप मान भी कैसे सकते थे क्योंकि आप तो स्वयं परख चुके थे।" निरंजन ने अपना मुंह खोला।

"नहीं, इसे परखना नहीं कह सकते। वह मेरी अल्प बुद्धि और श्रीरामकृष्णदेव की अपूर्व भक्ति भाव का अन्तर था जिसे मैं पाटने का प्रयास कर रहा था। इसी प्रयास में एक दिन मैंने श्रीरामकृष्ण के सम्मुख अपना चिर-परिचित सवाल रख दिया। मुझे भय भी था कि कहीं इन्होंने भी गोलमाल उत्तर दे दिया तो क्या होगा ? किन्तु उन्होंने तो बड़ी सहजता से कह दिया—'बेटा, मैंने भगवान को देखा है। मैं उन्हें इसी प्रकार स्पष्ट देखता हूं, जैसे कि तुम्हें देख रहा हूं। क्या तुम भी देखना चाहते हो ?'

मैं तो अवाक रह गया। मेरे मुंह से कोई शब्द नहीं निकल पाए। मुझे चुप हुआ देखकर वे पुनः बोले—'मैं भगवान को एक तीव्रतर अर्थ में देखता हूं; और तुम्हें भी उनके दर्शन करवा सकता हूं।'

मैं जानता था कि मार्ग और मार्ग बताने वाला, दोनों ही मुझे मिल रहे हैं, लेकिन मार्ग होगा बड़ा कठिन। श्रीरामकृष्णदेव जैसे प्रचण्ड भावभूमि पर प्रतिष्ठित गुरु के साथ पूर्ण आत्मसमर्पणता के साथ कठिन साधना में रत होना पड़ेगा। मैं तत्काल निर्णयात्मक स्थिति में नहीं था सो घर चला आया।

इसके बाद किन्हीं उलझनों के कारण मैं काफी दिन दक्षिणेश्वर नहीं जा पाया। श्रीरामकृष्णदेव व्याकुल होकर मुझे ढूंढ़ने ब्रह्म समाज की सभा में पहुंच गए। संयोगवश मैं वहीं बैठा था। ईश्वर की कथा चल रही थी कि एकाएक भावावेश में

श्रीरामकृष्णदेव वेदी के निकट पहुंच गए। वे वेदी के निकट गिरने ही वाले थे कि नरेन्द्र ने अपनी मजबूत बांहों में उनके भावाबद्ध शरीर को थाम लिया। नरेन्द्र को हैरानी हुई कि आचार्य क्या, किसी भी ब्रह्म ने श्रीरामकृष्णदेव से साधारण शिष्टता भी नहीं बरती। उन लोगों को पहले तो मानवता के नाते उठकर श्रीरामकृष्णदेव को सहारा देना चाहिए था....और यदि वे सहारा न भी देते तो कम-से-कम व्यंग्यात्मक लहजे में उन्हें अपनी कुंठाओं को व्यक्त करने की आवश्यकता नहीं थी।

श्रीरामकृष्णदेव समाधिस्थ हो चुके थे किन्तु मेरा मन मनुष्य को मनुष्य का सम्मान न करता देखकर विचलित था। इसी बीच वहां समाधिस्थ श्रीरामकृष्णदेव को देखने के लिए हलचल मच गई। लोगों को उन्हें देखने की उत्सुकता थी। ब्रह्म समाज के आयोजक ऊंचे स्वर में कह रहे थे कि यह श्रीरामकृष्णदेव का नाटक है, पाखण्ड है। लोगों पर जब उनके कहने का कोई असर नहीं हुआ तो आयोजकों ने उपासना गृह की बत्तियां गुल कर दीं। मैं इस अव्यवस्था के बीच बड़ी कठिनता से श्रीरामकृष्णदेव को बाहर ला पाया।

मैं ब्रह्मों के इस आचरण को देखकर क्षुब्ध था। ब्रह्म समाज से मेरा मोह और लगाव डगमगाने लगा। मैंने सोचा कि जब इस समाज के नियन्ताओं को इतना-सा ही ज्ञान नहीं है कि कौन-सा कर्म किस समय उपयुक्त है, तो इससे जुड़ा रहना बेकार है।

निरंजन बड़े ध्यान से नरेन्द्र (विवेकानन्द) की बातें सुन रहा था। उसके मस्तिष्क में कर्म के विषय में जिज्ञासा जगी और वह बोल पड़ा—"गुरुदेव, कर्म का स्वरूप क्या है ? ये कितने प्रकार के हैं ? कौन-सा कर्म किस समय उपयुक्त और कौन-सा अनुपयुक्त है ? यह विषय बड़ा जटिल है। बेचारे ब्रह्मों की बात छोड़िए, कभी-कभी तो महान कर्मयोगी भी इस विषय में धोखा खा जाते हैं।"

निरंजन का प्रश्न सुनकर विवेकानन्दजी का मुंह खिल उठा। वे मधुर स्वर में बोले—"गीता में भगवान कृष्ण ने इस विषय को स्पष्ट किया है—

कर्म्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्द्व्यं च विकर्म्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।। (गीता 4/17)

और तुम्हारी यह बात भी सच है **'किं कर्म्म किमकर्म्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः'**—समय और कर्म की उपयुक्तता और अनुपयुक्तता के विषय में प्रकाण्ड कर्मयोगी भी जाल में फंस जाते हैं, तो साधारणजन की तो बात ही और है। इस विषय में भगवान कृष्ण का कहना है कि कर्म का स्वरूप कर्म से पहचानो।"

"गुरुदेव, आप कृपया कर्म, अकर्म और विकर्म को समझाने का कष्ट करें।"

निरंजन का स्वर गूंजा।

"कर्मजाल चार भागों में बांटा गया है। विद्यासापेक्ष प्रवृत्तिसत्कर्म, विद्यानिरपेक्ष प्रवृतिसत्कर्म, शास्त्रप्रतिद्धाप्रतिषिद्ध अकर्म और शास्त्रप्रतिषिद्ध विकर्म।"

"क्या इसके अतिरिक्त कोई अन्य कर्म नहीं होता ?" सदानन्द ने प्रश्न किया।

"नहीं, विश्व में इन्हीं चार कर्मों का अन्तर्भाव होगा। पांचवा कर्म हो ही नहीं सकता।"

"कृपया अब आप इन चारों कर्मों का विश्लेषण करके हमें ज्ञान दीजिए।" निरंजन विनीत स्वर में बोला।

"तुम लोगों ने उपनिषदों का अध्ययन किया है। उसमें अव्यय पुरुष का विस्तृत प्रकरण है। वही अव्ययात्मा विद्याकर्ममय है। काममय मन के कारण कर्म का तीन कलाएं हो जाती हैं—विद्या, काम, कर्म। विद्याभाग शुद्ध विद्या है। इसमें कर्म अन्तःलीन होता है अर्थात् विद्यागर्भित कर्मभाग ही शुद्धकर्म है। काम भाग विद्याकर्म की साम्यावस्था है। कर्म भाग में प्राण-वाक् शुद्ध कर्म है और मध्य मन उभयात्मक है। हम इसी त्रिकाल के अंश हैं। इसीलिए ये तीनों भाग हममें निहित हैं।"

"यानी हम अव्ययात्मा के ही अंश हैं ?" सदानन्द सवाल कर बैठा।

"बिलकुल।"

"तो फिर हमारा उमसे योग क्यों नहीं हो पाता ?"

"काम-क्रोधादि के कारण। हम जिस दिन इन लिप्साओं से मुक्त हो जाएंगे, उस दिन—**'परेऽव्यये सर्व एकी भवन्ति'**, यानी उस अव्ययात्मा से युक्त हो जाएंगे।"

'इसके लिए तरीके क्या हैं ?"

"पहला तरीका है कि हम अपने शुद्ध विद्याभाग को उसके विद्याभाग से जोड़ दें। इसे ज्ञानयोग कहा जाता है। इसे ही सांख्य योग-सन्यास योग कहा जाता है। दूसरा तरीका यह है कि हम अपने कर्म भाग को उसके कर्म भाग से युक्त कर दें। इसे कर्मयोग कहते हैं। तीसरे तरीके में मध्यस्थ उभय भाग (मन) का उसके मध्यभाग (मन) से संयुक्त कर दें। यह भक्तियोग है। ये तीनों तरीके कर्मयोग हैं। विद्यायोग में शुद्धविद्या है। क्योंकि इसमें कर्मत्यागरूप सन्यास की प्रधानता है। यह विद्या आनन्द विज्ञानरूप अव्यय प्रधान है। यह कर्मजाल से बाहर की वस्तु समझी जाती है। हमारे ऋषिगण इसी के पालन की बात करते हैं। अब रही बात शुद्ध कर्म योग तथा विद्यायुक्त कर्मयोग की। ये दोनों ही हमारे विद्यासापेक्ष तथा विद्यानिरपेक्ष कर्म कहलाते हैं। विद्या सापेक्ष कर्म में यज्ञ, तप, दान आदि कर्म आते हैं। यही उपासना योग या भक्तियोग कहलाता है। इसी से

ज्ञानयोग की सिद्धि की प्राप्ति होती है। पार्थिव भूतसम्बन्धी सभी भौतिक कर्म विद्यानिरपेक्ष कर्म कहलाते हैं। विद्यानिरपेक्ष कर्मों के लिए पढ़ा-लिखा होना आवश्यक है।"

"क्या इनके लिए ज्ञान अपेक्षित नहीं है ?"

"इच्छा आपूर्ति दत्त इन कर्मों के लिए ज्ञान अपेक्षित तो है, किन्तु यहां ज्ञान गौण होगा तथा कर्म प्रधान। इसीलिए इन कर्मों का फल क्षर-निधि होती है। विद्या सापेक्ष कर्मों का फल अक्षय सम्पति होती है।"

"इस हिसाब से विद्यासापेक्ष एवं विद्यानिरपेक्ष दोनों ही कर्मयोग हैं ?" कृष्णलाल भी अपनी जिज्ञासा प्रकट कर बैठा।

"बिलकुल, ये दोनों प्रवृत्ति रूप हैं। पुत्र-धन-साम्राज्य आदि सुख भौतिक सुख हैं। इनकी इच्छा में मुक्ति का अभाव होता है। इनकी प्राप्ति के लिए भी यज्ञ-तप-दानादि कर्म किए जाते हैं। ऐसे विद्यासापेक्ष कर्म फल की दृष्टि से विद्या निरपेक्ष होते हुए क्रमशः विद्यानिरपेक्ष इष्ट-आपूर्त दत्त में ही अन्तर्भाव को प्राप्त हो जाते हैं। विद्या सापेक्ष कर्म होते हुए भी इनका फल अक्षय नहीं होता। क्योंकि ये प्रवृत्ति से जुड़ गए हैं। विद्या सापेक्ष कर्मों से अक्षय फल प्राप्त करना है तो प्रवृत्ति को हटाकर निवृत्ति का पालन करना होगा। तभी हम त्रिगुणभाव (सत्, रज, तम) से मुक्ति पाकर अपना कल्याण कर पाएंगे। ब्रह्म समाज के क्रियाकलापों को देखकर मैंने यही अनुभव किया था कि वे प्रवृत्तियों की ओर अधिक उन्मुख थे। लेकिन मुझे तो निवृत्ति की चाहना थी। ब्रह्म समाज के विद्वजनों ने जब श्रीरामकृष्णदेव से दुर्व्यवहार किया तो मैं समझ गया कि इन्हें कर्म और अकर्म का ज्ञान नहीं है, सो मैं उनसे किनारा कर गया और श्रीरामकृष्णदेव का भक्त बन गया।"

विवेकानन्द अपनी काया में लौटे और शिष्यों पर स्नेहिल दृष्टि डालकर उठे और कक्ष से बाहर निकल गए। सदानन्द ने निरंजन की पीठ ठोंकते हुए कहा—"वाह ! रे शेर। आज तो तू हमसे बाजी मार ले गया। क्या विषय मोड़ा कि गुरुदेव को हमें अमृत से छकाना ही पड़ा। आज बड़ी तृप्ति हुई। कर्म गंगा की धारा का स्रोत मिल गया।"

"मेरी भी बधाई है भाई निरंजन।"

सारे मित्र प्रसन्न थे। गुप्ता और अच्युतानन्द भी आनन्द सागर में बह रहे थे। निरंजन बोला—"मेरी एक इच्छा और भी है।"

"और क्या इच्छा है ? अभी तूने सुना नहीं प्रवृत्तियुक्त कर्मों का फल क्षयी होता है ?" गुप्ता ने निरंजन को टोका।

"मेरी इच्छा का फल अक्षय होगा।"

"ऐसी क्या इच्छा है भला तेरी ?" अच्युतानन्द ने पूछा।

"हमने गुरुदेव के पत्र पढ़े हैं न ?"

"पढ़े हैं।" सदानन्द बोला।

"तुमने देखा, उनमें कितनी जिज्ञासाएं प्रकट की गईं हैं। गुरुजी की वे जिज्ञासाएं निश्चित रूप से शान्त हुई होंगी।"

"समझा। उन्हीं जिज्ञासाओं को तू दोहराना चाहता है ?" सदानन्द निरंजन की बात समझ कर बोला।

"बिलकुल ठीक समझा है तू। मैं उन जिज्ञासाओं को मौका पाकर गुरुजी से धीरे-धीरे पूछूंगा।"

सभी मित्रगण शयनार्थ उठ खड़े हुए।

11

अगले दिन स्वामी विवेकानन्द अभी प्रातः कर्मों से निवृत्त हुए ही थे कि गुप्त ने आकर बताया कि कैप्टन सेव्हियर आए हैं। विवेकानन्द ने कैप्टन को अपने कक्ष में भेज देने के लिए कहा। कैप्टन ने प्रेम पूर्वक नमस्कार किया और विवेकानन्द के सम्मुख बैठ गये। विवेकानन्द शान्त बैठे हुए थे। कैप्टन बोले—"आपने मसूरी या उसके आसपास जगह दिखवा ली ? मैं चाहता हूं जल्दी-से-जल्दी आपके मिशन की शाखा के लिए भवन बनवा दूं।"

"मैंने इस विषय में ब्रह्मानन्द को पत्र लिखा है।"

"उन्हें कहें कि वे मठ से दो-तीन व्यक्तियों को भेजकर उपयुक्त स्थान चुन लें। स्थान ऐसा हो जो न अधिक ठण्डा हो और न अधिक गर्म। मेरी राय में देहरादून ठीक रहेगा।"

"लेकिन गर्मी में देहरादून असह्य हो जाता है।"

"और मसूरी ?"

"खास मसूरी जाड़े में सबके लिए उपयुक्त नहीं होगी। मेरे विचार में गढ़वाल राज्य में उपयुक्त स्थान मिल सकता है।"

"लेकिन वहां पानी की कमी हो सकती है। स्थान ऐसा होना चाहिए जहां आप लोगों को बारह महीने पानी प्राप्त हो सके। मैं ब्रह्मानन्दजी को इस विषय में पत्र

भेजता हूं और साथ ही खर्च भी ताकि वे तत्काल उपयुक्त स्थान की तलाश में निकल पड़ें। स्थान मिलते ही मैं उसे खरीद लूंगा और भवन बनवाने का कार्य शुरू करवा दूंगा। खर्च की सारी व्यवस्था मैं कर लूंगा, आप तो स्थान चयन करवा लें। आपको और आपकी विद्वता तथा सद्इच्छा को यह मेरी छोटी-सी भेंट होगी और साथ ही मेरा आपको दिया गया वचन भी पूरा हो जाएगा।"

"इस सद्कार्य के लिए आपकी तीव्र इच्छा का मैं आभारी हूं।"

"नहीं, नहीं, ऐसा कहकर मुझे लज्जित मत करिए। मेरा सहयोग तो आपके मिशन के लिए बूंद भी नहीं है। हां, किन्तु एक बात है कि आप लोगों की ओर से अनावश्यक देरी जरूर हो रही है। क्यों ? यह मैं नहीं समझ पाया। किसी शुभ काम में देर न हो तो उचित है।"

"इसी प्रकार तो सागर बनता है। देरी के लिए क्षमाप्रार्थी हूं। आप चिन्ता न करें। मैं पुनः ब्रह्मानन्दजी को पत्र लिखता हूं। आपको शीघ्र पक्का उत्तर मिलेगा।"

इसके बाद उन दोनों में कुछ देर अनौपचारिक बातें होती रहीं। सेव्हियर ने जाते समय विवेकानन्दजी से पूछा—"यहां आपको किसी भी प्रकार की कुछ आवश्यकता हो तो निःसंकोच मुझे सूचना भिजवा दीजिएगा।"

"मैं अपनों से संकोच नहीं करता।"

सेव्हियर चले गये। स्वामीजी दिन भर मठ के लिए धन संग्रह हेतु व्यस्त रहे। वे चाहते थे कि कलकत्ते का मठ हर दृष्टि से सम्पन्न हो क्योंकि वह बीज था। उनके शिष्यगण पूरे भारत में मठ-फंड के लिए धन एकत्र करने में लगे हुए थे। इसके साथ ही सेव्हियर जैसे उदार दाता भी जाग रहे थे जो मठ की शाखाओं के लिए दिल खोलकर दान देने के लिए तत्पर थे। लेकिन कई दान-दाता परम उद्देश्य से हटकर सांसारिक बातों को सामने लाकर विवेकानन्दजी को क्लांत और क्षुब्ध कर बैठते थे।

शाम को वे जब वापस लौटे तो उन्होंने स्वयं को थका हुआ पाया। भूख बिलकुल नहीं थी और हल्का-सा ज्वर भी हो आया था। शिष्यों ने उन्हें आराम करने के लिए कहा। लेकिन 'आराम' शब्द तो उनके शब्द कोष में था ही नहीं। इसी विषय को लेकर उनके मन में आया कि अपने साथ-साथ उन्होंने अपने गुरुभाइयों को भी थका डाला है, जो एक प्रकार से कटु व्यवहार ही है। तन की अस्वस्थता मन को व्यग्र कर देती है। मन में तरह-तरह के विचार उमड़ने लगते हैं। इस समय विवेकानन्द भी ऐसी ही स्थिति में से गुजर रहे थे। अपने मन को शान्त करने के लिए उन्होंने बेहतर समझा कि ब्रह्मानन्द को पत्र लिखा जाए।

मरी

11 अक्टूबर, 1897

अभिन्न हृदय,

आज तक कश्मीर में जो कार्य किया है, लगता है उसे मैंने किसी प्रकार के आवेश में किया है। उसका सम्बन्ध चाहे मन से रहा हो या शरीर से, अब मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि इस समय मैं और किसी कार्य के योग्य नहीं रह गया हूं। मैं यह अनुभव कर रहा हूं कि मैंने तुम लोगों के प्रति अत्यन्त कटु व्यवहार किया है। फिर भी मैं जानता हूं कि तुम सब मेरी बातों को सहन करोगे। मठ में इसको सहन करने वाला कोई दूसरा नहीं है। तुम्हारे साथ भी मेरा व्यवहार कटु रहा है, जो होना था; सो हो गया, भाग्य की बात है। मैं इसके लिए क्यों पछताऊं। उसमें मेरा विश्वास भी नहीं है....यह भी भाग्य की बात है। लगता है मां ने मुझसे जितना कार्य सम्पन्न करवाना था करवा लिया; और अब मेरे शरीर तथा मन का अपहरण करके मुझे त्याग दिया है। मां की जो इच्छा !

अब मैं इन तमाम कार्यों से मुक्ति ग्रहण करना चाहता हूं। दो-एक दिन के अन्दर सब कुछ त्याग कर अकेला ही कहीं चल दूंगा और चुपचाप कहीं शेष जीवन व्यतीत करूंगा। तुम लोग यदि चाहो तो मुझे क्षमा कर देना, अथवा जो इच्छा हो करना।

श्रीमती बुल ने अधिक धन प्रदान किया है। उनका शरत (स्वामी शारदानन्द) पर अधिक विश्वास है। शरत की सलाह से समस्त मठों की व्यवस्था करना, अथवा जो चाहो करना। किन्तु यह ध्यान रखना कि मैंने सदा वीर की तरह जीवन बिताया है। मेरा कार्य तड़ित जैसा क्षिप्र तथा वज्र जैसा अटल होना चाहिए। मैं अन्तिम समय तक ऐसा ही बना रहना चाहता हूं। अतः मेरे कार्य को सम्पन्न कर देना....हार-जीत के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं कभी संघर्ष में पीछे नहीं हटा हूं। हार-जीत प्रत्येक कार्य में अवश्यम्भावी है। किसी कार्य में कायरता क्यों दिखाई जाए ? मेरा विश्वास है कि कायर इस देह को छोड़कर निश्चित ही कृमि-कीट बनता होगा। कायरों का उद्धार तो युग-युगों तक तपस्या करने पर भी नहीं हो सकता। क्या मुझे भी कृमि-कीट के रूप में जन्म लेना होगा ?

मेरी दृष्टि में यह संसार एक खेल के सिवाय और कुछ नहीं है....और चिरकाल तक यह ऐसा ही रहेगा। सांसारिक मान-अपमान, लाभ-हानि को लेकर कब तक सोचना पड़ेगा ? मैं काम करना पसन्द करता हूं। लेकिन देखता हूं कि मात्र विचार-विमर्श हो रहा है। कोई कुछ परामर्श दे रहा है तो कोई कुछ। कोई भयभीत

हो रहा है, तो कोई आशंका से भर रहा है। मेरी राय में यह जीवन इतना मधुर नहीं है कि भयभीत होकर सावधानी के साथ इसकी रक्षा की जाए। धन, जीवन, बंधु-बांधव, मनुष्यों के स्नेह आदि को सिद्ध करने के लिए यदि कोई निःसंदिग्ध होकर कार्य करता है; और बीच ही में भयभीन हो जाता है तो जैसा कि श्रीगुरुदेव कहते थे कि ऐसे व्यक्ति से अधिक सयाना तो कौआ होता है। लेकिन मैं यह भी सोचता हूं कि धन, मठ-मन्दिर के प्रचार आदि की सार्थकता क्या है ? क्या समग्र जीवन का एक मात्र उद्देश्य शिक्षा नहीं है ? शिक्षा के बिना धन-दौलत, स्त्री-पुरुषों की आवश्यकता ही क्या है ?

कई लोग कहते हैं रुपयों का नाश हुआ या हार हुई। लेकिन मैं इन बातों को नहीं समझ पाता हूं और न समझना चाहता हूं। मैं तो उसे वीर या देवता मानता हूं जो कहे कि कुछ परवाह नहीं, कमर कसकर युद्ध किया गया....वाह ! बहादुर मैं तुम्हारे साथ हूं। में तो मात्र इसी बात को समझ पाता हूं और ऐसी बात कहने वाले नरदेव के चरणों में कोटिशः प्रणाम करता हूं। ऐसे ही लोग जगत पावन होते हैं और जगत का उद्धार करते हैं।

और जो लोग केवल यह कहते हैं—'अरे ! आगे मत बढ़ना, आगे डर है।' मेरी दृष्टि में डिस्पेपटिक हैं। ये प्रायः कायर होते हैं। लेकिन मां की कृपा से मुझमें इतना साहस है कि भयानक डिस्पेप्सिया के द्वारा भी मैं कभी कायर नहीं बन सकता। मुझे कायरों से कुछ नहीं कहना है। मैं तो इतना ही कहूंगा कि जो वीर इस संसार में महान कार्यो को करते हुए निष्फल हुए हैं, जिन्होंने कभी किसी कार्य से मुंह नहीं मोड़ा है, जिन लोगों ने भय एवं अहंकार के वशीभूत होकर कभी आदेश की अवहेलना नहीं की है, वे मुझे अपने चरणों में आश्रय दें। मैं शक्ति माता की सन्तान हूं। मेरी दृष्टि में मैले-कुचैले फटे वस्त्र के सदृश तमोगुण तथा नरक कुंड में कोई भेद नही है। दोनों समान हैं। मां जगदम्बे, हे गुरुदेव ! आप सदा मुझे वीर कहते थे। भाई, मेरी प्रार्थना है कि मुझे कायर बनकर मरना न पड़े। मुझे उम्मीद है—**'उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा।'** श्रीरामकृष्णदेव के दासानुदासों में से कोई न कोई मुझ जैसा अवश्य बनेगा, जो मुझे समझेगा।

मैं सोच रहा हूं कि मैंने हमेशा कहा है—'हे वीर, स्वप्न को त्याग कर जाग्रत हो। मृत्यु सिर पर खड़ी है....वह तुम्हें भयभीत न करे।' मैंने इसी बात को दृष्टि में रखते हुए कभी रण में पीठ नहीं दिखाई है। लेकिन जो मैंने आज तक नहीं किया, क्या आज वही होगा ? पराजय के भय से क्या मैं युद्ध क्षेत्र में पीछे हटूंगा ? पराजय तो अंग का आभूषण है। किन्तु क्या बिना लड़े ही हार मान लूं ?'

मां ! तारा ! हमारे मन में पूर्ण अहंकार है कि हम सब कुछ समझते हैं। लेकिन असलियत में ताल देने वाला तो एक भी व्यक्ति नहीं है। ऐसी स्थिति में मैं सब कुछ तुम्हारे लिए छोड़कर जा रहा हूं। मां यदि आप पुनः ऐसे व्यक्ति प्रदान करें, जिनके हृदय में साहस, हाथों में शक्ति तथा आंखों में अग्नि हो, जो जगदम्बा की सन्तान हों—यदि ऐसा एक भी व्यक्ति आप मुझे दें तो मैं काम करूंगा, पुनः लौटूंगा। अन्यथा मैं यह समझूंगा कि मां की इच्छा केवल इतनी ही थी। मैं अब प्रतीक्षा नहीं करना चाहता। मैं चाहता हूं कि कार्य शीघ्र हो, मुझे निर्भीक हृदयी व्यक्ति मिले।

शारदा बेचारे को मैंने बहुत-सी गालियां दी हैं। क्या करूं, मैं गालियां देता हूं, किन्तु मुझे भी तो बहुत कुछ कहना है। मैंने हांफते हुए, खड़े होकर उसके लिए लेख लिखा है। सब कुछ ठीक है, अन्यथा वैराग्य कैसे होगा ? क्या मां अन्त में मुझे इन्हीं झमेलों में फंसाना चाहती हैं। मैं सभी के समक्ष अपराधी हूं—जो उचित हो करना।

तुम सभी को मेरा आन्तरिक आशीर्वाद है। तुम्हारे अन्दर शक्ति रूप में मां का आविर्भाव हो....**'अभयं प्रतिष्ठम् ।'** मां तुम्हें अभय प्रदान करें। मैंने अपने जीवन में अनुभव किया है कि जो स्वयं सावधान रहना चाहता है, उसे पग-पग पर विपत्तियों का सामना करना पड़ता है। जो सम्मान से डरता है, उसकी अवमानना होती है। जो सदा नुकसान से घबराता है, उसके भाग्य में सदा नुकसान ही उपस्थित होता है। तुम लोगों का कल्याण हो....।

—विवेकानन्द

पत्र समाप्ति के उपरान्त विवेकानन्द अपने मन को मथते रहे। वे चाहते थे कि मठों का प्रचार-प्रसार द्रुत गति से हो। उनके गुरुभाई और शिष्यगण उनकी-सी तड़ित गति से आगे बढ़ें। लेकिन ऐसा नहीं हो पा रहा था। विवेकानन्द को दिन बहुत छोटा लगता।

अपने अशान्त मन को केन्द्रित करने के लिए उन्होंने समाधि में जाना अच्छा समझा।

प्रकृति शान्त थी....रात्रि का नीरव व्याप्त हो चुका था। विवेकानन्द पद्मासन लगा ध्यान-समाधि में डूब गए। उनके दिव्य चक्षु अखिल विश्व ब्रह्माण्ड को अनन्त स्पन्दन से युक्त हुए देख रहे थे और मन निरन्तर आगे और आगे बढ़ता जा रहा था। कुछ क्षण में उनकी दृष्टि विराट संचालन सत्ता पर पड़ी। ओह ! क्या आलोक था उस मंगलमय चैतन्यात्मा पुरुष का। उन्हें लगा कि अज्ञानांधकार रूपी सागर को मथकर वे ज्ञान रूपी अमृत तत्त्व देदीप्यमान आवच्छिन आलोक के समीप पहुंच गए

हैं। उन्हें आश्चर्य हुआ कि वह आलोक धीरे-धीरे अपनी अमृतमयी किरणों को बिखेर कर एक प्रखर पुरुष के रूप में बदल गया। विवेकानन्द के मुंह से निकला—'अरे ! गुरुदेव।' उनके सम्मुख श्रीरामकृष्णदेव अपनी चिर-परिचित मुस्कान लिए हुए खड़े थे। श्रीरामकृष्णदेव के मुंह से नाद झंकृत हुआ—"क्यों रे ! तू इतना निराश क्यों है ? अपने दीपक की बत्ती को ऊपर उठा और मन को भगवान पर लगा। तब तुझे अनन्त आनन्द मिलेगा। देह की चिन्ता छोड़ दे। उसे अपना काम करने दे। वह तो तुझे दान में मिली है जिसे एक दिन छोड़ना ही होगा। मन को सशक्त बना। आत्मा को जगा, जिसे मेरे पास लौटना है।"

"लेकिन...." विवेकानन्द ने कहना चाहा।

"लेकिन क्या ? दिव्य पुरुष के सम्मुख -'लेकिन' का क्या तात्पर्य होना है। तू रण से, संघर्ष से दूर जाना चाहता है। संघर्ष कहां नहीं है ? तू जानता है न, भगवान को भी सारे दिन, सारी रात जाग-जागकर अपनी सृष्टि की सेवा करनी पड़ती है। इसी से तो अन्य सभी निर्भय होकर सोते हैं। अब तू बता कि तुझे विश्राम कैसे मिल सकता है ? कहां भागेगा तू ? जिसने एक बार मुझमें मन रमा लिया, उसमें मैं समाहित हो जाता हूं। मैं तुझमें हूं और तू मुझमें है....समझा।"

विवेकानन्द ने देखा कि श्रीरामकृष्णदेव पुनः अमृतमयी किरणों के रूप में बिखर कर तेज पुंज बन गए हैं।

कुछ समय पश्चात् विवेकानन्द समाधि से जागे। उनका तन और मन प्रफुल्लित था। मन, जो काल रात्रि की ओर खिसक रहा था, अब फिर नई उमंग से प्राची दिशा की ओर उन्मुख हो चला। उनके मस्तिष्क में विचार तरंगें कौंधी।

यं विषाक्षेऽभिभवति विक्रमे समुपस्थिते।
तेजसा तस्य हीनसा पुरुषार्थो न विद्यंते।।

(वनपर्व 216/24व 25)

न विषादे मनः कार्य विषादो विष मुत्तमम्।
मारयत्यकृतप्रज्ञं बालक्रुद्धं इवोरगम।।

सच ही तो है विषाद मूर्ख को मार डालता है। विषाद विक्रमोचित काल में व्यक्ति को दबोच कर तेजोहीन कर डालता है और उसका पुरुषार्थ नष्ट कर देता है। विषाद ने ही तो अर्जुन जैसे प्रखर और तेजोमय गांडीवधारी को किंकर्त्तव्यविमूढ़ बना दिया था। इसी कारण कृष्ण को कहना पड़ा—

यत्र नैव शरैः कार्य न मृत्यैर्नच बन्धुभिः।
आत्मनैकेन योद्धव्यं तत्तेयुद्धमुपास्थितम्।।

मुझे प्रतिपल चलने वाले जीवन संग्राम को भावुकता की चपेट में आने से बचाना होगा और कर्मरूपी नित्य समाधि में रत होना पड़ेगा। कौरव-पांडवों के बीच में मात्र कृष्ण थे....उन्होंने अपनी सहायतार्थ अन्य कृष्ण की कभी कामना नहीं की ....फिर मैं ही अपने को सौंपे हुए कार्य को सम्पन्न करने के लिए अपने समान कर्मशील व्यक्तियों की कामना क्यों करूं ? क्या मैं इस रथ को अकेला नहीं खींच सकता ? मैं कामना क्यों कर बैठा कि सभी विवेकानन्द बनें ? क्या यह सम्भव है ? अकेले द्रोणाचार्य ने सैकड़ों शिष्यों को शिक्षा दी, किन्तु अर्जुन तो एक ही पैदा हुआ न ? संदीपनीं आश्रम में कइयों ने शिक्षा पाई होगी पर कृष्ण तो एक ही उपजा न ? फिर विषाद किस बात का ? मैं अपने विषाद से अपने सहयोगियों को और ले डूबूंगा। अर्जुन की किंकर्त्तव्यविमूढ़ता की दशा में उसकी पूरी सेवा को भी लकवा मार गया था। नहीं, मैं इस उदासीन दशा में नहीं जाऊंगा। मैं गीता का अराधक हूं। इस नाते श्रीरामकृष्णदेव और अपने शिष्यों की कार्य क्षमता पर अविश्वास करना क्या ईश्वर पर अविश्वास करना न होगा ?

यद्यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवाव गच्छं त्वं मम् तेजोश सम्भवम्।। (10/41)

सभी ऊर्जित पदार्थों में भगवद्शक्ति ही विद्यमानता है। ईश्वर विश्व के घट-घट में विद्यमान है, विश्व के समस्त पदार्थों में उसका अंश विद्यमान है। यहां क्षण-क्षण में विलक्षण रूप धारण करने वाले जीवों के अन्तःस्थल में विद्यमान एकरूपता तथा अनेकता की एकता की सत्यता को नकार कर कर्मक्षेत्र से पीछे हटना नपुंसकता होगी।

विचारों की तरंग में बहते-बहते विवेकानन्द ने किनारा पाया और संकल्प लिया....'मुझे आगे बढ़ना है, और आगे बढ़ना है।'

इसी के अनुरूप वे मरी से रावलपिंडी और जम्मू से होते हुए सियालकोट पहुंचे। प्रत्येक स्थान पर विद्वजनों और जनता के आग्रह पर उनके व्याख्यान हुए। लोगों को उन्होंने अपनी वाणी से अभिभूत कर डाला। रावलपिंडी में लाला हंसराज ने उनकी खातिरदारी की और उनके परम भक्त बन गए।

उन्होंने अपने सम्बन्ध की निरन्तरता स्वामी ब्रह्मानन्द से बना रखी थी और मठ (कलकत्ता) उनके निर्देशानुसार कार्य कर रहा था। उनके कुछ शिष्य निर्देशानुसार जा चुके थे और कुछ अन्य आकर उनसे जुड़ चुके थे।

सियालकोट में प्रथम दिन व्यतीत हुआ। वे शीघ्र लाहौर पहुंचना चाहते थे। उन्होंने सदानन्द से पूछा—"लाहौर की तैयारी है ?"

"हमारी ओर से कोई ढील नहीं है किन्तु जनता का आग्रह ठुकरा पाएंगे क्या आप ?"

"नहीं, भक्तगण ही तो मेरा सम्बल है। लेकिन मैं जनता का आग्रह पूरा कर चुका हूं न। भक्तगणों के सम्मुख बोल चुका हूं।"

"जनता का आग्रह है कि आप 'भक्ति' पर प्रवचन दें, किन्तु वे इस बार अंग्रेजी नहीं, हिन्दी में आपका प्रवचन सुनना चाहते हैं।"

"ठीक है।"

स्वामीजी की सहमति पाकर भक्तगण प्रसन्न हुए। उनके व्याख्यान की व्यवस्था की गई। अनेकों नामी-गिरामी लोग भी इस गेरुए वस्त्रधारी की वाणी का रस्वादन करने पधारे। महिलाएं भी काफी मात्रा में थीं। उनका व्याख्यान शुरू होने से पहले कुछ लोगों का कहना था—'स्वामीजी, बड़ा गूढ़ विषय उठाने जा रहे हैं। देखें, 'भक्ति' को किधर ले जाते हैं। 'भक्ति' को लेकर समाज बंट रहा है, लोग बंट रहे हैं, देश बंट रहे हैं। देखें ये क्या कहते हैं।'

ठीक समय पर विवेकानन्द पधारे। उनके तेजस्वी मुख और उन्नत भाल पर सबकी दृष्टि टिक गई। भक्ति की महिमा पर एक श्लोक बोलकर उन्होंने प्रवचन आरम्भ किया।

"प्रियजनो—

संसार में जितने धर्म हैं, उनकी उपासना प्रणालियों में विभिन्नता होते हुए भी वस्तुतः एक हैं। किसी-किसी स्थान पर लोग मन्दिरों का निर्माण करके उन्हीं में उपासना करते हैं। कुछ लोग अग्नि की उपासना करते हैं; किसी-किसी स्थान में लोग मूर्तिपूजा करते हैं, तो कहीं पर कितने ही व्यक्ति ईश्वर के अस्तित्व में ही विश्वास नहीं रखते। ये सब ठीक हैं, इन सबमें प्रबल विभिन्नता विद्यमान है। लेकिन यदि प्रत्येक धर्म के सार, उनके मूल तथ्यों,उनके वास्तविक सत्यों को परखें, तो वे सर्वथा अभिन्न होंगे। संसार में इस प्रकार के धर्म भी हैं जो ईश्वरोपासना की आवश्यकता को नहीं समझते, यही क्या; वे ईश्वर का अस्तित्व भी स्वीकार नहीं करते। लेकिन आप देखेंगे, ये सभी धर्मावलम्बी साधु-महात्माओं की ईश्वर की भांति उपासना करते हैं। बौद्ध-धर्म इस बात के उल्लेखनीय उदाहरण है। भक्ति सभी धर्मों में है। कहीं ईश्वर भक्ति है, तो कहीं महात्माओं के प्रति भक्ति का आदेश है। सभी जगह इस भक्तिरूप उपासना का सर्वोपरि प्रभाव देखा जाता है। ज्ञान लाभ की अपेक्षा भक्ति लाभ प्राप्त करना सहज है। ज्ञान लाभ करने में कठिन अभ्यास और अनुकूल परिस्थितियों की आवश्यकता होती है। शरीर सर्वथा स्वस्थ एवं रोगशून्य न होने से

तथा मन सर्वथा विषयों से अनासक्त न होने से योग का अभ्यास नहीं किया जा सकता है। किन्तु भक्ति साधना की सभी अवस्थाओं के लोग बड़ी सरलता से कर सकते हैं।

भक्तिमार्ग के आचार्य शाण्डिल्य ऋषि ने कहा है कि ईश्वर के प्रति अतिशय अनुराग को भक्ति कहा जाता है। प्रह्लाद ने भी यही बात कही है। यदि किसी व्यक्ति को एक दिन भोजन न मिले तो उसे कितना कष्ट होता है। सन्तान की मृत्यु होने पर व्यक्ति को कैसी यातना मिलती है ! जो भगवान के वास्तविक भक्त होते हैं, उनके प्राण भगवान के विरह में ऐसे ही कलपते हैं। भक्ति में सबसे बड़ा गुण यह होता है कि उसके द्वारा चित्त शुद्ध हो जाता है और मन परमेश्वर के प्रति दृढ़ भक्ति-भावना से भर उठता है। **'नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्तिः'** (श्रीकृष्णचैतन्य) हे भगवान, तुम्हारे असंख्य नाम हैं और तुम्हारे प्रत्येक नाम में गम्भीर अर्थ गर्भित है। तुम्हारे नाम का उच्चारण करने के लिए स्थान, काल आदि किसी भी चीज का विचार करना आवश्यक नहीं है। हमें सदा मन में ईश्वर का चिंतन करना चाहिए और इसके लिए स्थान, काल का विचार नहीं करना चाहिए।

ईश्वर विभिन्न साधकों के द्वारा विभिन्न नामों से उपासित होते हैं। लेकिन यह भेद केवल दृष्टि मात्र का है, वास्तव में कोई भेद नहीं है। कुछ लोग सोचते हैं कि हमारी साधना प्रणाली अधिक कार्यकारी है, और अन्य अपनी साधना प्रणाली को ही मुक्ति पाने का सर्वाधिक सक्षम उपाय बताते हैं। किन्तु यदि दोनों की मूल भित्ति का अनुसंधान किया जाए तो पता लगेगा कि दोनों ही एक हैं। शैव शिव को ही सबसे अधिक शक्तिशाली मानते हैं। वैष्णव विष्णु को सर्वशक्तिमान समझते हैं। देवी के उपासकों के लिए देवी ही जगत में सर्वशक्तिशालिनी हैं। प्रत्येक उपासक अपने सिद्धान्त के अतिरिक्त और किसी बात का विश्वास ही नहीं करता. किन्तु यदि मनुष्य को स्थायी भक्ति को प्राप्त करना है तो उसे यह द्वेष बुद्धि त्यागनी ही होगी। भक्तिपथ का सबसे बड़ा बाधक द्वेष है। जो मनुष्य इसे छोड़ पाएगा, वही ईश्वर को पा सकेगा। द्वेष त्यागकर ही इष्टनिष्ठा हो सकती है। भक्तश्रेष्ठ हनुमान ने कहा है—

श्रीनाथे जानकीनाथे अभेदः परमात्मनि।
तथापि मम सर्वस्वं रामः कमललोचनः।।

कि मैं जानता हूं, जो परमात्मा लक्ष्मी पति हैं, वे ही जानकी पति हैं, तथापि कमल लोचन राम ही मेरे सर्वस्व हैं।

प्रत्येक मनुष्य का स्वभाव जन्म से ही औरों की अपेक्षा भिन्न होता है और

उसका यह स्वभाव उसके साथ ही बना रहेगा। समस्त संसार कभी और किसी समय भी एक धर्मावलम्बी नहीं हो सकता। इसका कारण भावों में विभिन्नता ही है। ईश्वर करे, संसार कभी भी एक धर्मावलम्बी न हो। यदि कभी ऐसा हो जाए तो संसार का सामंजस्य नष्ट होकर विशृंखलता उत्पन्न हो जाएगी। अस्तु मनुष्य को अपनी ही प्रकृति का अनुसरण करना श्रेयस्कर है।

यदि मनुष्य को ऐसे गुरु मिल जाएं, जो उसको उसी के भावनारूप मार्ग पर अग्रसर करने में सहायक हों, तो वह मनुष्य उन्नति करने में समर्थ होगा। उसको उन्हीं भावों की साधना करनी होगी जिन्हें वह चाहता है। जो व्यक्ति जिस पथ पर चलने की इच्छा करे, उसे उसी पथ पर चलने देना चाहिए। यदि हम उसे दूसरे मार्ग पर घसीटने का यत्न करेंगे तो वह अपने पास जो कुछ रखे हुए है, उसे भी खो बैठेगा और इसके बाद वह किसी काम का न रहेगा। जिस भांति एक मनुष्य का चेहरा दूसरे मनुष्य के चेहरे से भिन्न होता है, उसी प्रकार हर मनुष्य की प्रकृति भी अलग-अलग होती है। किसी मनुष्य को उसकी प्रकृति के अनुसार ही चलने देने में कठिनाई क्या है ? एक नदी एक ओर बहती है—यदि उसके बहाव को ठीक करके समान दिशा की ओर बहाया जाए तो इससे उसकी धारा अधिक तेज हो जाएगी और वेग भी बढ़ जाएगा। किन्तु यदि इसी नदी के अस्वाभाविक प्रवाह की दिशा में बदलाव लाया जाए यानी उसे दूसरी दिशा में बदलने की कोशिश की जाएं, तो आप देखेंगे कि उसका परिमाण क्षीण हो जाएगा और उसका वेग भी कम हो जाएगा।

यह जीवन एक बड़े महत्त्व की चीज है। अतः इसे इसके भावों के अनुसार चलाना उत्तम है। भारत में विभिन्न धर्मों में कभी विरोध नहीं था, वरन प्रत्येक धर्म स्वाधीन भाव से अपना कार्य करता रहा, इसलिए यहां अभी तक यथार्थ धर्मभाव बना रहा है। हमें यह बात भी ध्यान में रखनी है कि विभिन्न धर्मों में तब विरोध उत्पन्न होता है, जब मनुष्य यह विश्वास कर लेता है कि सत्य का मूलमन्त्र मेरे पास ही है; और जो मनुष्य मुझ जैसा विश्वास नहीं करता, वह मूर्ख है। इस पर दूसरा व्यक्ति सोचता है कि अमुक व्यक्ति ढोंगी है, क्योंकि यदि ऐसा न होता, तो वह मेरा अनुगमन करता।

यदि ईश्वर की यह इच्छा होती कि सभी लोग एक ही धर्म का पालन करें तो इतने विभिन्न धर्मों की उत्पत्ति क्यों होती ? सभी लोगों को एक धर्मावलम्बी बनाने के लिए अनेक प्रकार की चेष्टाएं हुईं, किन्तु इससे कोई लाभ नहीं हुआ। जिस स्थान पर तलवार के जोर पर लोगों को एक धर्मावलम्बी बनाने की कोशिशें हुईं वहां दस

धर्मों की उत्पत्ति हो गई....इतिहास में इस बात के प्रमाण हैं।

क्रिया तथा प्रतिक्रिया, इन दो शक्तियों से मनुष्य मननशील हुआ है। यदि इन शक्तियों का प्रयोग मन पर न होता तो मनुष्य कुछ सोच ही न सकता, इतना ही क्यों, वह मनुष्य ही नहीं कहा जा सकता। मनुष्य मननशील प्राणी है, वह मनयुक्त है। 'मन' धातु से मनुष्य शब्द बनता है, मनुष्य शब्द का अर्थ है—मननशील। मननशीलता की शक्ति के लोप हो जाने पर मनुष्य और एक साधारण पशु में कोई अन्तर नहीं रह पाएगा। ऐसे मनुष्य को देखकर सबके हृदय में घृणा का उद्रेक होगा।

ईश्वर करे, भारतवर्ष में कभी ऐसी दशा उत्पन्न न हो। अतः हमें मनुष्यत्व कायम रखने के लिए एकत्व में अनेकता की आवश्यकता है। सभी विषयों में इस अनेकत्व या विविधता की आवश्यकता है, कारण कि जितने दिन यह अनेकत्व रहेगा, उतने ही दिन जगत का अस्तित्व भी रहेगा। अनेकत्व या विविधता कहने से यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि उनमें छोटे-बड़े का अन्तर है। यदि सभी लोग जीवन के अपने-अपने कार्यों को समान अच्छाई के साथ करते रहें तभी विविधता बनी रहेगी। सभी धर्मों में अच्छे-अच्छे लोग हैं, इसलिए सभी धर्म लोगों की श्रद्धा को अपनी ओर आकर्षित करते हैं, अतएव किसी भी धर्म मे घृणा करना उचित नहीं है।

यहां पर यह प्रश्न उठ सकता है—जो धर्म अन्याय की पुष्टि करे, क्या उस धर्म के प्रति भी सम्मान दिखाना होगा ? अवश्य ही इस प्रश्न का उत्तर 'नहीं' के सिवा दूसरा क्या हो सकता है ? ऐसे धर्म को जितनी जल्दी दूर किया जा सके, उतना ही अच्छा है, कारण कि उससे लोगों का अमंगल होगा। नैतिकता के ऊपर ही सब धर्मों की भित्ति प्रतिष्ठित है, सदाचार को धर्म की अपेक्षा भी उच्च स्थान देना होगा। यहां पर भी समझ लेना चाहिए कि आचार का अर्थ बाह्य और आभ्यंतरिक दोनों प्रकार की शुद्धि से है। अन्न-जल तथा अन्यान्य शास्त्रोक्त वस्तुओं के प्रयोग से शारीरिक शुद्धि हो मकती है, आभ्यन्तर शुद्धि के लिए मिथ्या भाषण, सुरापान एवं अन्य गर्हित कार्यों का त्याग करना होगा, साथ ही परोपकार भी करना होगा। केवल मद्यपान, चोरी, जुआ, झूठ बोलना आदि असत् कार्यों के त्याग से काम नहीं चलेगा। इतना तो प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है। लेकिन इतना करने से मनुष्य प्रशंसा का पात्र नहीं हो जाता है। उसे अपने कर्त्तव्यपालन के साथ-साथ दूसरों की कुछ सेवा भी करनी चाहिए। जैसे तुम अपना आत्म कल्याण करते हो, वैसे दूसरों के आत्मकल्याण की चिन्ता भी करनी चाहिए।

अब मैं बाह्य शुद्धि के रूप में भोजन के नियमों के सम्बन्ध में कुछ कहना चाहता हूं। इस समय भोजन की समस्त प्राचीन विधियों का लोप हो चुका है। लोगों

में एक यही धारणा है कि 'इसके साथ मत खाओ और उसके साथ मत खाओ।' सैकड़ों वर्ष पूर्व भोजन सम्बन्धी जो सुन्दर नियम थे, उनके बदले आज केवल छुआछूत का नियम ही बचा है। शास्त्र में भोजन के तीन दोष लिखे हुए हैं—प्रथम है जाति दोष, जो खाद्य पदार्थ स्वभाव से ही अशुद्ध है; जैसे प्याज, लहसुन आदि। यह जाति दोष खाद्य हुआ। जो व्यक्ति इन चीजों को अधिक मात्रा में खाता है, उसमें काम वासना बढ़ती है और वह ऐसे अनैतिक कार्यों की ओर प्रवृत्त हो सकता है, जो ईश्वर और मनुष्य की दृष्टि में घृणित हैं। इसके बाद आता है—निमित्त दोष। गन्दे तथा कीड़े-मकोड़ों द्वारा दूषित किए गए आहार को निमित्त दोषयुक्त माना जाता है। इस दोष से छुटकारा पाने के लिए ऐसे स्थान में भोजन करना होगा, जो साफ-सुथरा हो; और अन्तिम दोष है—आश्रय दोष। यदि खाद्य पदार्थ दुष्ट व्यक्ति द्वारा छुआ गया हो तो वह भी त्याज्य है। कारण, कि इस प्रकार का अन्न खाने से मन में अपवित्र भाव उत्पन्न होते हैं। ब्राह्मण की सन्तान होने पर भी यदि कोई व्यक्ति लम्पट एवं कुकर्मी हो, तो उसके हाथ का भोजन नहीं खाना चाहिए।

इस समय इन सब बातों के यथार्थ उद्देश्य पर किसी का ध्यान नहीं है। इस समय तो केवल इस बात का हठ है कि चाहे कोई व्यक्ति कितना ही ज्ञानी एवं पवित्र आचरण का क्यों न हो, किन्तु यदि वह ऊंची जाति का नहीं है तो हम उसके हाथ का छुआ भोजन नहीं खाएंगे। लेकिन दूसरी ओर इस बात पर कोई ध्यान नहीं देता कि हलवाई की दूकान पर क्या हो रहा है। आप किसी हलवाई की दूकान पर जाइए, आप देखेंगे कि मक्खियां भिनभिनाती हुई सभी चीजों पर बैठ रही हैं। रास्ते की मिट्टी भी उड़कर मिठाई के ऊपर पड़ रही है और हलवाई के कपड़े भी साफ-सुथरे नहीं हैं। क्यों नहीं, सभी खरीददार मिलकर हलवाई से कहते कि दूकान में शीशा लगाए बिना हम मिठाई नहीं खरीदेंगे। ऐसा करने से मक्खियां खाद्य पदार्थ पर नहीं बैठ सकेंगी एव अपने साथ हैजा तथा अन्यान्य संक्रामक बीमारियों के कीटाणु नहीं ला सकेंगी। भोजन के नियमों में हमे सुधार करना चाहिए। किन्तु हम तो उन्नति न करके अवनति के मार्ग की ओर ही क्रमशः अग्रसर हुए जा रहे हैं। मनुस्मृति में लिखा है—जल में नहीं थूकना चाहिए, किन्तु हम नदियों में मैला फेंकते हैं। इन सब बातों के विवेचन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि बाह्य शौच की विशेष आवश्यकता है। शास्त्रकार भी इन बातों को भली भांति से जानते थे। लेकिन इस समय इन सब बातों, पवित्र-अपवित्र विचारों का असली उद्देश्य लुप्त हो गया है। इस समय उन बातों का आडम्बर मात्र शेष है। चोरों, लम्पटों, मतवालों और अपराधियों को हम लोग जाति बन्धु स्वीकार कर लेंगे, किन्तु यदि एक उच्चजातीय मनुष्य किसी नीच जाति के

व्यक्ति के साथ, जो उसी के समान सम्माननीय है, बैठकर भोजन कर ले, तो वह सदा के लिए पतित मान लिया जाएगा और उसे जातिच्युत कर दिया जाएगा। यह प्रथा हमारे देश के लिए विनाशकारी सिद्ध हुई है। अस्तु यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि पापी के संसर्ग से पाप और साधु के संसर्ग से साधुता आती है। सो असत् संसर्गों का दूर से ही परिहार करना बाह्य शौच है।

आभ्यन्तरिक शुद्धि कहीं अधिक दुस्तर कार्य है। आभ्यन्तरिक शुद्धि के लिए सत्य भाषण, निर्धन, विपन्न और अभावग्रस्त व्यक्तियों की सेवादि की आवश्यकता है। लेकिन क्या हम सर्वदा सत्य बोलते हैं। अक्सर होता यह है कि कोई मनुष्य अपने किसी काम के लिए किसी धनी व्यक्ति के मकान पर जाता है और उसे 'गरीब परवर', 'दीनबन्धु' आदि बड़े-बड़े विशेषणों से विभूषित करता है, चाहे वह धनी व्यक्ति अपने मकान पर आए हुए किसी गरीब व्यक्ति का गला ही क्यों न काटता हो। अतः ऐसे धनी व्यक्ति को गरीव परवर, दीनबन्धु कहना स्पष्ट झूठ है। हम ऐसी बात कह कर अपने मन को मलिन करते हैं। इसलिए शास्त्रों में लिखा है, कि यदि कोई व्यक्ति बारह वर्ष तक सत्यभाषणादि के द्वारा चित्त शुद्धि करे और बारह वर्ष तक उसके मन में कोई बुरे विचार नहीं आए तो वह जो कहेगा, वही सत्य निकलेगा। सत्य में ऐसी अमोघ शक्ति है।

जिसने बाह्य और आभ्यन्तरिक शुद्धि की है, वही भक्ति का अधिकारी है। भक्ति की विशेषता यह है कि वह मन को शुद्ध कर देती है। यद्यपि यहूदी, मुसलमान और ईसाई बाह्य शौच को हिन्दुओं की तरह विशेष महत्त्व नहीं देते, तथापि वे भी बाह्य शौच का किसी-न-किसी तरह अवलम्बन तो करते ही हैं। उन्हें भी मालूम हो गया है कि बाह्य शौच की किसी-न-किसी परिमाण में आवश्यकता तो है ही। यहूदियों में मूर्तिपूजा निषिद्ध थी, पर उनका भी एक मन्दिर था। उस मन्दिर में 'आर्क' नाम की सन्दूक रखी हुई थी। उस सन्दूक के अन्दर 'मूसा' के दस ईश्वरादेश सुरक्षित रखे हुए थे। इस सन्दूक के ऊपर विस्तारित पंखों से युक्त दो स्वर्गीय दूतों की मूर्तियां बनी हुई थीं; और उनके ठीक मध्य में वे बादल के रूप में ईश्वर के आविर्भाव का दर्शन करते थे। बहुत दिन हुए, यहूदियों का वह प्राचीन मन्दिर नष्ट हो गया। उनके नए मन्दिरों की रचना ठीक इसी पुरानी पद्धति से हुई है। इन मन्दिरों में सन्दूकों के भीतर धर्म पुस्तकें रखी जाती हैं।

रोमन कैथोलिक और यूनानी ईसाइयों में भी कुछ रूपों में मूर्तिपूजा प्रचलित है। वे ईसा और उनके माता-पिता की मूर्तियों की पूजा करते हैं। प्रोटेस्टेन्टों में मूर्तिपूजा नहीं है, किन्तु वे भी व्यक्ति विशेष मानकर ईश्वर की उपासना करते हैं।

यह भी मूर्तिपूजा का रूपान्तर मात्र है। पारसियों और ईरानियों में अग्नि-पूजा खूब प्रचलित है। मुसलमान अच्छे-अच्छे पीरों-फकीरों की पूजा करते हैं और नमाज के समय काबे की तरफ मुंह करते हैं। यह सब देखकर जान पड़ता है कि धर्म साधना की प्रथमावस्था में मनुष्य को कुछ बाह्य अवलम्बनों की आवश्यकता पड़ती है। जिस समय मन खूब शुद्ध हो जाता है, उस समय सूक्ष्म से सूक्ष्म विषयों में चित्त एकाग्र करना सम्भव हो सकता है।

जब जीव ब्रह्म से एकत्व करने का प्रयत्न करता है, तो वह सर्वोत्तम है। जब ध्यान का अभ्यास किया जाता है, तो वह मध्यम कोटि है। जब नाम का जप किया जाता है, तो वह निम्न कोटि है और बाह्य पूजा निम्नातिनिम्न है।

उत्तमो ब्रह्मसद्भावो ध्यानभावस्तु मध्यमः।
स्तुतिर्जपोऽधमो भावो बाह्यपूजाधमाधमा।।

(महानिर्वाणतंत्र 14/122)

किन्तु इस स्थान पर यह अच्छी तरह समझ लेना होगा कि बाह्य पूजा के निम्नातिनिम्न होने पर भी उसमें कोई पाप नहीं है, जो व्यक्ति जैसी उपासना करता है, उसके लिए वही ठीक है। यदि उसे उसके पथ से निवृत्त किया गया तो वह अपने कल्याण के लिए, अपनी सिद्धि के लिए किसी दूसरे मार्ग का निर्धारण करेगा। इसलिए जो मूर्तिपूजा करते हैं, उनकी निन्दा करना उचित नहीं है। वे उन्नति के लिए जिस सीढ़ी पर चढ़ें, वही उनके लिए आवश्यक है। ज्ञानीजनों को इन सब व्यक्तियों को अग्रसर होने में सहायता देनी चाहिए। किसी भी उपासना प्रणाली को लेकर झगड़ा करने की आवश्यकता नहीं है।

कुछ लोग धन और कोई पुत्र की प्राप्ति के लिए ईश्वर की आराधना करते हैं और अपने को भागवत समझते हैं, किन्तु यह वास्तविक भक्ति नहीं है। ऐसे लोग सच्चे भागवत भी नहीं है। यदि वे सुन लें कि अमुक स्थान पर कोई साधु आया है और वह तांबे से सोना बनाता है, तो वे दल के दल के रूप में वहां एकत्रित हो जाएंगे, तिस पर भी वे अपने को भागवत कहने में लज्जित नहीं होते। पुत्र प्राप्ति के लिए ईश्वरोपासना को भक्ति नहीं कह सकते, स्वर्ग लाभ के लिए ईश्वर को भजना भक्ति नहीं कहलाई जा सकती, यहां तक कि नरक की यंत्रणा से मुक्ति पाने के लिए ईश्वरोपासना को भी भक्ति नहीं कहा जा सकता। भय या लोभ से उपजी भक्ति असली भक्ति नहीं है। सच्चे भागवत वे हो सकते हैं, जो कह सकें—'हे जगदीशवर ! मैं धन-जन, परमसुंदरी अथवा पाण्डित्य कुछ भी नहीं चाहता। हे ! *ईश्वर, में प्रत्येक जन्म में आपकी अहेतुकी भक्ति चाहता हूं।*

न धनं न जनं न सुन्दरी कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि।।

जिस समय यह अवस्था प्राप्त होती है, उस समय मनुष्य सब चीजों में ईश्वर को तथा ईश्वर में सब चीजों को देखने लगता है। उसी समय उसे पूर्ण भक्ति की प्राप्ति होती है। उसी समय वह ब्रह्मा से लेकर कीटाणु तक में विष्णु के दर्शन करता है। तभी वह पूरी तरह समझ सकता है कि ईश्वर के अतिरिक्त संसार में और कुछ नहीं है; और केवल तभी वह अपने को हीन से हीन समझ कर यथार्थ भक्त की भांति ईश्वर की उपासना करता है। उस समय उसमें बाह्य अनुष्ठान एवं तीर्थयात्रा आदि की प्रवृत्ति नहीं रह जाती—वह प्रत्येक मनुष्य को ही यथार्थ देव मन्दिर स्वरूप समझता है।

शास्त्रों में भक्ति का नाना प्रकार से वर्णन किया गया है। हम ईश्वर को अपना पिता कहते हैं। इसी प्रकार हम उसे माता भी कहते हैं। हम लोगों में भक्ति की भावना दृढ़ हो, इसलिए इन सम्बन्धों की कल्पना की गई है ताकि हम ईश्वर से अधिक सान्निध्य और प्रेम का अनुभव कर सकें। ये शब्द अत्यन्त प्रेमपूर्ण हैं। सच्चे धार्मिक लोग ईश्वर को अपने प्राणों से भी अधिक प्यार करते हैं। इसलिए वे उसे माता-पिता कहे बिना नहीं रह सकते।

रासलीला में राधा और कृष्ण की कथा लीजिए। यह कथा भक्त के यथार्थ भाव को व्यक्त करती है, क्योंकि संसार में स्त्री-पुरुष के प्रेम से अधिक प्रबल प्रेम कोई दूसरा प्रेम नहीं हो सकता। जहां इस प्रकार का प्रबल अनुराग होता है, वहां कोई भय, कोई वासना या कोई आसक्ति नहीं रह सकती....केवल एक अच्छेद्य बंधन दोनों को तन्मय कर देता है। माता-पिता के प्रति सन्तान का जो प्रेम है, वह भय मिश्रित है, कारण कि उनके प्रति उसकी श्रद्धा भावना रहती है। ईश्वर सृष्टि रचता है या नहीं, वह हमारी रक्षा करता है या नहीं, इस सबसे हमारा क्या मतलब है ? और इसकी हम चिन्ता क्यों करें ? वह हम लोगों का प्रियतम, आराध्य देवता है, अतः भय की भावना त्याग कर हमें उसकी उपासना करनी चाहिए।

मनुष्य की जिस समय सभी वासनाएं मिट जाती हैं, जिस समय वह और किसी का चिंतन नहीं करता, जिस समय वह ईश्वर के लिए पागल हो उठता है, उसी समय मनुष्य ईश्वर से वस्तुतः प्रेम करता है। सांसारिक प्रेमी जिस तरह अपने प्रियतम से प्रेम करते हैं, उसी प्रकार हमें ईश्वर से भी प्रेम करना होगा। कृष्ण स्वयं ईश्वर थे, राधा उनके प्रेम में पागल थीं। जिन ग्रन्थों में राधाकृष्ण की प्रेमकथाएं वर्णित हैं, उन्हें पढ़ो तो पता लगेगा कि ईश्वर से कैसे प्रेम करना चाहिए। किन्तु

इस अभूतपूर्व प्रेम के तत्त्व को कितने समझते हैं ?

बहुत से ऐसे लोग हैं जिनका हृदय पाप से भरा होता है। वे नहीं जानते कि पवित्रता या नैतिकता किसे कहते हैं। वे इन तत्त्वों को कैसे समझ सकते हैं ? वे किसी भांति भी इन तत्त्वों को समझ ही नहीं सकते। जिस समय मन से सारे सांसारिक वासनापूर्ण विचार दूर हो जाते हैं और जब निर्मल नैतिक तथा आध्यात्मिक भाव जगत में मन की अविस्थिति हो जाती है, उस समय वे अशिक्षित होने पर भी शास्त्रों की अति जटिल समस्याओं के रहस्य को समझने में समर्थ होते हैं। लेकिन इस प्रकार के मनुष्य संसार में कितने हैं या हो सकते हैं ? ऐसा कोई धर्म नहीं है जिसे लोग विकृत न कर दें। उदाहरणार्थ—ज्ञान की दुहाई देकर लोग अनायास ही कह सकते हैं कि आत्मा जब देह से सम्पूर्णतया पृथक् है, तो देह चाहे जो पाप करे, आत्मा उस कार्य में लिप्त नहीं हो सकता। यदि वे ठीक तरह से धर्म का अनुसरण करते तो हिन्दू, मुसलमान, ईसाई अथवा कोई भी दूसरा धर्मावलम्बी क्यों न हो, सभी पवित्रता के अवतार स्वरूप होते। किन्तु मनुष्य अपनी-अपनी अच्छी या बुरी प्रकृति के अनुसार परिचालित होते हैं, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। लेकिन संसार में सदा ऐसे भी कुछ मनुष्य होते हैं जो ईश्वर का नाम सुनते ही उन्मत्त हो जाते हैं, ईश्वर का गुणगान करते-करते जिनकी आंखों से प्रेमाश्रु की प्रबल धारा बहने लगती है। इसी प्रकार के लोग सच्चे भक्त होते हैं।

भक्ति की प्रथम अवस्था में भक्त ईश्वर को प्रभु और अपने को दास समझता है। अपनी दैन्दिन जरूरतों की पूर्ति के लिए वह ईश्वर के प्रति कृतज्ञता अनुभव करता है। इस प्रकार के भावों को एकदम छोड़ देना चाहिए। केवल एक ही आकर्षक शक्ति है और वह है ईश्वर। उसी आकर्षक शक्ति के कारण सूर्य, चन्द्र एवं अन्यान्य सभी चीजें गतिमान होती हैं। इस संसार की अच्छी या बुरी सभी चीजें ईश्वराभिमुख चल रही हैं। हमारे जीवन की सारी घटनाएं, अच्छी या बुरी, हमें उसी ओर ले जाती हैं। एक मनुष्य ने दूसरे का अपने स्वार्थ के लिए खून किया। जो कुछ भी हो, अपने लिए हो या दूसरों के लिए हो, प्रेम ही इस कार्य का मूल है। बुरा हो या अच्छा हो, प्रेम ही सब चीजों का प्रेरक है। शेर जब भैंस को मारता है, तब वह अपनी या अपने बच्चों की भूख मिटाने के लिए ऐसा करता है।

ईश्वर प्रेम का मूर्त रूप है। अनादि, अनन्त ईश्वर प्रत्येक वस्तु में विद्यमान है; और वह सदा हमारे सब अपराधों को क्षमा करने के लिए प्रस्तुत रहता है। लोग जानें या न जानें, वे उसकी ओर आकृष्ट हो रहे हैं। पति की परमानुरागिणी पत्नी नहीं जानती कि उसके पति में भी वही महान दिव्य आकर्षक शक्ति है, जो उसको

अपने पति की ओर ले जाती है। हमारा उपास्य है—केवल यही प्रेम का ईश्वर। जब तक हम उसे स्रष्टा, पालनकर्त्ता आदि समझते हैं, तब तक उसकी बाह्य पूजा की आवश्यकता है, किन्तु जिस समय इन सारी भावनाओं का परित्याग कर हम उसे प्रेम का अवतार स्वरूप समझते हैं एवं सब वस्तुओं में उसे और उसमें सब वस्तुओं को देखते हैं, उसी समय हमें परा भक्ति प्राप्त होती है।"

स्वामीजी का प्रवचन समाप्त हुआ। श्रोतागणों को लगा मानो वीणा की तारें टूट गई हों। स्वामीजी के शब्दों के आकर्षण-बंध से लिपटे वे सोच रहे थे कि भारत मां का बाह्य रूप जितना भव्य एवं मनोहर है, उसका अन्तर रूप भी उतना ही अभिराम और चिन्ताकर्षक है। इस जगती तल पर भारत ही एक देश हुआ है जिसने समन्वय की धारणा को अंगीकार ही नहीं किया, अपितु उस पर चलकर दिखाया।

उन्होंने पाश्चात्य देशों में वैदिक धर्म का डंका बजाकर उन्हें अभीभूत करने वाले फकीर को देखा और सुना। उन्हें बड़ा अच्छा लगा कि स्वामीजी ने अन्य किसी भी धर्म का खण्डन-मडन न करके सभी धर्मों को एकरूप में लाकर खड़ा कर दिया, और सिद्ध कर दिया कि विश्व-मानव का मन प्रकृति प्रदत्त समस्त अपेक्षित सुख-सुविधाओं एवं सामग्रियों से परिपूर्ण, ऐहिक चिन्ताओं से सर्वथा विनिर्मुक्त पारलौकिक चिंतन के प्रति उन्मुख एवं सजग रहा। इस विश्व मानव को जागतिक मूलभूत तथ्यों की स्वाभाविक जिज्ञासा ने अध्यात्म चिंतन के पथ का पथिक बना दिया।

श्रोताओं ने आज तक किसी भी विद्वजन के मुंह से 'भक्ति' का निरुपण इतनी सरल एवं सुबोध भाषा में नहीं सुना था। स्वामीजी ने 'भक्ति' को जितनी सरलता मे लोगों के आगे रखा और समझाया, उसे जन साधारण भी बोधगम्य कर सकता है। इसके अलावा वे विभिन्न धार्मिक कर्म-काण्डों को भी बोधगम्य कर सकता है और अपने गन्तव्य की ओर प्रेरित हो सकते हैं, वह विभिन्न धार्मिक कर्म-काण्डों में उलझे हुए लोगों के लिए विस्मयकारी था। उन्हें उपदेश मिला था और कहा गया था कि अपने-अपने इष्ट को भजते-भजते प्रवृत्तिमूलक आसक्ति को कम करते-करते, उसके प्रेम में डूबने का प्रयत्न किया जाए, अपने प्रत्येक कर्म उसे अर्पित करने का अभ्यास किया जाए तो जन्म सार्थक हो जाता है।

सभी विचारों में निमग्न थे कि एक श्रोता ने प्रश्न किया।

"महाराज, जीव का जन्म ही क्यों होता है ? मुक्ति कैसे प्राप्त की जा सकती है ?"

"श्रोता का प्रश्न बड़ा गूढ़ था। विवेकानन्द जानते थे कि यह सवाल प्रत्येक

व्यक्ति के मन में उमड़ता-घुमड़ता रहता है। उनकी स्वर लहरी पुनः एक बार कक्ष में तैरने लगी।"

"आत्मा मां के गर्भ में ऋषि, पितर, देव नामक तीन प्राणों का ऋण लेकर प्रविष्ट होती है। हमें जन्म लेकर इन तीनों ऋणों का भुगतान करना होता है। ऋण का भुगतान न होने पर पुनः और पुनः जन्म लेना होगा। देव ऋण चुकाने के लिए अग्निहोत्रादि कर्म किया जाना चाहिए। पितृऋण से मुक्त होना है तो पूजा-उपवास-व्रत-श्राद्ध आदि कर्म किए जाने चाहिए। ऋषि ऋण से मुक्त होने के लिए ब्रह्मचर्य, विद्याध्ययन और तपादि कर्म किए जाने आवश्यक हैं।"

"लेकिन ये सब स्वार्थयुक्त कर्म होंगे ?" जिज्ञासु श्रोता जाग्रत होकर बोला।

विवेकानन्द प्रसन्न मुख बोले—"निश्चित ही ये सारे स्वार्थ इष्ट कर्म हैं। कर्मों की गति देखिए। आप यदि विद्यानिरपेक्ष प्रवृत्ति कर्मो में रुचि रखेंगे यानि मनचाहा प्राप्त करने के लिए यज्ञ-तप-दान आदि करेंगे तो सम्पूर्ण सांसारिक सुखों को भोगते हुए भी आप पितृलोक प्राप्त करेंगे। इस लोक को पितृस्वर्ग कहा जाता है। इस लोक को प्राप्त किए जाने वाले कर्मों से सांसारिक सुख प्राप्त होता है। ये कर्म यथाविधि किए जाएं....इसीलिए ऋषियों ने गृहस्थियों के लिए इन्हें इष्ट-आपूर्त-दत्त यानी तीन कर्मो के रूप में विभाजित किया है। इष्ट के अन्तर्गत तप, सत्य, ब्रह्मचर्य, श्राद्ध, प्रजोत्पत्ति, अतिथि सत्कार आदि कर्म आते हैं। कूप, तालाब, स्कूल धर्मशालादि बनवाना आदि आपूर्त कर्म हैं। इनसे अनेक व्यक्तियों का भला होता है। यही दत्त है। इसमें मनुष्य का कल्याण है।"

"क्या यही दत्त दान है ?" श्रोता ने पुनः प्रश्न किया।

"दत्त, दान से विजातीय है। दान में लेने वाला व्यक्ति निकृष्ट भाव से देखा जाता है। जबकि दत्त में ऐसा नहीं है।"

"इन कर्मों से पितृस्वर्ग की प्राप्ति होती है। क्या यही मुक्ति है ?"

"इन कर्मों को प्रवृत्ति भाव से करोगे तो मुक्ति नहीं मिलेगी, सुख जरूर प्राप्त होगा। लेकिन यदि इन्हीं कर्मों को निवृति भाव से किया जाए तो मुक्ति प्राप्त होती है।"

"देवस्वर्ग प्राप्ति कैसे प्राप्त होती है ?"

"जब उपर्युक्त कर्मो को निवृत्ति भाव से किया जाएगा। यही मुक्ति है। अब यह निर्णय मनुष्य के हाथ में है कि वह सद्कर्म करता हुआ, सुखों का उपभोग करता हुआ पितृस्वर्ग की कामना करता है या निवृत्ति भाव से सद्कर्म करता हुआ चिरसुख, मुक्ति की कामना करके देवस्वर्ग प्राप्त करता है। पितृस्वर्ग और देव स्वर्ग प्राप्त करने के लिए किए जाने वाले कर्म, सद्कर्म कहलाते हैं।"

"अकर्म क्या हैं ?" श्रोता ने पूछा।

"निरर्थक हंसना, घूमना, कुचेष्टा करना आदि निरर्थक कर्म हैं। ब्रह्म हत्या, आत्महत्या, सुरापान, भ्रूण हत्या आदि विकर्म हैं।"

उत्तर देकर विवेकानन्द ने कुछ देर अपनी निर्मल दृष्टि श्रोताओं पर टिकाए रखी। कक्ष के किसी कोने मे कोई प्रश्न नहीं उभरा। वे उठे और धीर कदमों से कक्ष से बाहर निकल कर अपने गन्तव्य की ओर चल पड़े। सदानन्द और सुधीर उनके साथ चल रहे थे। चलते-चलते विवेकानन्द बोले—"सदानन्द, लोगों में जिज्ञासा है कुछ जानने की। वे कर्म और अकर्म, स्वार्थ और निःस्वार्थ, बंधन और मुक्ति, जन्म और मरण, स्वर्ग और नरक के विषय में जानना चाहते हैं। लेकिन आज की स्वार्थपरकता, आपसी ईर्ष्याभाव, द्वेष-वैमनस्य, अभिमान, अज्ञान और धार्मिक द्वन्द्वों के बीच इन्हें मुक्ति का सद्कर्म का रास्ता कौन दिखाए ? विज्ञजन पढ़कर तथा तपस्वी भक्ति करके सद्मार्ग पर चल भी लें किन्तु साधारण गृहस्थजन को मुक्ति के मार्ग पर कौन ले जाएगा ?"

"आप जैसे महान पुरुषों का जन्म इसी निमित्त तो होता है, गुरुदेव। इसी असंगति को दूर करने के लिए समय-समय पर महान आत्माएं देहधारी के रूप में इस धरित्री में अवतरित होती हैं।" सदानन्द ने उत्तर दिया। विवेकानन्दजी ने बात पलटी।

"मैं यहां एक समिति की स्थापना करके तुम्हें और सुधीर को छोड़ जाऊं ? यहां यदि लोगों को प्रेरित किया जाए तो हमें अच्छा प्रत्युत्तर मिल सकता है।"

विवेकानन्दजी का प्रस्ताव सुनकर सदानन्द खामोश रहा। लेकिन सुधीर ने उत्तर दिया—"आप यदि मुझे इस योग्य समझ रहे हैं, तो मैं यहां कार्य करने के लिए तत्पर हूं।"

कुछ क्षण खामोशी में तैरने के उपरान्त विवेकानन्दजी ने सदानन्द से सवाल किया—"सदानन्द, तुमने कोई उत्तर नहीं दिया मेरी बात का ?"

"गुरुदेव, मौन स्वीकृति का लक्षण होता है।"

"अस्वीकृति का भी तो हो सकता है। किसी से असहमत होने की दशा में भी कई बार मौन धारण कर लिया जाता है। अपनी सही धारणा व्यक्त करो।"

"गुरुदेव, मैं घर से आपके साथ चलने के लिए निकला हूं।" सदानन्द धीमे स्वर में बोला।

"सुधीर, अब बताओ कैसे कार्य होगा, यदि हम सब यही सोच लें ?"

इसके पश्चात् गन्तव्य स्थल पर पहुंचने तक वे सभी खामोश रहे। अपने कक्ष

की ओर जाते हुए विवेकानन्दजी ने अपना मौन भंग किया।

"लाहौर की तैयारी कर लेना। हम यहां से कल प्रस्थान करेंगे।"

अक्टूबर का महीना विदा ले चुका था और नवम्बर का मास शुरू हो चुका था। 1897 का पूरा वर्ष व्यतीत होने जा रहा था। विवेकानन्द आने वाले वर्ष में क्या कुछ करना है, उसका मोटा-मोटा हिसाब लगाते-लगाते निन्द्रा की गोद में चले गए।

वे अपने शिष्यगणों को लेकर अगले दिन लाहौर पहुंचे। उनकी आवास व्यवस्था पहले राजा ध्यानसिंह की विशाल हवेली में तय कर दी गई थी। मुगलकाल की शान लाहौर ने अपनी सहृदयता का परिचय उनका भव्य स्वागत करके दिया। यहां से प्रकाशित होने वाले ट्रिव्यून ने उनका विस्तृत परिचय और कर्तृत्त्व प्रथम पृष्ठ पर दिया; और स्वामीजी के विचारों का सार बराबर अपने पत्र में देने का वचन दिया। स्वागत करने वाले लोगों में जन साधारण, आर्यसमाजी और सनातन-धर्नसभा के नेतागण आदि थे। स्वामी विवेकानन्दजी ने पहले ही स्पष्ट कर दिया कि उनका लाहौर प्रवास अल्प होगा।

दिन भर लोगों का तांता लगा रहा। स्वामी विवेकानन्द सभी से हार्दिक बातें करते रहे। सनातन-धर्मसभा के ख्यातजनों ने उनसे धार्मिक चर्चा की तो दूसरी ओर आर्यसमाजियों ने मूर्ति-पूजा के विपक्ष में बहस की। स्वामीजी ने निष्कर्ष निकाला कि इन लोगों में अपने-अपने मत-मतान्तरों के प्रति प्रबल भावना है। फलस्वरूप आपसी सौहार्द्रता को ठेस लग रही है। सनातनी नेताओं ने उनसे अनुरोध किया कि वे मूर्ति-पूजा और हिन्दू देवी-देवताओं के महत्त्व तथा श्रेष्ठता पर व्याख्यान दें। दूसरी ओर आर्यसमाजियों का कहना था कि उनके मत के लोग 'एक ईश्वर' यानी मूर्ति-पूजा के विपक्ष में उनका प्रवचन सुनने के इच्छुक हैं।

इस स्थिति में स्वामी विवेकानन्द मुस्कराए और मधुरता से बोले—"सज्जनो, मैं तो किसी विशिष्ट सम्प्रदाय से नाता नहीं रखता। मैं तो प्रेम का पुजारी हूं। अपनी मातृभूमि का उपासक हूं। मैं तो **'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'** (ऋग्वेद 1/164/46) यानी सत्ता एकमात्र है, पर विश्वास करने वाला जीव हूं। मैं तो यह मानकर चलता हूं कि जिस प्रकार विभिन्न नदियां विभिन्न पर्वतों से निकल कर, अपनी सरल तथा वक्र गति से प्रवाहित होती हुई अन्ततः समुद्र में मिल जाती हैं, उसी प्रकार विभिन्न प्रवृत्तियों के कारण लोग उस परम सत्ता तक पहुंचने के लिए विभिन्न मार्गों का चयन करते हैं, कोई सरल है तो कोई विकट....किन्तु मंजिल तो एक ही है। आप किसी भी भाव से पुष्पांजलि चढ़ाइए, वह उस प्रभु के चरणों में ही चढ़ेगी।"

"लेकिन इसके लिए मूर्तिपूजा करना जरूरी है क्या ? या काबा की तरफ मुंह करके, घुटने टेककर ही उस परम सत्ता को पाया जा सकता है क्या ? उसे तो यज्ञ, हवन, संध्या ही करके पाया जा सकता है।" एक सज्जन ने अपने विचार रखे।

"पाया जा सकता है, मगर ढोंगी आस्तिक बनकर नहीं। ढोंग करने से अच्छा है नास्तिक होना। मैं अभी आपकी बात को स्पष्ट कर चुका हूं कि उस परम सत्ता को किसी भी मार्ग से चलकर पाया जा सकता है। हमारे सम्मुख एक नहीं पचासों उदाहरण हैं। ईसा ने उसे पाया, नानक को उसने गले लगाया, मीरा से वह छिपा न रहा।"

"लेकिन यहां तो हिन्दू ही आपस में उलझे हुए हैं।"

"इसी बात का तो मुझे दुःख है। हम अपनी पहचान से भटक रहे हैं। हमें नहीं भूलना चाहिए कि यह वही भूमि है, जहां से वेगवती नद-नदियों के समान आध्यात्मिक महत्त्वाकांक्षाएं उत्पन्न हुईं और धीरे-धीरे एक धारा में सम्मिलित होकर शक्ति सम्पन्न हुईं, तथा अन्त में संसार की चारों दिशाओं में फैल गईं। यही वह वीरभूमि है, जिसे हजारों आपत्तियों को झेलना पड़ा है किन्तु इसने अपनी शक्ति को क्षीण नहीं होने दिया। क्या नानक जैसे संत यहां उत्पन्न नहीं हुए जिन्होंने विश्व प्रेम का उपेदश दिया ? उन्होंने केवल हिन्दुओं को ही नहीं, वरन मुसलमानों को भी गले लगाया।"

"स्वामीजी, आज यदि ऐसा किया गया तो पूरा समाज उसके विरोध पर उतर आएगा। सामाजिक मतभेदों को मिटा पाना कठिन है।"

"सत्य बात का हमेशा विरोध ही होता है। लेकिन मेरे भाइयों मैं यहां यह देखने नहीं आया हूं कि हमारे बीच क्या-क्या मतभेद हैं। मैं तो यहां यह खोजने आया हूं कि हम लोगों की मिलन भूमि कौन-सी है, उसका कौन-सा आधार है ताकि हम लोग आपस में सदा भाई बने रह सकें।"

"इससे क्या होगा ?" पीछे से एक आवाज उभरी।

"इससे यह होगा कि अनन्त काल से इस भूमि पर जो प्रतिष्ठित वाणी गूंज रही है, वह निरन्तर प्रबल होती जाएगी। यदि हम अपने धर्म का मर्म समझ लें तो मिलजुल कर इसे विश्व स्तर पर उठा सकते हैं। हमारा दृष्टिकोण इससे रचनात्मक बनेगा।"

"स्वामीजी, लेकिन यह तो तभी हो सकता है जब हमारे आलोचनात्मक रुख में बदलाव आए।"

"आलोचना बुरी नहीं है। समय-समय पर आलोचना होनी ही चाहिए। आप

देखेंगे कि इससे आपके रचनात्मक कार्यों में निखार आ रहा है। कुछ दिनों में कठोर आलोचनाएं स्वतः समाप्त हो जाती हैं और उन्नतिकारी रचनात्मक कार्य द्रुत गति से आगे बढ़ते हैं।"

"लेकिन, यहां तो अलोचना ने ध्वंसात्मक रूप ले रखा है। हम खुद अपने दर्शन, धर्म, देवी-देवताओं की खिल्ली उड़ा रहे हैं और पाश्चात्य विज्ञान को प्रश्रय दे रहे हैं।"

"महाशय, सभी लोग तो ऐसा नहीं कर रहे हैं। इस देश में ऐसे भी मेधा सम्पन्न व्यक्ति हुए हैं जिनके हृदय में न्याय धर्म और सत्य के प्रति प्रबल अनुराग था। इन महापुरुषों ने जिसे बुरा समझा उसकी तीव्र आलोचना की। हमें ऐसा ही आलोचक बनना है ताकि देश, धर्म, समाज का पुनर्निमाण हो सके। हम एक बार फिर से संगठित हो सकें। आलोचनाओं से हमारा घर साफ हो चुका है। अब जरूरत है उसे नए सिरे से आबाद करने की। मैं तो यही कहूंगा कि आर्यसन्तानो, अब आगे बढ़ो, आगे बढ़ो।"

"स्वामीजी, आप जैसे धर्मप्राण व्यक्ति के स्वर काटना सहज नहीं है। हम आपकी वाणी से प्रभावित हैं। लेकिन सवाल कौंधता है कि आगे अकेला बढ़ा जाए या सामूहिक रूप से। सामूहिक रूप से यदि आगे बढ़ा जाए तो विभिन्न दलों, सम्प्रदायों के होते सम्भव नहीं है।"

"क्या हम विभिन्न सम्प्रदायों के होते हुए भी किसी एक धरती की तलाश नहीं कर सकते ?....एकता की सम्मिलन भूमि को नहीं ढूंढ़ सकते ?"

"ऐसी किसी भूमि का आपको पता मालूम है ?" स्वर बेहद तीखा और व्यंग्यपूर्ण था।

"मालूम है। आप उसका पता जानना चाहेंगे ?" स्वामीजी ने दृढ़ स्वर में कहा।

"अवश्य।" एक ही नहीं, कई स्वर गूंजे।

स्वामीजी एक व्यक्ति की ओर मुखातिब हुए और बोले—"आप कहां के रहने वाले हैं ?"

"पंजाब।"

"यानी आप पंजाबी हैं।"

"जी हां।"

"और श्रीमानजी आप ?" एक अन्य व्यक्ति से उन्होंने प्रश्न किया।

"मैं सिंध का रहने वाला हूं। मैं ब्राह्मण हूं।"

"[illegible] ी आप सिंधी हैं।"

"जी हां।"

"और आप ?" स्वामीजी ने एक अन्य व्यक्ति की ओर इशारा किया।

"मैं कश्मीरी हूं। मैं राजपूत हूं।"

स्वामीजी ने मुस्करा कर उपस्थितजनों पर एक दृष्टि डाली और उनका गम्भीर स्वर गूंजा—"हम अपने को ब्राह्मण, राजपूत या पंजाबी, सिंधी, कश्मीरी, बंगाली, मद्रासी ही क्यों कहें ? हम हिन्दू हैं और हिन्द के रहने वाले हैं।"

"लेकिन आज हिन्दू को अच्छे अर्थ में नहीं लिया जाता।" एक स्वर उभरा।

"मैं ऐसे लोगों से सहमत नहीं हूं। मैं यह भी नहीं चाहता कि इस शब्द को किसी विशेष अर्थ में लिया जाए। प्राचीन काल में इस शब्द का अर्थ सिन्धुनद के दूसरी ओर बसने वाले लोगों के लिए किया जाता था। मेरे विचार में हमने हिन्दू शब्द को कमजोर कर दिया है। विभिन्न जातियों और प्रदेशों में बंटकर हमने इस शब्द की महत्ता खो दी है। यह हम पर निर्भर करता है कि 'हिन्दू' नाम ऐसी प्रत्येक वस्तु का द्योतक रहे, जो महिमामय हो, आध्यात्मिक हो अथवा वह ऐसी वस्तु का संकेत रहे जो कलंक का समानार्थी हो, जो एक पददलित, निकम्मी और धर्मभ्रष्ट जाति का सूचक हो। हम इस बात की क्यों परवाह करें कि कोई 'हिन्दू' शब्द को बुरे अर्थ में ले रहा है। हमें तो अपने कार्यों और आचरणों द्वारा यह दिखाने के लिए तत्पर होना चाहिए कि सम्पूर्ण विश्व की कोई भी भाषा इससे ऊंचा और महान शब्द की खोज नहीं कर पाया।"

"स्वामीजी, आप जैसे विद्वजन तो 'हिन्दू' को इस अर्थ में ले सकते हैं पर साधारण...." भीड़ में से एक गिमियाता स्वर उभरा। कई लोगों ने उस स्वर को यह कहकर दबाना चाहा कि—बीच में टोकाटाकी न की जाए।

स्वामीजी ने हस्तक्षेप किया—"इन्हें भी अपनी बात बोलने दीजिए।" स्वामीजी ने निर्देश दिया।

"मैं यह कहना चाहता था कि आज हिन्दू-धर्म जिन बुराइयों से घिर चुका है, उस स्थिति में इसे ग्रहण करने का मन नहीं करता। ये बुराइयां पीढ़ी दर पीढ़ी चली आ रही हैं। इस स्थिति में अपने को 'हिन्दू' या हिन्दुओं की सन्तान कहने में लज्जा महसूस होती है।"

"मैं इसे कमजोरी मानता हूं। मेरे जीवन का सिद्धान्त रहा है कि मैं अपने को अपने पूर्वजों की सन्तान कहने में कभी लज्जित नहीं हुआ। मैं तो अपने को गर्वीला व्यक्ति मानता हूं। मेरा यह गर्व अपनी शक्ति या गुणों के कारण नहीं है। बल्कि अपने पूर्वजों के गौरव के कारण है। मैंने जब अतीत का अध्ययन किया और

भूतकाल पर दृष्टि डाली तो अपने को और भी अधिक गर्व से भरा पाया।" स्वामीजी का मुख आभायुक्त हो उठा। वे आगे अपना वक्तव्य जारी रखते कि पहले वाले व्यक्ति ने एक बार फिर से अपना संवाद कायम किया।

"स्वामीजी, आज हिन्दुत्व की विशेषताओं को कौन जानना चाहता है ? मैं भी मानता हूं कि यदि 'हिन्दू' शब्द के अर्थ को गहराई से लिया जाए तो यह भारत के निवासियों की एकात्मकता से जुड़ा हुआ मिलेगा। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, गीता आदि पचासों ग्रन्थ हिन्दू संस्कृति और हिन्दू जीवन पद्धति का बखान करते हैं। इस हिन्दू संस्कृति में समयानुसार परिवर्तन और परिमार्जन होता रहा है किन्तु हमारा मूल दर्शन, सोच, संस्कृति अक्षुण्ण रहे हैं। लेकिन क्या अब आपको नहीं लगता कि इसे कुत्सित किए जाने का प्रयास किया जा रहा है ?"

"मुझे नहीं लगता कि हमारा हिन्दू-धर्म इन छोटे-मोटे प्रयासों से ढह जाएगा। हमें अपने में साहस का संचार करने की आवश्यकता है। मेरा मानना है कि मैं जब अपने संकल्प से, श्रद्धा और दृढ़ता से धरती की धूलि से ऊपर उठ सकता हूं और अपने महान पूर्वजों के सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करने के लिए प्रेरित हो सकता हूं, तो आप लोग क्यों नहीं अपने हृदयों में इसी श्रद्धा और साहस को जुटा सकते हैं ? आप और हम अपने पूर्वजों के प्रति विश्वास क्यों पैदा नहीं कर सकते ? क्या देश के उद्धार के लिए हम अपने कदम आगे नहीं बढ़ा सकते ? हम यह मानकर क्यों चलें कि कोई हमारी संस्कृति, धर्म और सोच को दूषित कर सकता है ?" स्वामीजी की सिंह गर्जना से श्रोताओं का साहस बढ़ गया।

"हम आपके अभियान में आपके साथ हैं। लेकिन एक बात आप स्पष्ट करें। हम विभिन्न जातियों और भिन्न-भिन्न विचारधारा के लोग हैं। हमारे रीति-रिवाज, धर्म, संस्कृति अलग-अलग हैं। हमारे जातीय जीवन का सामान्य आधार क्या है ? हम किस बात पर एकमत हो सकते हैं ? हम जब किसी बात पर एकमत होंगे, तभी तो एक लक्ष्य का निर्धारण कर पाएंगे।"

"मैं आपकी जिज्ञासा को शान्त करूंगा। आपने व्यक्ति, समाज, धर्म और जाति में एक विशेषता देखी होगी। प्रत्येक मनुष्य का अपना व्यक्तित्व होता है। इसी प्रकार प्रत्येक समाज, धर्म और जाति की अपनी-अपनी विशेषताएं होती हैं। इन्हीं विशेषताओं के कारण इनमें भिन्नताएं होती हैं। इसके अतिरिक्त आपने यह भी देखा होगा कि प्रत्येक मनुष्य के जीवन का कोई-न-कोई उद्देश्य निर्धारित होता है। ठीक यही बात प्रत्येक जाति पर भी लागू होती है। प्रत्येक जाति को किसी न किसी दैव निर्दिष्ट

उद्देश्य को पूरा करने के लिए निर्धारित विशिष्ट मार्ग पर चलना पड़ता है। अपने इस उद्देश्य के तहत हर जाति को विश्व को एक सन्देश देना पड़ता है, एक व्रत विशेष का उद्यापन करना होता है। इस व्रत को जाने बिना भविष्य के निर्दिष्ट उद्देश्य का पता नहीं लग सकता।"

प्रश्नोत्तर चल रहे थे। लोग अभी तक आए जा रहे थे। उनके आने से किसी प्रकार व्यवधान पैदा नहीं हो रहा था। बैठे हुए लोगों की एकाग्रता इतनी केन्द्रित थी कि कौन आ रहा है किसी को पता नहीं लगता था। वे एक सम्मोहन में घिरे हुए थे। कई नवागन्तुक अपने से आगे बैठे व्यक्ति से पूछने का साहस कर लेते कि किस विषय पर चर्चा चल रही है, किन्तु प्रत्युत्तर न मिलने पर चल रहे विषय को समझने का प्रयास करने लगते।

स्वामीजी के एक शिष्य ने उनके कान के निकट आकर कुछ कहा। स्वामीजी ने भीड़ पर एक दृष्टि डाली चारों ओर उत्सव का-सा आह्लाद छा रहा था। उन्हें लोगों के उत्साह को देखकर यह कहने का साहस नहीं हुआ कि शेष चर्चा बाद में या कल होगी। उन्होंने अपना संवाद शुरू किया।

"अपने निर्दिष्ट उद्देश्य को जानने के साथ-साथ हमें यह भी तय करना होगा कि विभिन्न जातीय स्वरों की समरसता में हमें कौन-सा स्वर मिलाना होगा। आपने अपने बचपन में कुछ किस्से सुने होंगे जैसे कि कुछ सांपों के फन में मणि होती है। जब तक यह मणि सर्प के पास होगी, तब तक वह मर नहीं सकता। दैत्य और दानवों के किस्से भी आपने सुने होंगे। दानव की जान तोते में रहती है। वह दानव तभी मारा जा सकता है, जब तोत को मार दिया जाए। इन बातों की तुलना हम किसी राष्ट्र से कर सकते हैं। किसी भी राष्ट्र का जीवन उसकी राष्ट्रीयता में निहित है। किसी राष्ट्र को समाप्त करना है तो उसकी राष्ट्रीयता पर चोट करिए। हमारी राष्ट्रीयता यदि अविचलित है, तो राष्ट्र कभी समाप्त नहीं हो सकता। यह एक तथ्य है, जिसे हम अपने पर हुए बर्बर जातियों के आक्रमणों के इतिहासों से सिद्ध कर सकते हैं। हमने वर्षों तक पराधीनता भोगी है, दुःख सहे हैं, पर अपनी पहचान और अपनी राष्ट्रीयता को सुरक्षित रखा है। यही कारण है कि हम आज भी वैसे ही हैं जैसे पहले थे। आगे भी आप ऐसा ही रहना चाहेंगे ?"

"अवश्य।" समवेत स्वर गूंजा। स्वामीजी ने अपनी वाणी-प्रवाह को आगे बढ़ाया।

"मैं भविष्य को देख रहा हूं। भारत मां का यह पुत्र दृढ़ शब्दों में कह सकता है कि आने वाले समय में हम केवल शक्तिशाली ही नहीं, अपितु विश्व के कोने-कोने में अपने धर्म का डंका बजाएंगे। आज हमारे विचार भारत की सीमाओं को लांघ रहे

हैं। हमारी भावनाएं, हमारे सिद्धान्त विश्व साहित्य में स्थापित हो रहे हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि भारत का दान सर्वश्रेष्ठ है। हमने विश्व और उदात्तता एवं मानव मन की संलग्नता को देखकर, समझ कर ग्रहण किया है। क्या इससे हमारे धर्म और दर्शन की श्रेष्ठता प्रमाणित नहीं होती है ?"

श्रोताओं में से एक व्यक्ति अभिभूत होकर बोला—"स्वामीजी, आपके कथन अकाट्य हैं। बात ठीक है, खराब और भोथरी चीज कोई ग्रहण नहीं करता।"

"हमें अपनी इस श्रेष्ठता का विस्तार करना है। हमारे पुरखों की निधि वेदों में निहित है। आप इन्हें पढ़िए, आपको पता लगेगा कि आज विश्व जिन सूत्रों और सिद्धान्तों का आविष्कार कर रहा है, उन्हें तो हमारे पूर्वज पहले ही जानते थे, अपितु वे तो इनसे भी दो कदम आगे थे। वे भौतिक जंजालों से दूर अपरिणामी और चिर-शान्ति के केन्द्र तक पहुंचे हुए थे। उन्हें पता था कि साधारण आविष्कारों से भौतिक सुख-साधन जुटाए जा सकते हैं। अपनी सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति की जा सकती है, एक-दूसरे पर आधिपत्य, प्रभुत्व जमाया जा सकता है, कमजोरों पर शासन किया जा सकता है। ये सब बातें एक सीमित उद्देश्य को पूरा करती थी। इसलिए हमारे पूर्वजों ने यह दिशा नहीं पकड़ी। उन्होंने वह दिशा पकड़ी जो श्रेष्ठतम थी और चरम आनन्द की ओर ले जाने वाली थी। उन्होंने जीवन की श्रेष्ठतम राह वह मानी है जो ईश्वर तक ले जाती है। वहीं मानव मात्र के सभी दुःखों का अवसान होता है। इन पुरखों की यह शिक्षा उत्तराधिकार परम्परा के आधार पर हमारे रक्त कणों में मिल गयी। यह हमारी जातीय विशेषता बन गई, हमारा स्वभाव बन गया। यही कारण है कि आज 'धर्म' और 'हिन्दू' दो शब्द होते हुए भी एक अर्थ देते हैं। यही हमारी जाति की विशिष्टता है। हमारे प्राण इसी तोते में हैं। इस पर कोई आक्रमण कर सकता है ?" स्वामी ने सवाल किया।

उनके सवाल के उत्तर में कई स्वरों से समान शब्दों का उच्चारण हुआ।

"जो बात हमारी नस-नस में खून बनकर दौड़ रही है, उस पर भला हमला कैसे हो सकता है ? हमला बाहरी चीजों पर हो सकता है। आत्मा में बसी-रची चीज पर कोई दूसरा अधिकार कैसे कर सकता है ?"

"आप लोग जब इस बात को जानते हैं तो फिर 'धर्म' और 'हिन्दू' पर बहस कैसी ? इनके प्रति मन में कोई शंका कैसी ? यह भय क्यों कि हमारा धर्म बुराइयों से घिर चुका है। जब हमारी इस जीवन शक्ति पर कोई तोप-तलवार-बन्दूक हमला नहीं कर सकी तो फिर यह बुराइयों से कैसे घिरी ? याद रखें, हम जब तक अपनी आध्यात्मिकता, अपने धर्म को अपने में समाहित रखेंगे, तब तक हमारा कुछ नहीं

बिगड़ सकता। विश्व में ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो 'हिन्दू' जाति का विनाश कर सके। लेकिन ऐसा तभी सम्भव है जब हिन्दू धार्मिक हों। यदि कोई हिन्दू धार्मिक नहीं है तो मैं उसे हिन्दू मानने के लिए तैयार नहीं हूं। अन्य देशों में धर्म से पहले भी मनुष्य बहुत कुछ है। कोई राजनीतिज्ञ है, कोई अर्थशास्त्री, वैज्ञानिक, खगोलज्ञ है। लेकिन हम सबसे पहले धार्मिक हैं। हमारे जीवन का प्रथम कर्त्तव्य धार्मिक अनुष्ठान हैं। इसी बात के पीछे हमारी राष्ट्रीय एकता छिपी हुई है। हमारा राष्ट्रीय हित इसी में है कि हम अपनी आध्यात्मिक शक्तियों को एक-एक कर ढूंढ़ निकालें।"

स्वामीजी की वाणी रुकी कि एक श्रोता ने प्रश्न कर डाला—"मैं आपसे पहले भी इस विषय पर प्रश्न कर चुका हूं। पुनः आपको स्मरण दिला रहा हूं कि हमारे देश में अनेक पंथों, सम्प्रदायों के रहते क्या आपकी बातें खरी उतर सकती है ?"

"पन्थ और सम्प्रदाय इस देश में पहले भी थे, आज भी हैं और आगे भी रहेंगे। आप इन्हें अलग क्यों मान रहे हैं। हमारे धर्म में निहित व्यापक तत्त्वों में इतनी उदारता है कि उसने अपनी शाखा-प्रशाखाओं को कभी भी फूटने से नहीं रोका। इन सबके तत्त्व सनातन हैं। यह अपनी स्वाभाविक गति से उपजे हैं। सम्प्रदाय अहितकारी नहीं हैं, अहितकारी है साम्प्रदायिकता। हमें यह भी जान लेना चाहिए कि एक साम्प्रदायिक विचार से सभी कार्य नहीं हो सकते। विश्व की अनन्त शक्ति कुछ थोड़े-से लोगों से परिचालित नहीं हो सकती। यही कारण है भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के होने का। हमारे वेदों, शास्त्रों ने इन भिन्नताओं को केवल ऊपरी आवरण माना है। इनके अन्दर एक ही स्वर्णसूत्र है। इस बात को हम समझ लें तो हमारे मनों में पनपती साम्प्रदायिक भावनाएं स्वतः ही समाप्त हो जाएं। हमारे ऋषियों ने कहा है—**'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'**। विश्व में एक ही सद्‌वस्तु है जो कि अलग-अलग नामों से पुकारी जाती है। हमारे देश में इसीलिए सदा से सभी सम्प्रदायों को सम्मान दिया गया है। इसके बावजूद भी यदि हम साम्प्रदायिकता से घिरे रहे तो हमें अपने को उन महिमान्वित पूर्वजों का वंशधर कहलाने का कोई अधिकार नही है।"

स्वामीजी बड़ी सरल भाषा में एक क्लिष्ट और गूढ़ तत्त्व का विश्लेषण कर रहे थे। उनकी व्याख्या लोगों के दिलों में उतर रही थी। लोग इस बहती रसधारा का आनन्द ले रहे थे। लेकिन स्वामीजी के पीछे बैठे सदानन्द और सुधीर कसमसा रहे थे। सदानन्द ने सुधीर के कान में कहा—"भाई, गुरुदेव से एक बार फिर निवेदन करो कि लम्बे प्रवचन उनके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव डालते हैं। चिकित्सकों ने उन्हें

अधिक बोलने के लिए निषेध किया हुआ है।"

सुधीर साहस कर उठा और एक बार फिर से स्वामीजी के कान के निकट आकर फुसफुसाया। इस बार स्वामीजी उसकी बात न टाल सके। वे कोमल स्वर में बोले—"प्रिय भक्तगणो, शेष संवाद कल होगा।"

"लेकिन स्वामीजी असली बात पर आप अब आ रहे थे। हम मानते हैं कि विभिन्न सम्प्रदायों का होना जरूरी है किन्तु इनसे ऐसे समान तत्त्व कौन से हैं जिन पर हम एकमत हो सकें ?"

"इस पर कल सुबह चर्चा करूंगा।"

श्रद्धालु चर्चा को आगे बढ़ाना चाह रहे थे। लेकिन स्वामीजी की अनिच्छा देखकर सभी जाने को तत्पर हो गए। एक व्यक्ति जाते-जाते बोला—"मैं ट्रिब्यून पत्र का सम्पादक नरेन्द्रनाथ गुप्त हूं। मेरा निवेदन है कि आप कल मेरा आतिथ्य स्वीकार करें।" स्वामीजी ने विनम्रता से गुप्त को अपनी सहमति प्रदान कर दी।

"आप लोग प्रातः पधारें। मैं आप लोगों को संतुष्ट किए बिना लाहौर नहीं त्यागूंगा।" श्रद्धालुओं के जाने के पश्चात् स्वामीजी सदानन्द की ओर मुड़कर बोले।

"प्रवाह चल रहा था, तुमने बाधा उत्पन्न कर दी।"

सदानन्द ने कोई उत्तर नहीं दिया। उसके बदले सुधीर बोला—"हम चाहते हैं, यह प्रवाह निरन्तर चलता रहे। लेकिन आपको अपने स्वास्थ्य का ध्यान भी रखना होगा। आपके स्वास्थ्य पर ही तो यह प्रवाह आधारित है।"

"समझा, इसी कारण सदानन्द ने मुंह फुला रखा है।"

"आप शायद इसीलिए सुधीर और मुझको लाहौर छोड़ना चाह रहे हैं ताकि आप स्वच्छन्द हो सकें।" सदानन्द बोला।

"नहीं, नहीं ऐसी बात नहीं है, सदानन्द। तुम्हें यहां इसलिए छोड़ रहा हूं कि मठ की स्थापना के लिए आर्थिक स्रोत बन सकें।"

स्वामीजी की स्नेहसिक्त वाणी से सदानन्द पिघल गया।

"क्यों, मैं गलत कह रहा हूं ?"

"जी नहीं। मठ निर्माण हमारा परम लक्ष्य है। हमें अपने क्रियाकलापों के संचालन के लिए स्थायी जगह तो चाहिए ही।"

"तुमने मेरी बात मानी है, अब मैं तुम्हारी बात मानूंगा। बोलो, अब क्या करना है ?"

"अब आपको कुछ नहीं करना है। आराम करना है।"

"ठीक है, सुबह के लिए शक्ति भी संचित करनी है न।" स्वामीजी मुस्कराए। सदानन्द चला गया। वे बुदबुदाए—"बड़ा भोला जीव है।"

स्वामीजी को चिन्ता थी कि आने वाले समय में उनके शिष्य निराश्रित होकर न घूमें। उनके लिए आश्रयस्थली तो होनी चाहिए। वे जब भी विश्राम के कुछ क्षण पाते तो विचारों की धूप-छांव में विचरण करने लगते। वे अपने को पूर्ण संतुष्ट मानते। उन्होंने काफी स्वदेशवासियों को जागृत कर दिया था....यही उनका उद्देश्य था। लेकिन स्वप्नों का कोई अन्त होता है ?

यथार्थ पर विश्वास रखने वाले विवेकानन्द भी विभिन्न स्वप्न लोकों का निर्माण करते रहते थे। वे कई बार सोचते थे कि अब जो कुछ होना है, होने दो; कर्म के नियम को अपनी गति के अनुसार चलने दो। उन्होंने जो कुछ देखा, वे उसका विश्लेषण करते।

वे विचारते कि जीवन स्वार्थ के लिए है। वे अपने जीवन पर दृष्टि डालते। उन्हें इस बात से सुखद अनुभूति होती कि उन्होंने आज तक कोई कर्म स्वार्थ के लिए नहीं किया। यहां तक कि उनके द्वारा यदि कोई बुरा कर्म भी हुआ हो तो वह भी स्वार्थवश नहीं था।

वे मन ही मन में हंसते—संसार कितना क्षुद्र है, जीवन में कितनी विवशता है, कितनी सुन्दरता है, फिर भी विवेकी जीव इस क्षुद्र स्वार्थ के पीछे भागता रहता है....कुत्सित और घृणित पारितोषिक के लिए लालायित रहता है।

लेकिन इसका निदान क्या है ? वे सोचते, सत्य यही है, कि हम पर पिंजरे में फंस गए हैं, और जितनी जल्दी इसमें से निकल सकेंगे, उतना ही हमारे लिए अच्छा होगा।

वे जब भी प्रकृति के निकट आते, क्षितिज के समान विस्तृत हिमाच्छादित हिमालय के शिखर-शृंखला को देखते, सघन वनों में विचरण करते, वहती और कलकल करती सजल धाराओं को देखते, पशु-पक्षियों का कलरव सुनते, जंगली जीवों की अठखेलियां देखते, तो उनका दिल प्रकृति में पूर्णतया समा जाने को करता।

लेकिन विचार दृश्य पलटता....'अरे ! मैं तो योद्धा हूं और मुझे रणक्षेत्र में मरना होगा। पर्दानशीं स्त्री के समान पहाड़ों की कंदराओं में छिपकर क्या होगा ? मुझे तो भूखों को भोजन का ग्रास देने की चिन्ता होनी चाहिए। इस उद्देश्य के लिए सब कुछ नष्ट भी हो जाए तो अहोभाग्य होगा। हमारे ऋषियों ने ठीक कहा है—'पुस्तकें, विद्या, योग, ध्यान, ज्ञान सब बेकार है। लोगों को अपना हृदय दान करो। मानवी शरीर में यही ईश्वर की उपासना है। यही मानव का कर्त्तव्य है।'

विचारों की इस गंगा में स्नान करके जब वे बाहर निकलते तो मस्तिष्क को पराजित पाते और हृदय अपनी जीत की पताका फहराता मिलता। अपने शिष्यों के

प्रति अगाध प्रेम से अपने हृदय को लबालब पाते। अन्तर्मन से स्वर फूटता।

—वे अपनी लिए नहीं सोचेंगे। उनके लिए मुझे सोचना है। कर्मक्षेत्र से भागने पर तो मैं स्वार्थी सिद्ध होऊंगा। मैं अपने शिष्यों को उपदेश देता हूं—अपनी पूरी शक्ति के साथ ज्योति की ओर अग्रसर हों, तो मैं संघर्ष मे पीछे क्यों हटूं ?"

विचारों की लोरियों के साथ-साथ स्वामीजी को निन्द्रा ने अपने आंचल में समेट लिया। प्रातः शिष्यगण उठे, स्वामीजी के कमरे में झांका। कक्ष खाली था। वे प्रातः भ्रमण को निकल चुके थे।

स्वामीजी लौटकर अपने नित्य प्रति के कार्यों में जुट गए। अध्ययन-मनन-शिष्यों के साथ चर्चा और फिर प्रवचन के लिए रवानगी। प्रवचन से पूर्व उन्होंने शिष्यों से कह दिया कि आज उन्हें प्रवचन-प्रकरण पूरा करना है सो बीच में किसी प्रकार का व्यवधान न डालें। वे प्रवचन स्थल की ओर रवाना हो गए।

प्रवचन स्थल पर लोगों की उमंग और जिज्ञासा का क्या कहना था ! सुबह नाश्ते-पानी के बाद जिज्ञासु जुटने लगे। ठीक समय पर स्वामीजी सभा स्थल पर पधारे और लोगों की अभ्यर्थना का उत्तर देकर विराजमान होगए। उन्हें बीते कल का श्रोता द्वारा किया गया प्रश्न स्मरण था सो प्रवचन का सूत्र उन्होंने वहीं से पकड़ा।

प्रियजनो—

"हम चाहे वैष्णव हों या शैव, शाक्त हों या गाणपत्य, प्राचीन वेदान्ती सिद्धान्तों को मानते हों या अर्वाचीनों के अनुयायी हों, पुरानी लकीर के फकीर हों या नवीन सुधारवादी—जो भी अपने को हिन्दू कहता है कुछ ऐसे तत्त्वों पर विश्वास करता है जो प्रत्येक के लिए सम भाव रखते हैं। ऐसा होना भी चाहिए। हमारा मापदण्ड रहा है कि हम किसी को जबर्दस्ती अपने सांचे में न ढालें। इन तत्त्वों की व्याख्याओं में भेद हो सकता है, होता ही है। सो ऐसा क्यों मानें कि जो व्याख्या हम करें, सबको वही व्याख्या माननी पड़ेगी अथवा हमारी स्वीकार की गई प्रणाली का अनुसरण करना होगा। बलात् ऐसा करना पाप है। आज यहां पर जो लोग एकत्र हुए हैं, शायद वे सभी एक स्वर में स्वीकार करेंगे कि वेद धर्म रहस्यों का सनातन उपदेश है। जब कभी हम इस पवित्र ग्रन्थ के प्रकाश में आते हैं, तब हमारे धर्म सम्बन्धी सारे भेदभाव और झगड़े मिट जाते हैं क्योंकि धर्म विषयक जितने भी भेद हैं, उनकी अन्तिम मीमांसा करने वाला यही वेद है। हम लोगों में मतभेद हो सकते हैं कि वेद क्या है। हमारा कोई सम्प्रदाय वेद के किसी अंश को अधिक पवित्र मान सकता है। लेकिन इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि हम यह विश्वास करते हैं कि वेदों के प्रति

श्रद्धालु होने के कारण हम सभी आपस में भाई-भाई हैं। अच्छा, यदि हमारा ऐसा ही विश्वास है: तो फिर सबसे पहले इसी तत्त्व का भारत में सर्वत्र प्रचार किया जाए। हम सबकी प्रथम मिलन भूमि 'वेद' है।

अब दूसरे सम तत्त्व पर आएं। हम सब ईश्वर पर विश्वास करते हैं। यही संसार की सृष्टि-स्थिति लयकारिणी शक्ति है। हमारी ईश्वर विषयक कल्पनाएं भिन्न-भिन्न हो सकती हैं—कुछ लोग ईश्वर को सम्पूर्ण सगुण रूप मे, कुछ उन्हें सगुण पर मानव भावापन्न रूप में नहीं और कुछ उन्हें सम्पूर्ण निर्गुण रूप में ही मान सकते हैं; और सभी अपनी-अपनी धारणा की पुष्टि में वेद के प्रमाण भी दे सकते हैं। इन सब विभिन्नताओं के बावजूद भी हम सब ईश्वर में विश्वास करते हैं। उस अनन्त शक्ति पर जो विश्वास नहीं करता, वह अपने को हिन्दू नहीं कह सकता। इस तत्त्व को भी समग्र भारत में फैलाना होगा। आप उस ईश्वर का चाहे जिस भाव से प्रचार करें, ईश्वर सम्बन्धी आपका भाव भले ही मेरे भाव से भिन्न हो, पर हम आपस में इसके लिए झगड़ा नहीं करेंगे। ईश्वर सम्बन्धी कोई धारणा बुरी नहीं है। हमारे धर्मतत्त्व की पारिभाषिक शब्दावली में 'बुरा' नाम का कोई शब्द नहीं है। ईश्वर के शुभ नाम का प्रवेश घर-घर में होना चाहिए।

अब तीसरा तत्त्व मैं तुम लोगों के आगे प्रकट करना चाहता हूं। हम लोग यह विश्वास नहीं करते कि जगत की सृष्टि केवल कुछ हजार वर्ष पूर्व हुई है: और एक दिन इसका ध्वंस हो जाएगा। हम यह भी विश्वास नहीं करते कि इसी जगत के साथ शून्य से जीवात्मा की भी सृष्टि हुई। मैं समझता हूं कि इस विषय में भी हम सब सहमत हो सकते हैं। हमारा विश्वास है कि प्रकृति अनादि और अनन्त है: पर हां, कल्पान्त में यह स्थूल बाह्य जगत अपनी सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त होता है और कुछ काल तक उस सूक्ष्मावस्था में रहने के बाद पुनः उसका प्रक्षेपण होता है। यह तरंगाकार गति अनन्त काल से चल रही है और अनन्त काल तक चलती रहेगी।

इसके साथ हमारा यह विश्वास भी है कि मनुष्य केवल स्थूल जड़ शरीर नहीं है, न ही उसके अभ्यन्तरस्थ यह 'मन' नामक सूक्ष्म शरीर ही यथार्थ मनुष्य है, वरन् यथार्थ मनुष्य तो इन दोनों से अतीत एवं श्रेष्ठ है। स्थूल शरीर और मन परिवर्तनशील हैं, परन्तु इन दोनों से परे 'आत्मा' नामक अनिर्वचनीय वस्तु है, जिसका न आदि है न अन्त। मैं इस 'आत्मा' शब्द का अंग्रेजी में अनुवाद नहीं कर सकता, क्योंकि इसका कोई भी पर्याय गलत होगा। यह 'आत्मा' मृत्यु नामक अवस्था से परिचित नहीं है। इसके सिवाय एक और विशिष्ट बात है, जिसमें हमारे साथ

अन्यान्य जातियों का अत्यन्त मतभेद है। वह यह है कि आत्मा एक देह का अन्त होने पर दूसरी देह धारण करता है, ऐसा करते-करते वह एक ऐसी अवस्था में पहुंचता है, जब उसे फिर शरीर धारण करने की कोई इच्छा या आवश्यकता नहीं रह जाती, तब वह मुक्त हो जाता है और फिर से कभी जन्म नहीं लेता। मेरा तात्पर्य पुनर्जन्मवाद तथा आत्मा के नित्यत्ववाद से है। हम चाहे जिस सम्प्रदाय के हों, पर इस विषय में हम सभी सहमत हैं। इस आत्मा-परमात्मा के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में हमारे मत भिन्न हो सकते हैं। एक सम्प्रदाय आत्मा को परमात्मा से अनन्त काल तक अलग मान सकता है, दूसरे के मत से आत्मा उसी अनन्त अग्नि की एक चिनगारी हो सकता है और फिर अन्यों के मतानुसार वह उस अनन्त से एकरूप और अभिन्न हो सकता है। लेकिन जब तक हम सब लोग इस मौलिक तत्त्व को मानते हैं कि आत्मा अनन्त है, उसकी सृष्टि कभी नहीं हुई और इसलिए उसका नाश भी कभी नहीं हो सकता, उसे तो भिन्न-भिन्न शरीरों से क्रमशः उन्नति करते-करते अन्त में मनुष्य शरीर धारण कर पूर्णत्व प्राप्त करना होगा, तब तक हम आत्मा एवं परमात्मा के इस सम्बन्ध के इस विषय में चाहे जैसी व्याख्या क्यों न करें, उससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं।'

स्वामीजी क्षण भर के लिए शान्त हुए। प्रवचन स्थल पर एक अद्भुत शान्ति ने डेरा डाल रखा था। प्रबुद्ध एवं उदात्त आध्यात्मिक विचारों का सागर लहरें मार रहा था। श्रोताओं में एक व्यक्ति ऐसा भी बैठा था, जो पाश्चात्य विचारों से प्रेरित था। उसकी जिज्ञासा कुलबुला रही थी। अवसर देखकर उसने एक सवाल उठा दिया।

"स्वामीजी, पाश्चात्य विद्वानों की इस विषय में क्या धारणा है ? क्या वे लोग भी आत्मा की इस व्याख्या से संतुष्ट हैं ?"

"हम यानी पौर्वात्य विचार इस बात पर विश्वास करते हैं कि आत्मा स्वभावतः शुद्ध, पूर्ण, आनन्दमय और अनन्त शक्ति सम्पन्न है। द्वैतवादी यह स्वीकार करते हैं कि आत्मा का स्वाभाविक आनन्द स्वभाव पिछले बुरे कर्मों के कारण संकुचित हो गया है एवं ईश्वर के अनुग्रह से वह फिर विकसित हो जाएगा और आत्मा पुनः अपने पूर्ण स्वभाव को प्राप्त हो जाएगा। इन्हीं में से जो पश्चिम के अद्वैतवाद के हामी हैं, वे कहते हैं कि आत्मा के संकुचित होने की यह धारणा भी अंशतः भ्रमात्मक है। हम तो माया के आवरण के कारण ही ऐसा समझते हैं कि आत्मा अपनी सारी शक्ति गंवा बैठा है। वास्तव में उसकी समस्त शक्ति तब भी पूर्ण रूप से अभिव्यक्त रहती है। जो भी अन्तर हो, पर हम एक ही केन्द्रीय तत्व तक पहुंचते हैं कि आत्मा स्वभावतः ही पूर्ण है; और यही प्राच्य और पाश्चात्य

भावों के बीच एक ऐसा अन्तर डाल देता है, जिसमें कहीं समझौता नहीं है। पाश्चात्य लोग इस विचार से सहमत नहीं हैं। वे मनुष्य को जड़ मानते हैं और अपनी देह के विषय में पहले सोचते हैं। जो कुछ महान है, शुभ है, पौर्वात्य उसका अन्वेषण अभ्यन्तर में करता है। हम जब पूजा उपासना करते हैं, तब आंखें बन्द करके ईश्वर को अपने अन्दर ढूंढ़ने का प्रयत्न करते हैं और पाश्चात्य अपने बाहर ही ईश्वर को ढूंढ़ता है। पाश्चात्यों के धर्मग्रन्थ प्रेरित हैं, जबकि हमारे धर्मग्रन्थ अन्तः प्रेरित हैं, निश्वास की तरह निकले हैं, वे ईश्वर निःसृत हैं, मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के हृदयों से निकले हैं।

प्यारे भाइयों, यह एक प्रधान बात है, जिसे अच्छी तरह समझने की बात है। मैं तुम लोगों को यह बताए देता हूं कि यही बात भविष्य में हमें विशेष रूप से बार-बार बतलानी और समझानी होगी, क्योंकि यह मेरा दृढ़ विश्वास है कि हम उस सर्वशक्तिमान परम पिता की सन्तान हैं, उसी अनन्त ब्रह्माग्नि की चिंगारियां हैं। अस्तु जो व्यक्ति दिन-रात अपने को दीन-हीन समझेगा, उसके द्वारा कुछ नहीं हो सकेगा। यदि आप कहो कि मेरे अन्दर शक्ति है तो आप में शक्ति जाग उठेगी। आपको यह महान तत्त्व स्मरण रखना होगा। हमारे पूर्वजों में यही तत्त्व विद्यमान था। उन्हें इसी आत्मविश्वासरूपी प्रेरणा शक्ति ने सभ्यता की उच्च से उच्चतर सीढ़ियों पर चढ़ाया था, और अब यदि हमारी अवनति हुई हो, हम में दोष आया हो तो मैं तुमसे सच कहता हूं, जिस दिन हमारे पूर्वजों ने अपना यह आत्म विश्वास गंवाया, उसी दिन से हमारी यह अवनति, आरम्भ हो गयी। आत्मविश्वासहीनता का मतलब है ईश्वर में अविश्वास।

हमारे महान दार्शनिक कपिल ने कहा है कि पवित्रता यदि आत्मा की प्रकृति न हो, तो आत्मा बाद में कभी भी पवित्रता को प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि जो स्वभावतः पूर्ण नहीं है, वह यदि किसी प्रकार पूर्णता पा भी ले, तो वह पूर्णता उसमें स्थिर भाव से नहीं रह सकती, वह उसके पास से पुनः चली जाएगी। यदि अपवित्रता ही मनुष्य का स्वभाव है, तो भले ही वह कुछ समय के लिए पवित्र हो ले, पर वह सदा के लिए अपवित्र बना रहेगा। अतएव हमारे सभी दार्शनिक कहते हैं कि पवित्रता ही हमारा स्वभाव है।

उस महर्षि के सुन्दर दृष्टान्त को सदैव स्मरण रखो, जो शरीर त्याग करते समय अपने मन से अपने किए हुए उत्कृष्ट कार्यों और उच्च विचारों का स्मरण करने के लिए कहते हैं (**ॐ क्रतो स्मर कृते स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर**—इशोपनिषद्)। देखा, उन्होंने अपने मन से अपने दोषों और दुर्बलताओं की याद करने के लिए नहीं

कहा है। यह सच है कि मनुष्य में दोष हैं, दुर्बलताएं हैं, पर आप सदा अपने वास्तविक स्वरूप को स्मरण करें। यही इन दोषों और दुर्बलताओं को दूर करने का अमोघ उपाय है।

मैं समझता हूं कि इन कतिपय तत्त्वों को भारतवर्ष के सभी भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय वाले स्वीकार करते हैं; और सम्भवतः भविष्य में इसी सर्व स्वीकृति के आधार पर समस्त सम्प्रदायों के लोग आपस में मिलकर रहेंगे। हमें यह बात याद रखनी चाहिए कि भारत में धर्म का तात्पर्य है 'प्रत्यक्षांनुभूति', इससे कम कदापि नहीं। हमें ऐसी बात कोई नहीं सिखा सकता कि यदि तुम इस मत को स्वीकार करो तो तुम्हारा उद्धार हो जाएगा, क्योंकि हम उस बात पर विश्वास करते ही नहीं। आप अपने को जैसा बनाएंगे, अपने को जैसे सांचे में ढालोगे, वैसा ही बनोगे। आप जो कुछ हैं, जैसे हैं, वह ईश्वर की कृपा से हैं। यही कारण है कि एकमात्र हमारे ही शास्त्रों ने बार-बार कहा है कि 'ईश्वर के दर्शन' करने होंगे। धर्म की प्रत्यक्ष अनुभूति करनी होगी। केवल सुनने से काम नहीं चलने का, तोते की तरह कुछ थोड़े से शब्द और धर्म विषयक बातें रट लेने से काम नहीं चलने का, केवल बुद्धि द्वारा स्वीकार कर लेने से भी काम नहीं चलेगा, आवश्यकता है अपने भीतर धर्म को उतार लेने की। अतः ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास रखने का सबसे बड़ा प्रमाण यह नहीं है कि वह तर्क से सिद्ध है, वरन ईश्वर के अस्तित्व का सर्वोच्च प्रमाण तो यह है कि हमारे यहां के प्राचीन तथा अर्वाचीन सभी पहुंचे हुए लोगों ने ईश्वर का साक्षात्कार किया है। आज भी ऐसे बहुत से हैं जिन्होंने आत्मोपलब्धि की है और भविष्य में भी ऐसे हजारों लोग होंगे, जिन्हें आत्मा की प्रत्यक्ष अनुभूति होगी। जब तक मनुष्य ईश्वर के दर्शन न कर लेगा, आत्मा की उपलब्धि न कर लेगा, तब तक उसकी मुक्ति असम्भव है। हम इस बात को जितना अधिक समझेंगे, उतना ही भारत में साम्प्रदायिकता का ह्रास होगा। 'जिसने उसे देख लिया, जो हमारे निकट से निकट है और फिर दूर से दूर भी है, उसके हृदय की गांठें खुल जाती हैं, उसके सारे संशय दूर हो जाते हैं और वह कर्मफल के समस्त बंधनों से छुटकारा पा जाता है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिशिछद्यन्त सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।।

मुंडकोपनिषद् 2/2/8।।

यदि कोई तुमसे साम्प्रदायिक झगड़ा करने को तैयार हो तो उससे पूछिये—"तुमने क्या ईश्वर के दर्शन किए हैं ? क्या तुम्हें कभी आत्मदर्शन प्राप्त हुआ है ? यदि नहीं, तो तुम्हें ईश्वर के नाम का प्रचार करने का क्या अधिकार है ? तुम तो स्वयं अन्धेरे

में भटक रहे हो ओर मुझे भी उसी अन्धेरे में घस ·· ·· कोशिश कर रहे हो ? 'अन्धा-अन्धे को राह दिखावे' के अनुसार तुम मुझे भी ·· में ले गिरोगे।"

आप वास्तव में हिन्दू कहलाने के तभी योग्य हो सकेंगे, जब 'हिन्दू' शब्द को सुनते ही आपके अन्दर बिजली दौड़ने लग जाएगी। आप तभी सच्चे हिन्दू कहला सकोगे, जब आप किसी भी प्रान्त की कोई भी भाषा बोलने वाले प्रत्येक हिन्दू व्यक्ति को एकदम अपना सगा और स्नेही समझने लगोगे। आप तभी सच्चे 'हिन्दू' माने जाओगे, जब किसी भी हिन्दू कहलाने वाले का दुःख तुम्हारे हृदय में तीर की तरह आकर चुभेगा, मानो आपका अपना लड़का ही विपत्ति में पड़ गया हो। आप यथार्थतः 'हिन्दू' नाम के योग्य तब होंगे, जब इसके लिए समस्त अत्याचार और उत्पीड़न सहने के लिए तैयार रहोगे। इसके ज्वलन्त दृष्टान्त हैं—हमारे गुरु गोविन्द सिंह। इस महात्मा ने देश के शत्रुओं के विरुद्ध लोहा लिया, हिन्दू-धर्म के लिए अपना रक्त बहाया, अपने पुत्रों को अपनी आंखों के सम्मुख मौत के घाट उतरते देखा। लेकिन जिनके लिए इन्होंने अपना और अपने प्राणों से बढ़कर प्यारे पुत्रों का खून बहाया, उन्हीं लोगों ने इनकी सहायता करना तो दूर रहा, उल्टे, इन्हें त्याग दिया। यहां तक कि इन्हें अपने इस प्रदेश को भी त्यागना पड़ा। अन्त में मर्मान्तक चोट खाए हुए सिंह की भांति यह नर केसरी शान्ति पूर्वक अपने जन्म स्थान को छोड़, दक्षिण भारत में जाकर मृत्यु की राह देखने लगा, परन्तु अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक उन्होंने अपने कृतघ्न देशवासियों के प्रति कभी शाप का एक शब्द भी मुंह से नहीं निकाला।

आप यदि देश की भलाई करना चाहते हैं तो आप में से प्रत्येक को गुरु गोविन्द सिंह बनना होगा। आपको अपने देशवासियों में भले ही हजारों दोष दिखाई दें, पर आप उनकी रग-रग में बहने वाले हिन्दू रक्त की ओर ध्यान दीजिए। आपको पहले अपने इन स्वजातीय नर रूप देवताओं की पूजा करनी होगी, भले ही वे आपकी बुराई के लिए लाख चेष्टा किया करें। यदि प्रत्येक आप पर शाप और निन्दा की बौछार करे, तो भी आप इनके प्रति प्रेमपूर्ण वाणी का प्रयोग ही करें। जो ऐसा कर सकता है, वही सच्चा हिन्दू कहलाने का अधिकारी है।

मैं अपने अनुभव के बल पर कहता हूं जब तक हम सच्चे अर्थों में धार्मिक नहीं होते, तब तक भारत का उद्धार होना कठिन है। केवल भारत ही क्यों, सारे संसार का कल्याण इसी पर निर्भर है। मैं आपको स्पष्टतया बता दूं कि इस समय पाश्चात्य सभ्यता की अपनी नींव तक हिल चुकी है। भौतिकवाद पर खड़ी होने वाली बड़ी से बड़ी इमारतें भी एक न एक दिन आपादग्रस्त होंगी, ढह जाएंगी।

इस विषय में संसार का इतिहास साक्षी है। जाति पर जाति उठी हैं और भौतिकवाद की नींव पर उन्होंने अपने गौरव का प्रासाद खड़ा किया है। उन्होंने संसार के समक्ष घोषणा की है कि जड़ के सिवाय मनुष्य और कुछ नहीं है। इसीलिए पाश्चात्य भाषा में 'मनुष्य आत्मा छोड़ता है।' पर हमारी भाषा में 'मनुष्य शरीर छोड़ता है।' पाश्चात्य मनुष्य अपने सम्बन्ध में पहले देह का ही लक्ष करता है। उसके बाद उनकी एक आत्मा है। लेकिन हम लोगों के अनुसार मनुष्य पहले आत्मा ही है और फिर उसकी एक देह भी है। यही कारण है कि हमारी सभ्यता आज भी जीवित है। अतएवं धैर्य के साथ राह देखते रहो, हम लोगों का भविष्य उज्जवल है।

उतावले मत बनो, किसी दूसरे का अनुकरण करने की चेष्टा मत करो। दूसरे का अनुकरण करना सभ्यता की निशानी नहीं है। यह एक महान पाठ है, जो हमें याद रखना है। मैं यदि राजा की-सी पोशाक पहन लूं तो क्या मैं वास्तव में राजा बन जाऊंगा ? यह तो मनुष्य का अधः पतन है। हम जब अपने पूर्वजों को पूर्वज मानने में लज्जित होते हैं तो समझ लो हमारा विनाश निकट है। यद्यपि मैं हिन्दू जाति का एक नगण्य व्यक्ति हूं, तथापि अपनी जाति और अपने पूर्वजों के गौरव को में अपना गौरव मानता हूं। अपने को हिन्दू बताते हुए, हिन्दू कहकर अपना परिचय देते हुए, मुझे एक प्रकार का गर्व-सा होता हैं। हमें अपने स्वयं के प्रयत्नों द्वारा अपने अन्दर की शक्तियों का विकास करना चाहिए पर देखो, दूसरों का अनुकरण न करो। हां, दूसरों के पास जो कुछ अच्छाई हो, उसे अवश्य ग्रहण करो। जमीन में बीज बो दो, उसके लिए पर्याप्त मिट्टी, हवा और पानी की व्यवस्था करो, कालान्तर में वह विशाल वृक्ष बनेगा। अन्यों से उत्तम बातें सीखकर उन्नत बनो। जो सीखना नहीं चाहता, वह तो पहले ही मर चुका होता है। महर्षि मनु ने कहा है—

श्रद्धधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि।
अन्त्यादपि परं धर्म स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि।। (मनुस्मृति)

—'स्त्री रत्न को, भले ही वह कुलीन न हो, अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार करो और नीच व्यक्ति की सेवा करके उससे भी श्रेष्ठ विद्या सीखने का प्रयत्न करो। चांडाल से भी श्रेष्ठ धर्म की शिक्षा ग्रहण करो।' औरों के पास जो कुछ भी अच्छा पाओ, सीख लो; पर उसे अपने भाव के सांचे में ढालकर लेना होगा। दूसरे से शिक्षा ग्रहण करते समय उसके ऐसे अनुगामी न बनो कि अपनी स्वतंत्रता खो बैठो।

हमें भारत के जातीय जीवन को नहीं भूलना चाहिए। पल भर के लिए भी

ऐसा न सोचना कि भारतवर्ष के सभी अधिवासी यदि अमुक जाति की वेशभूषा धारण कर लेते या अमुक जाति के आचार-व्यवहारादि के अनुयायी बन जाते तो बड़ा अच्छा होता। यह तो आप भली भांति जानते हो कि कुछ ही वर्षों का अभ्यास छोड़ देना कितना कठिन होता है ! फिर ईश्वर ही जानता है कि आपके रक्त में कितने सहस्र वर्षों का संस्कार जमा हुआ है; किन्तु सहस्र वर्षों से यह प्रबल जातीय जीवन स्रोत एक विशेष दिशा की ओर प्रवाहित हो रहा है। क्या आप यह समझते हैं कि यह प्रबल धारा; जो प्रायः अपने समुद्र के पास पहुंच चुकी है, पुनः उलट कर हिमालय की हिमाच्छित चोटियों पर वापस जा सकती है ? यह असम्भव है। यदि ऐसा करोगे तो जाति ही नष्ट हो जाएगी। अतः इस जातीय जीवन के स्रोत को पूर्ववत् प्रवाहित होने दो। हां, जो बांध इसके रास्ते में रुकावट डाल रहे हैं, उन्हें काट दो, इसका रास्ता साफ करके प्रवाह को मुक्त कर दो। आप देखेंगे कि यह जातीय जीवन स्रोत अपनी स्वाभाविक प्रेरणा से आगे बढ़ निकलेगा और जाति अपनी सर्वांगीण उन्नति करते-करते चरम लक्ष्य की ओर अग्रसर होती जाएगी।

मैं चाहता हूं कि प्रत्येक मनुष्य के जीवन में धर्म प्रतिष्ठित हो। भारत में धर्म बहुत दिनों से गतिहीन बना हुआ है। हम चाहते हैं कि उसमें गति उत्पन्न हो। मैं चाहता हूं कि प्राचीन काल की तरह राजमहल से लेकर गरीब के झोंपड़ें तक सर्वत्र समान भाव से धर्म का प्रवेश हो। याद रहे, धर्म की इस जाति का साधारण उत्तराधिकार एवं जन्मसिद्ध स्तत्व है। हमें इसे सर्व सुलभ बनाना होगा। लेकिन छोटे-छोटे दल बांधकर आपसी मतभेदों पर विवाद करते रहने से यह नहीं होगा। हमें तो उन बातों का प्रचार करना होगा, जिनसे हम सब सहमत हैं। इसी से हमारे आपसी मतभेद दूर होंगे। मैंने भारतवासियों से बार-बार कहा है और अब भी कह रहा हूं कि कमरे में यदि सैकड़ों वर्षों से अन्धकार फैला हुआ है तो क्या 'घोर अन्धकार !' 'भयंकर अन्धकार !!' चिल्लाने से अन्धकार दूर हो जाएगा ? नहीं; रोशनी जला दो, फिर देखो अन्धेरा दूर होता है या नहीं। मनुष्य के सुधार का यही रहस्य है। प्रकाश कभी भी अन्धकार का नाश किए बिना नहीं रह सकता। यदि सारे देश का आध्यात्मिक सुधार करना चाहते हो, तो उसके लिए यही रास्ता है—**'नान्यः पन्था'** वाद-विवाद या लड़ाई-झगड़ों से दूर रहो। लोगों से यह कहने की आवश्यकता भी नहीं है कि तुम लोग जो कुछ कर रहे हो, वह अच्छा नहीं है, बुरा है। जो कुछ अच्छा है, उसे उनके सामने रख दो, फिर देखो, वे कितने आग्रह के साथ उसे ग्रहण करते हैं।'

स्वामीजी का प्रवचन समाप्त हुआ, मानो मन मोहिनी राग माला का गान बन्द कर दिया हो। लोग उनके गहन ज्ञान और अद्‌भुत वक्तृत्व शक्ति से सम्मोहित थे। सबसे बड़ी बात यह है कि उन्होंने किसी धर्म का खण्डन नहीं किया पर अपने धर्म को श्रेष्ठ सिद्ध कर दिया और इसके समान तत्त्वों का विश्लेषण करके यह सिद्ध कर दिया कि हम विभिन्न पंथों और मतों को बिना द्वन्द्व किए सर्वसम्मत ढंग से एक करके चल सकते हैं।

प्रवचन समाप्त हुआ। श्रोताओं में कई जिज्ञासु भी थे और वे अपने मन में उतराते सवालों को शान्त करना चाहते थे। स्वामीजी ने उन्हें पूरा समय दिया ताकि वे प्रश्न पूछ सकें। यह कार्यक्रम भी समाप्त हुआ। वे शिष्यों के साथ वापस लौटे। कुछ विश्राम किया और अगले कार्यक्रम को निपटाने रवाना हो गए। योग पर विशद चर्चा हुई और अन्ततः वह 'भक्ति' विषय की ओर मुड़ गई। इस सुखद चर्चा के उपरान्त वे कुछ देर ट्रिब्यून समाचार पत्र के सम्पादक से बात करते रहे; और जब शिष्यों के साथ पुनः अपनी आश्रयस्थली पर लौटे तो काफी थकान का अनुभव कर रहे थे।

वे अपने कक्ष में आराम करने चले गए। सदानन्द अन्य गुरुभाइयों को लेकर भोजन व्यवस्था में लग गया।

कुछ कालोपरान्त सदानन्द स्वामीजी को भोजन स्थल पर ले गया। भोजन करने के बाद वे बाहर के बाग में टहलते रहे।

उनके मस्तिष्क में रामकृष्णदेव के मठों की स्थापना का चित्र घूम रहा था। अपने इसी लक्ष्य के लिए वे देश का भ्रमण करने में लगे हुए थे। जगह-जगह लोगों को जाग्रत कर रहे थे और उनसे हर प्रकार का सहयोग ले रहे थे। कश्मीर यात्रा के दौरान महाराज ने उन्हें मठ के लिए जमीन देने का वायदा किया। मठ निर्माण हेतु अर्थ (धन) एकत्रित करने के लिए उन्होंने अपने शिष्य छोड़ दिए थे। यहां भी उन्हें लोगों की भावनाएं मुड़ती दिख रही थीं। उनकी इच्छा थी कि सदानन्द और सुधीर को यहां छोड़ दें।

टहलते-टहलते उन्हें ध्यान आया कि राखाल (ब्रह्मानन्द) को पत्र लिखना है। वे अन्दर जाने के लिए मुड़े ही थे कि सदानन्द को अपनी ओर आता देखा।

"क्या बात है सदानन्द ? तुम्हें मेरी चिन्ता हो गई होगी ?"

"गुरुदेव ! कैप्टन सेव्हियर और उनकी पत्नी आई हैं। मैंने उनके ठहरने की व्यवस्था कर दी है।"

"बहुत अच्छा किया। उनकी भोजन व्यवस्था भी करनी होगी।"

"कर दी है। लेकिन वे सबसे पहले आपसे मिलना चाहते हैं।"

"चलो।"

स्वामीजी को देखते ही सेव्हियर और उसकी पत्नी ने उठकर अति गर्मजोशी से उनसे हाथ मिलाया। स्वामीजी मृदुल वाणी में बोले—"आप लोग तो कश्मीर में कुछ दिन और रहने की सोचे हुए थे ?"

"रहते जरूर, लेकिन मैंने आपको जो वचन दिया है, उसकी चिन्ता मुझे ज्यादा है। आपके पास कलकत्ते से कोई सूचना आई ? आपका कोई व्यक्ति मसूरी या देहरादून पहुंचा ? मठ के लिए स्थान का चयन हुआ या नहीं ?"

"मेरे कारण आप लोगों को परेशानी उठानी पड़ रही है। आपको इंग्लैंड से आए नौ महीने हो चुके हैं सो अधीरता स्वाभाविक है।"

"ऐसा कह कर आप हमें लज्जित मत करिए। मेरा कहने का आशय है कि मैं जमीन खरीद कर और भवन बनाकर आपको दे दूं तो मेरी आत्मा सुख पाए।"

"मेरा सम्पर्क कलकत्ते से ठीक प्रकार से नहीं हो पा रहा है। लेकिन अब मैं अपने आगे के भ्रमण-कार्य को स्थगित करके पहले आपके साथ देहरादून जाऊंगा।"

"मेरी हठ को अन्यथा मत लीजिएगा।" सेव्हियर बोला।

"अन्यथा का प्रश्न ही नहीं उठता। आप मुझे लज्जित न करें।"

सदानन्द ने कमरे में प्रवेश किया और बताया कि भोजन तैयार है अतिथियों के लिए।

"आप लोग भोजन करिए।" स्वामीजी ने कहा।

सदानन्द सेव्हियर ओर श्रीमती सेव्हियर को लेकर चला गया। स्वामीजी ने मन में विचारा।

....'दानदाता दान देने के लिए परेशान हैं और हम....। खैर ! मुझे सिन्ध का भ्रमण टालना होगा और देहरादून जाना होगा।'

सेव्हियर दम्पति शीघ्रताशीघ्र स्वामीजी के सहयोग से मठ के रूप में एक अनाथालय खोलना चाहते थे। स्वामीजी भी इस योजना के क्रियान्वयन के लिए उत्सुक थे। वे जानते थे कि समाज को इस कदम से जहां एक ओर प्रेरणा मिलेगी वहीं समाज के ठुकराए बालकों को एक आश्रयस्थली प्राप्त हो सकेगी।

स्वामीजी ने अपने विश्राम कक्ष में लौटकर राखाल के लिए पत्र लिखने का उपक्रम प्रारम्भ किया ही था कि कक्ष के द्वार पर पदचाप से उनके ध्यान में विघ्नता पड़ी। ग्रीवा उठाकर देखा, सदानन्द था। उसकी दृष्टि में उपालम्भ तैर रहा था। स्वामीजी मुस्कराए और तुरन्त शान्त स्वर में बोले—"यह पत्र लिख लूं, जरूरी है।

इसके बाद आराम।"

"आपकी इच्छा। मैं यह बताने आया था कि सेव्हियर दम्पति की शयन व्यवस्था कर दी है।"

सदानन्द के स्वर की नाराजगी का आभास स्वामीजी को हो गया। उन्होंने सदानन्द की ओर देखकर कहा—"मोह में अविच्छिन न हो। क्या तू इतना भी नहीं जानता रे ! मुझे गुरुदेव ने अभयदान दे रखा है और कह रखा है—**'प्रतिजानीही न मे भक्तः प्रणश्यति।'** यानी संसार में घोषणा कर दो कि उनका भक्त कभी नष्ट नहीं हुआ करता।"

सदानन्द ने अपने कदम लौटा दिए। स्वामीजी ने राखाल (स्वामी ब्रह्मानन्द) को पत्र लिखना शुरू किया।

लाहौर,
15 नवम्बर, 1897

अभिन्न हृदय,

सम्भवतः तुम्हारा तथा हरि का स्वास्थ्य अब ठीक होगा। लाहौर से मैं देहरादून रवाना हो रहा हूं सिन्ध यात्रा स्थगित कर दी गई है। दीनू, लाटू, कृष्णलाल जयपुर पहुंचे हैं या नहीं ? अभी तक कोई समाचार प्राप्त नहीं हुआ है। मठ के खर्च के लिए बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्ता महोदय यहां से चन्दा एकत्रित कर भेजेंगे। उनके पास रशीद की किताबें भेज देना। मरी, रावलपिंडी तथा सियालकोट से तुम्हें कुछ प्राप्त हुआ या नहीं, मुझे सूचित करना।

इस पत्र का उत्तर 'द्वारा पोस्ट मास्टर, देहरादून' के पते पर देना। अन्य पत्रादि देहरादून से मेरा पत्र मिलने पर भेजना। मेरा शरीर ठीक है। रात में दो-एक बार उठना पड़ता है। नींद भी ठीक आती है। अधिक व्याख्यान देने पर भी नींद की कोई हानि नहीं होती है, साथ ही प्रतिदिन व्यायाम भी जारी है। कोई गड़बड़ी नहीं है। अब कमर कसकर जुट जाओ। उस बड़ी जगह पर चुपचाप दृष्टि रखना। इस समय वहीं पर महोत्सव करने की यथोचित्त व्यवस्था की जा रही है। सब से मेरा प्यार कहना। इति।

—विवेकानन्द

पुनश्चः—मास्टर महाशय यदि बीच-बीच में हम लोगों के बारे में 'ट्रिब्यून' में लिखते रहें तो बहुत ही अच्छा हो। फिर तो लाहौर में हलचल बन्द नहीं होगी। अब पर्याप्त उत्साह है। भली-भांति सोच-विचार कर रुपए खर्च करना; तीर्थ यात्रा का भार अपने ऊपर लो तथा प्रचारादि का व्यय मठ से हो।

स्वामीजी ने राखाल को पत्र लिखकर समाप्त किया और शयनार्थ चले गए। उनकी प्रबल इच्छा थी कि सिन्ध जाकर आत्मीय स्वजनों से मिलें, विशेषकर कल्याणीया मां इन्दुमती से। लाहौर तक आए ही थे. सिन्ध जाने में कोई कठिनाई नहीं थी। लेकिन दो कारणों ने उनके पैर बांध दिए। पहला कारण यह कि सेव्हियर दम्पति के साथ देहरादून जाना आवश्यक हो गया तथा दूसरा कारण कलकत्ता का मठ था। स्वामीजी कलकत्ते में मठ के निर्माण के लिए अति उत्सुक थे। वे चाहते थे कि श्रीरामकृष्णदेव के प्रति समर्पित लोगों के पास उनका अपना रहने का ठिकाना तो हो। दान के बिना यह काम असम्भव था। स्वामीजी को अनुभव हो रहा था कि जब से वे इंग्लैंड यात्रा से लौटे हैं, तब से उन्हें दान मिलना कुछ कम हो गया है। इसका कारण लोगों की यह सोच थी कि स्वामीजी इंग्लैंड से काफी पैसे लेकर लौटे हैं। लेकिन यह वास्तविकता नहीं थी। हो सकता है इस अभाव की स्थिति में स्वामीजी कलकत्ते में मठ के निर्माण के कार्य को कुछ काल के लिए टाल देते किन्तु एक अन्य कारण उन्हें इस विषय में उद्वेलित किये जा रहा था।

कलकत्ते में श्रीरामकृष्णदेव की भक्तिस्थली दक्षिणेश्वर का भवतारिणी मन्दिर रहा है। इसी मन्दिर में उन्हें महाभाव की अनुभूति हुई थी। मन्दिर का लम्बा-चौड़ा आश्रम श्रीरामकृष्णदेव के भक्तों की आश्रयस्थली थी। इस मन्दिर को रानी रासमणि* ने बनवाया था। इस मन्दिर में श्रीरामकृष्णदेव के भक्त एंव मानस पुत्र अपने गुरु के सम्मान में हर वर्ष महोत्सव मनाते थे।

लेकिन इस वर्ष स्वामी विवेकानन्द को आभास हो रहा था कि रानी रासमणि के उत्तराधिकारी उनके विलायत जाने के कारण उन्हें एवं भक्तों और शिष्यों को मन्दिर में प्रवेश नहीं करने देंगे। यदि ऐसा हुआ तो महोत्सव कैसे मनाया जाएगा। महोत्सव जैसे कार्य में व्यवधान पड़े, यह स्वामीजी नहीं चाहते थे, सो इस कारण भी वे इच्छुक थे कि कलकत्ते में श्रीरामकृष्णदेव का अपना मठ बन जाए ताकि अन्यों के आश्रय

रानी रासमणि का जन्म सन् 1783 में बंगाल के कोना ग्राम में हुआ था। इनके पिता हरेकृष्णदास शूद्र थे। ये अति निर्धन थे। भाग्य के चमत्कार से रानी रासमणि का विवाह धनी जमींदार राजचन्द्र बाबू से हुआ। रानी उनकी तीसरी पत्नी थीं। सन् 1836 में बाबू राजचन्द्र 80 लाख रुपयों की सम्पत्ति छोड़कर स्वर्ग सिधार गए। इसके पश्चात् श्रीरामकृष्णदेव का सानिध्य पाकर वे भक्ति भावना की ओर उन्मुख हुईं और धर्म कार्य करने लगी। सन् 1854 में उन्होंने कलकत्ते में गंगा के पूर्वी तट पर 60 बीघा जमीन खरीद कर भव्य दक्षिणेश्वर मन्दिर बनवाया। श्रीरामकृष्णदेव के निकट होने के कारण रानी ने आध्यात्मिक क्षेत्र में बहुत उन्नति की। श्रीरामकृष्णदेव रानी रासमणि को श्री जगदम्बा की अष्ट नायिकाओं में से एक मानते थे।

में न रहना पड़े। यही कारण था कि वे सिन्ध न जाकर राजपूताना जाना चाह रहे थे ताकि मित्रों और भक्तों से आर्थिक मदद लेकर मठ का निर्माण शीघ्र करवाया जा सके।

लेकिन अब सेव्हियर दम्पति के आ जाने से उन्हें एकाएक अपने कार्यक्रम में परिवर्तन करना पड़ा और देहरादून जाने का निर्णय करना पड़ा।

प्रातः लाहौर के प्रतिष्ठितजनों को उनके जाने की भनक पड़ गई। लोगों का आग्रह था कि स्वामीजी 'वेदान्त' पर उन्हें ज्ञान दें। भक्तों का सुआग्रह ठुकराना भला किसके लिए सम्भव हो सकता है। स्वामीजी नें अपनी सहमति प्रदान कर दी।

स्वामीजी के इस निर्णय से उनके शिष्य विचलित थे। उन्हें मालूम था कि उनके गुरुदेव इन दिनों न तो ठीक से भोजन कर पा रहे हैं और न आराम। सदानन्द रात भर स्वामीजी के कक्ष के बाहर चक्कर लगाते रहे। स्वामीजी की बीती रात आंख भी न लगी थी; और फिर, दिन भर बोलना।

और आखिर वही हुआ जिसकी शिष्यों को आशंका थी। स्वामीजी 'वेदान्त' विपय पर बोले। वेदों का महत्त्व, वेदों के विभिन्न भाग, वेदों में निहित तत्त्व, उनके लक्ष्य आदि विपयों को इतने विस्तृत ढंग से लिया कि प्रवचन ने बहुत अधिक समय ले लिया। वे जो कुछ कहते थे, उसका प्रमाण देते थे। गीता, कठोपनिषद्, मुंडकोपनिषद्, ऋग्वेद, पांतजल योगसूत्र, वृहदारण्यकोपनिषद्, दुर्गासप्तशती, विवेक- चूड़ामणि, श्वेताश्वतरोपनिषद्, नीतिशतकम् आदि ग्रन्थों का मेल बिठाकर स्वामीजी ने अपने प्रवचन को विहंगम और विशद रूप दे दिया।

श्रोता मग्न थे पर विवेकानन्द थक गए। वे प्रवचनों के बीच में कभी रुकते नहीं थे, पर आज उन्हें विश्राम लेना पड़ा। शिष्यों के मनों में एक अन्य आशंका उभरी। स्वामीजी सेव्हियर दम्पति को वचन दे चुके थे। वे स्वामीजी के साथ देहरादून जाने की प्रतीक्षा में बैठे थे। कहीं ऐसा न हो कि अस्वस्थ होते हुए भी स्वामीजी अपने वचन के पालनार्थ देहरादून प्रस्थान कर जाएं। स्वामीजी का यह विशेप गुण था कि अपने कारण के अन्य को कष्ट नहीं होने देते थे।

वे जब प्रवचन स्थल से लौटे तो सुधीर और सदानन्द ने उनसे गहरी चर्चा की। सदानन्द बोला—"यदि आप अस्वथता का अनुभव करते हो तो देहरादून जाना दो-चार दिनों के लिए टाला जा सकता है।"

"तुम मुझमें अस्वथता के क्या लक्षण देख रहे हो ?"

"गुरुदेव, मुझे क्षमा करें। थकान क्या अस्वथता के लक्षण नहीं हैं ?"

"थकावट कैसी ? मेरा मूल मन्त्र तो 'आगे बढ़ते रहो', 'आगे बढ़ते रहो' है।"

"लेकिन यह तभी होगा, जब हम अपनी शारीरिक ऊर्जा को यथावत रखेंगे।"

"चलो तुम्हारी बात मानी, किन्तु मेरी बात हमेशा याद रखना। हम जिस कार्य के प्रति समर्पित हैं, उसे पूरा करने के लिए मौत का भी सामना करना पड़े तो हमें यह करना ही होगा।" दोनों शिष्य चुप कर गए। स्वामीजी ने प्रेम भरे स्वर में कहा—"मैं आज सेव्हियर दम्पति के साथ देहरादून प्रस्थान कर रहा हूं। देहरादून में ठहरना कार्य की प्रकृति पर निर्भर करना है। देहरादून से दिल्ली, अलवर होते हुए खेतड़ी पहुंचने का कार्यक्रम है।"

"आप देहरादून अकेले जाएंगे ?"

"मैं सेव्हियर दम्पति को साथ लेकर जा रहा हूं। उन्हें मैं अपना माता-पिता मानता हूं, सो मैं अकेला कहां ? तुम लोग दो-चार दिन यहां रुक कर खेतड़ी पहुंचो। शेष निर्णय वहीं करेंगे।"

उसी दिन स्वामीजी सेव्हियर दम्पति के साथ देहरादून प्रस्थान कर गए। देहरादून पहुंचने से पहले ही मार्ग में पता लग गया कि वहां प्लेग फैला हुआ है। मुख्य शहर तो इस भयंकर बीमारी से बचा हुआ था किन्तु आसपास के क्षेत्रों में भगदड़ मची हुई थी। इस भगदड़ का प्रभाव शहर पर भी पड़ रहा था।

स्वामीजी के भक्त और शिष्यों ने उनकी अगवानी की। मठ के लिए चयनित स्थान के विषय पर विचार-विमर्श हुआ। लेकिन पता लगा कि जमीन कुछ विवादग्रस्त है तथा मालिक पैसे भी ज्यादा मांग रहा है। स्वामीजी का विचार था कि वे खुद नई जमीन तलाश करें, पर प्लेग की खबर से इतनी अस्त-व्यस्तता लोगों में फैली हुई थी कि ढंग से बात नहीं हो सकती थी। यहां एक साधु कल्याणदेव स्वामीजी से बेहद प्रभावित हुआ और उसने भविष्य में पूरी मदद का आश्वासन दिया।

कर्मयोगी स्वामीजी इससे निराश नहीं हुए। उन्होंने शिष्यों, मित्रों और सेव्हियर दम्पति से कहा कि निराश होने की आवश्यकता नहीं है। कार्य निश्चित ही होगा क्योंकि हमारे प्रयास में कोई कोताही नहीं है। सद्इच्छा और सद्प्रयास हमेशा सफल होते हैं।

आपस में राय करके निष्कर्ष निकला कि स्वामीजी अपनी पूर्व योजनानुसार चलते रहें और अपने कार्यक्रमों को सम्पन्न करते रहें। देहरादून में उनके भक्त यथा सम्भव शीघ्र जमीन तलाश करक सव्हियर दम्पति की इच्छानुसार निर्माण कार्य प्रारम्भ कर देंगे। स्वामीजी; और सेव्हियर दम्पति इस वार्ता से संतुष्ट हुए।

दो-चार दिन देहरादून में रुककर स्वामीजी दिल्ली प्रस्थान कर गए। यहां उन्हें स्वामी ब्रह्मानन्दजी का पत्र मिला। स्वामी ब्रह्मानन्द कलकत्ते में अपनी जमीन लेकर मठ निर्माण के प्रयास में लगे हुए थे ताकि स्वामी विवेकानन्द की कामनानुसार आने वाले नए वर्ष में महोत्सव खुद की जमीन पर सम्पन्न हो सके।

स्वामी विवेकानन्द ने दिल्ली से स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखा—"चाहे कुछ भी हो, हमें अपनी जमीन पर महोत्सव करके दम लेना है। इस बात को मत भूलना। तुम्हें अब झटपट कलकत्ते में जमीन लेकर अपने मठ बना लेने के बाद ही आगे बढ़ना है। यह सारा काम बहुत गोपनीय ढंग से होना चाहिए। मैं अलवर होता हुआ खेनड़ी जा रहा हूं और तत्पश्चात् कलकत्ते पहुंचूंगा।"

स्वामीजी के सम्मुख बैठा हुआ शिष्य किसी गहरी सोच में डूबा था। उसके चिन्तायुक्त चेहरे को देखकर स्वामीजी ने पूछा—"क्या बात है ?"

"मुझे भाई के पत्र का उत्तर देना था।"

"यह बात तो तुमने चारेक दिन पहले भी कही थी।"

"मैं संकोच में हूं कि लिखूं क्या ?"

"तुम खुलकर बात बताओ ?"

"मेरे सिवाय घर का कोई सहारा नहीं था। मैंने सन्यास ले लिया। भाई-बहन छोटे हैं। मां-बाप वृद्ध हैं। उनकी फाकाकस्सी की नौबत आ रही है।"

स्वामीजी ने मन में सोचा—"क्या अद्‌भुत संयोग है ! मैंने भी ऐसा ही सवाल श्रीरामकृष्णदेव के सम्मुख किया था।"

शिष्य स्वामीजी के उत्तर की प्रतीक्षा में था। स्वामीजी मृदु स्वर में बोले—"श्रीरामकृष्णदेव पर पूर्ण आस्था रखो, सब ठीक होगा। इस जीवन में ये झंझावत तो आते ही हैं किन्तु इतनी-सी विपदा से जीवन रूपी पत्ते को खिरना नहीं चाहिए। मां सबका भला करती हैं।"

शिष्य अनमना-सा उठा और स्वामीजी को शीश नवाकर चला गया ताकि वे विश्राम कर लें। लेकिन स्वामीजी को विश्राम कहां ! उन्होंने स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखे गए पत्र के साथ दो पंक्तियां और लिखीं ताकि शिष्य का संकट टल सके।

इसके उपरान्त वे विगत काल की स्मृतियों में खो गए।

12

नरेन्द्र ऊपरी तौर पर श्रीरामकृष्णदेव की बातों का उपहास उड़ाते थे। लेकिन आध्यात्मिक दृष्टि से वे श्रीरामकृष्णदेव के मानस पुत्र बनते जा रहे थे। श्रीरामकृष्णदेव उनके अन्तःस्थल में गहरे उतरते जा रहे थे।

नरेन्द्र बी॰ए॰ की पढ़ाई कर रहे थे। पिताजी ने उन्हें आदेश दिया कि वे अध्ययन

के साथ अटर्नी का कार्य भी सीखे। इसके लिए उन्होंने पुत्र को अटर्नी निमाईचरण बसु का नाम सुझाया। नरेन्द्र पिताजी की आज्ञा को शिरोधार्य मानकर दत्तचित्त से अटर्नी का काम सीखने लगे।

मां-बाप की इच्छा थी कि पुत्र की वर-गृहस्थी का जुगाड़ भी कर दिया जाए ताकि वे केन्द्राभिभूत होकर एक निश्चित दशा में बढ़ना शुरू कर दें। उनकी इस भावना के पीछे यह भी कारण था कि नरेन्द्र के विषय में समाज में चर्चाएं हो रही थीं कि वे रामकृष्णजी के प्रभाव में आकर सन्यास ले लेंगे।

घर में जो भी आता, इस विषय पर चर्चा करता सो नरेन्द्र के अध्ययन कार्य में विघ्न पड़ता। उन्होंने निर्णय किया, कि अपने नानाजी के मकान में अपनी पढ़ाई कार्य की व्यवस्था कर लेंगे। उनके नानाजी रामतनु बसु लेन में रहते थे। उन्होंने एक कमरे में साधारण बिस्तर, पाठ्यपुस्तकें आदि व्यवस्थित कर लीं। वहीं एक कोने में अपना प्रिय तानपुरा भी रख लिया।

उन्होंने अपना रहन-सहन एक सच्चे विद्यार्थी के समान रखा। वे जब काफी दिनों तक दक्षिणेश्वर न जा पाते थे तो श्रीरामकृष्ण उनसे वहीं आकर मिल लेते। आस-पड़ोस, मित्र-प्रसंगी सभी कहते कि नरेन्द्र का भविष्य अन्धकारमय है। एक दिन उनके परम मित्र ने आकर उन्हें समझाया तो बहुत हंसे और बोले—"यार इस दुनिया का रंग-ढंग समझ में नहीं आता। सुमार्ग पर चलो तो लोगों के कान खड़े हो जाते हैं और कुमार्ग का तो कहना ही क्या। अजीब माया है।"

मित्र गम्भीर था। उसने पुनः नरेन्द्र को समझाने के स्वर में कहा—"मित्र, मेरी मानो और गृहस्थ में प्रवेश करो। इन दर्शनशास्त्रों की चर्चाओं और धर्मालोचनाओं से कुछ नहीं होने का। मेरा परामर्श है कि तुम साधुओं और वैरागियों का साथ छोड़ो और विवाह कर लो। कामिनी सुखानुभूति के सम्मुख कंचन-मोह भी विस्मृत हो जाता है। देवी-देवता भी इसमें मग्न रहते हैं।"

नरेन्द्र ने मित्र की बात काटी और बोले—"क्या मानव जीवन का सर्वोच्च आदर्श यही है ?"

"बिलकुल।"

"लेकिन मैं इसे अनित्य मानता हूं। इस परिवर्तनशील सुखानुभूति से कुछ प्राप्त नहीं होने का। इसकी अपेक्षा हम क्यों नहीं अक्षय सत्यं, शिवं और सुन्दरं को प्राप्त करने की सोचें ? यह तभी प्राप्त होगा जब हम अपने दिन-प्रतिदिन बदलने वाले सुखों का त्याग करेंगे, उनका मोह छोड़ेंगे। हमारे अनेकों ऋषि-मुनियों ने इस मार्ग को अपनाया और चरम सुख पाया। उनका ध्येय इतना महान था कि वे अपनी

व्यक्तिगत मोक्ष की कामना को भी त्याग बैठते थे। वे अन्यों की मुक्ति के लिए प्रयास करते थे।"

"मैं समझा। तुम्हारी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है। तुम जीवन-संघर्षों से भागकर किन्हीं कन्दराओं और गुफाओं में जाकर बैठना चाहते हो।" मित्र व्यंग्य से बोला।

"यह तुम्हारा भ्रम है मित्र। मैं अन्यों की मुक्ति के लिए संघर्ष क्षेत्र में उतरने के प्रयास में हूं। अपनी मुक्ति की मुझे चाहना नहीं। विश्व कल्याण निर्मुक्त रहकर ही हो सकता है। इसके लिए वैराग्य लेना जरूरी है।"

"मुझे अतीव दुःख है कि तुम अपनी बुद्धि का सदुपयोग नहीं कर सके। तुम्हारी प्रतिभा सही मार्ग नहीं ले सकी। श्रीरामकृष्णदेव ने तुम्हारी बुद्धि भ्रष्ट कर दी है। अभी भी समय है कि उस विचलित व्यक्ति का साथ छोड़ दो और सद्मार्ग अपना कर खानदान का नाम रोशन करो।" मित्र सम्भवतः बहस में नहीं पड़ना चाहता था।

"तुमने श्रीरामकृष्णदेव को देखा है ? उनसे सत्संग किया है ? उनसे आध्यात्मिक चर्चा की है ?"

"केवल एक बार उस पागल से मिलना हुआ।"

"तुम्हें उनमें क्या पागलपन नजर आया ? क्या तुमने उन्हें किसी के कपड़े फाड़ते देखा है ? क्या उन्होंने किसी को गालियां दीं ? क्या किसी से गलत व्यवहार किया ?"

"नहीं, ऐसा कुछ तो मैंने नहीं देखा।"

"तो तुम उन्हें पागल कैसे कह सकते हो ?"

"उनकी किसी बात में तालमेल नहीं होता।"

"केवल इतनी-सी बात के आधार पर क्या हमें उन्हें पागल करार कर देना चाहिए ? तुमने उनसे कभी संगीत, परमार्थ, भक्ति, आध्यात्मिकता आदि विषयों पर बात की है ? तुम क्या कभी उनकी बातों की गहराई पर गए हो ?"

"नहीं।"

"तुमने कभी भक्ति की दिशा की ओर जाने का प्रयास किया है ?"

"नहीं।"

"तुम जा भी नहीं सकते। गीता में कहा गया है—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्म्मणाम्।

ते द्वन्द्वमोह निर्मुक्ता भजन्ते मां दृढ़व्रताः।। (7/29)

भगवान का भजन सब नहीं कर सकते। उनका भजन तो वे ही लोग कर सकते हैं जिनके पापों का अन्त हो चुका हो। ऐसे लोग ही सुख-दुःख, राग-द्वेष के

मोहजाल से मुक्त होकर दृढ़ता से भजन कर सकते हैं। ऐसे व्यक्तियों, भक्तों को समझ पाना बड़ी टेढ़ी खीर है। उन्हें समझ न पाने की दशा में हम पागल करार कर देते हैं। क्योंकि ऐसा करना सरल है। मानव की प्रकृति सरल ग्रहण करने की होती है न।"

मित्र अवश था। नरेन्द्र के तर्क को काटा नहीं जा सकता था। वह दबे स्वर में बोला—"नरेन्द्र, तो क्या वे सभी लोग गलत हैं जो श्रीरामकृष्णदेव को पागल और सनकी कहते हैं ?"

"परखी गई बात सत्य कही जा सकती है।"

"तो क्या तुम उन्हें परख चुके हो ?"

"हां, परख तो चुका हूं, अब उन्हें पूर्णतः समझने का प्रयास कर रहा हूं। उस सरल; और सौम्य महापुरुष के प्रति मेरा सकारात्मक भाव है। मैंने उनमें कुछ बुराई नहीं देखी। उनकी अच्छाइयों को समझने में मुझे देर इसलिए लग रही है कि मैं अपनी बुराइयों को दूर नहीं कर पा रहा हूं।"

"तुम्हारी इच्छा है भाई ?"

मित्र चला गया।

नरेन्द्र इस बात से हिले नहीं। वे जानते थे कि जिस मार्ग को अपनाने जा रहे हैं, उसमें ऐसी तो नानाविध बाधाएं आएंगी। उनके अपने लोग उन्हें बेड़ियों से जकड़ने की कोशिश करेंगे। उन्होंने इन सब बातों को दूर रखकर अपना मानस अध्ययन पर लगाया। वे मित्रों से कटे नहीं बल्कि उनके आमोद-प्रमोद में खुलकर भाग लेते थे। लगता ही नहीं था कि नरेन्द्र उस पथ के राही बनने जा रहे हैं जहां इन बातों की वर्जना है। वे जब हास-परिहास में मुक्त हृदय से भाग लेते थे तो घर-परिवारजनों की सारी शंकाएं निर्मूल हो जाती थीं।

और फिर एक दिन एकाएक वज्रपात हुआ।

नरेन्द्र अपनी मित्र मंडली के साथ हंसी-मजाक में लगे हुए थे कि घर से आए एक व्यक्ति ने उन्हें दुःखद समाचार सुनाया।

"नरेन्द्र, तुम्हारे पिताजी की मृत्यु हो गई है।"

कुछ काल तक तो नरेन्द्र अवाक रह गए। वे शून्य में ताकते रहे। कुछ देर बाद उन्होंने पुनः सन्देशवाहक की ओर देखा मानो उस पर अविश्वास कर रहे हों। सन्देशवाहक उन्हें अपनी ओर ताकता देख पुनः भरे गले से बोला—"नरेन्द्र, घर चलो। तुम्हारी माताजी बेहाल हो रही हैं।"

वे पागल के समान उठे और घर की दिशा में चल पड़े। घर पहुंच कर उन्होंने

पिताजी की मृत देह देखी। वे मां और भाई-बहनों को विलखता देखकर खुद भी आंसू बहाने लगे। परिवार का एक अध्याय चुक गया था। अब नए अध्याय लिखे जाने की तैयारी की जानी थी।

पिताजी की अंत्येष्टी हुई। शोक में डूबा हुआ नरेन्द्र विचार कर रहा था कि अब घर-परिवार का खर्चा कैसे चलेगा। पिताजी भरपूर कमाते थे तो व्यय भी उसी अनुपात में करते थे। घर हमेशा अतिथियों से भरा रहता था। गरीबों और जरूरतमंदों की सहायता खुले हृदय और हाथों से होती थी। लेकिन अब....

विधवा मां का हाल तो और भी बुरा था। वे समझ नहीं पा रही थीं कि इस तूफान से कैसे अपने बच्चों की रक्षा करे। पति के मित्र और परिवार के हितैषी पतझड़ के झड़े पत्तों सदृश इधर-उधर हो चुके थे। अपनी दान प्रवृत्ति के कारण उन्होंने कभी धन-संचय की ओर ध्यान नहीं दिया। सुख और आराम से रहने वाला परिवार अब दीनता का सामना कर रहा था।

नरेन्द्र परिवार की इस दशा से विचलित थे। वे खुद अभावों में जी सकते थे, भूखे रह सकते थे पर मां और भाई-बहनों को कलपता नहीं देख सकते थे। उन्हें यह भी उचित नहीं लगता था कि परिवार की दशा को अन्य कोई जाने।

समय बीतता गया। धन का अभाव रोज बढ़ता जा रहा था। कभी-कभी तो पूरे परिवार को रोटी भी नसीब न हो पाती थी। नरेन्द्र नौकरी की तलाश में भटक रहे थे किन्तु नैया पार लगने के लिए कोई अनुकूल लहर ही नहीं आ रही थी। उनके भूखे-प्यासे कुम्हलाए चेहरे को देखकर मां का हृदय फट पड़ता। इस दशा में नरेन्द्र के कुछ मित्रों ने उनकी मदद करने की सोची। लेकिन उन्हें अपनी असहाय दशा उजागर करनी और सहायता स्वरूप अन्यों के सम्मुख हाथ फैलाना स्वीकार नहीं हुआ। मित्रगणों को ज्ञात था कि वे बहुधा भूखे रहते हैं। वे उन्हें भोजन के लिए अपने-अपने घरों में तरह-तरह के बहाने बनाकर निमंत्रित करते किन्तु नरेन्द्र बड़ी शालीनता से टाल देते। उन्हें भला यह कैसे स्वीकार होता कि मां एवं भाई-बहनों की सुधि बिसरा कर खुद मिष्ठान उड़ाते।

इधर नरेन्द्र परिवार के भरण-पोषणार्थ कलकत्ते की सड़कों पर भटकते फिर रहे थे: और उधर परिवार के एक सदस्य रिश्तेदार ने अदालत में मुकद्दमा दायर कर दिया कि विश्वनाथजी (नरेन्द्र के पिताजी) का घर उसका है। यह एक नई विपत्ति सिर पर आ पड़ी थी।

नरेन्द्र को इन्सान की निष्ठुरता देखकर बड़ा दुःख हुआ। उनमें विराग की भावना और भी उपज गई। वैराग्य भावना का वेग प्रबल होने का एक अन्य कारण

भी था। उनकी मां की ईश्वर पर अगाध श्रद्धा थी। वे उनकी भक्ति भावना और सुदृढ़ आस्था से बेहद प्रभावित थे। लेकिन आज की विपन्नावस्था में वे भी विचलित हो उठी थीं; और ईश्वर को इस विपत्ति का निमित्त मान रही थीं।

नरेन्द्र को भी सोचने के लिए विवश होना पड़ रहा था कि क्या भगवान इतने निर्विकार हैं कि दीनों और असहायों की कातरता भी उन्हें नहीं जगा पाती। यदि ऐसा है तो भगवान के अस्तित्व पर प्रश्न चिन्ह लग जाता है और वे क्रूर हृदयी, पाषाण और निष्ठुर सिद्ध होते हैं।

अपनी इस भावना को नरेन्द्र छिपाते नहीं थे। उनके मित्र उनकी इस भावना का उपहास उड़ाते और व्यंग्य में ठहाका लगाते—"तुम नास्तिक हो गए हो। लेकिन आश्चर्य है कि तुम्हारे श्रीरामकृष्णदेवजी क्या कर रहे हैं ? उन्हें अपने भक्त का ख्याल नहीं है क्या ?" नरेन्द्र इस व्यंग्य को उस समय तो पचा गए पर शाम को वे उन्मत्तावस्था में दक्षिणेश्वर पहुंचे। श्रीरामकृष्णदेव ने उन्हें देखा और एक दिव्य मुस्कराहट उनके चेहरे पर खिल गई। वे भावविभोर होकर बोले—"बड़े दिन बाद आया है रे। मैंने तो सोचा था कि तू आशंका रहित होकर आएगा। लेकिन देखता हूं कि तू मां के अस्तित्व पर सवाल लगाकर आया है। बस ! इतनी सी परीक्षा से घबरा गया।"

नरेन्द्र अपने मन का भेद खुलते देख, संकोच से दब गए। श्रीरामकृष्णदेव ने उनके मुख पर दृष्टि टिकाई हुई थी—"तू कुछ नहीं बोलेगा रे, मैं जानता हूं। एक बात सुन ले। यह देह उधार की है। कोई भी हो, यह चोगा तो छोड़ना पड़ेगा। इस बीच बहुत कुछ भोगना भी पड़ेगा, कुछ सुनना भी पड़ेगा और ढेर सारा देखना भी पड़ेगा। यही जीवन है। लेकिन जो यह समझता है कि इस सब कुछ के बीच हमें कुछ करना भी है; साधारण नहीं, विशेष—उसी का जीवन सफल होता है। तेरा जन्म साधारण नहीं है। तू इस धरती पर विशेष कार्य सम्पन्न करने के लिए आया है, सो मन में किसी प्रकार की शंका न रख। आई हुई विपत्ति का सामना हिम्मत से कर, अन्ततः जीत सत्य की होगी।"

क्लांत; और निराश नरेन्द्र का हाथ श्रीरामकृष्णदेव ने अपने हाथ में ले लिया। नरेन्द्र के आवेश को अन्य प्रबल आवेश आकर्षित करने लगा। कुछ देर वे शान्त बैठे रहे। श्रीरामकृष्णदेव उनसे निरन्तर चर्चा करते रहे। आध्यात्मिकता पर चर्चा हुई। भौतिकता के रंग-रूप; और आकर्षण सम्बन्धी बातें हुईं। नरेन्द्र ने वह रात श्रीरामकृष्णदेव; और श्री मां शारदा के सानिध्य में गुजारी।

श्री मां ने अति स्नेह से उन्हें भोजन कराया। श्रीरामकृष्णदेव ने हंसकर

कहा—"तुम्हारा यह नटखट बेटा आता तो मुझसे लड़ने के लिए है, पर शीघ्र हथियार डाल देता है।"

श्री मां ने स्नेहसिक्त स्वर में नरेन्द्र के सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—"मुझे अपने पुत्र रत्नों पर गर्व है। ये जब मां....मां कहते हुए मेरे आगे-पीछे फिरते हैं तो मैं तो निहाल हो जाती हूं।"

"मैंने तुम्हें कहा था न कि तुम्हें ऐसी सन्तानें दे जाऊंगा जो तपस्या करके भी लोगों को प्राप्त नहीं होतीं। तुम बेवजह चिन्ता करती थीं।"

नरेन्द्र ने आज काफी दिनों बाद गहरी नींद ली थी।

वे प्रातः घर आये तो शान्त थे। उन्होंने गहराई से विचार किया कि कैसे दावेदारों की कुमन्त्रणा को टाला जाए। उनकी मां भुवनेश्वरी देवी तो निरुपाय थीं। दावेदार मकान का बंटवारा चाहते थे। उनका विचार था कि अदालत का सहयोग लेकर मकान के मजबूत हिस्से पर अधिकार कर लिया जाए।

नरेन्द्र ने इन षड्यन्त्रकारियों से लोहा लेने का निर्णय किया। अन्याय; और असत्य का मुकाबला करना ही सर्वश्रेष्ठकारी था। अदालत में मुकद्दमा चला। नरेन्द्र को आश्चर्य हुआ कि उनके पिताजी के मित्र उमेशचन्द्र बन्द्योपाध्याय ने ईश्वर की अनुकम्पा से प्रेरित होकर मुकद्दमा सम्भालने की उन्हें सूचना दी। नरेन्द्र ने अपनी बुद्धि और विवेक से मुकद्दमे के कई पहलुओं पर बैरिस्टर उमेशचन्द्र को परामर्श देकर चकित कर दिया। उमेशचन्द्र (डब्ल्यू.सी.बनर्जी.) उस समय के नामी वकील थे।

उमेशचन्द्र और जज दोनों ही जिरह के दौरान नरेन्द्र के स्पष्ट और असंकोची तर्क सुनकर हैरान थे। उनके जवाबों में कोई लाग लपेट और असत्य नहीं होता था, सो विरोधी वकील को उन्हें स्वीकार करना पड़ता था। जज को जब पता लगा कि नरेन्द्र वकालत में उतरने की तैयारी में लगे हुए हैं तो वे उत्साह से बोले—"मिस्टर, तुम भविष्य में एक प्रसिद्ध वकील बनोगे।"

जज मुकद्दमे का सारांश समझ चुके थे। सो उन्होंने नरेन्द्र के पक्ष में निर्णय दिया। नरेन्द्र दौड़ता हुआ घर आया और यह शुभ सूचना मां को दी। मां ने उसे हृदय से लगाकर चूम लिया।

घर तो बच गया किन्तु पेट के लिए भी कुछ चाहिए था। परिवार की दारुण: और खिन्नावस्था में कोई अन्तर नहीं आ पाया था। इस दिशा में नरेन्द्र के मस्तिष्क में एक बार फिर से यह विचार कौंधा कि क्यों नहीं घर की विपन्नावस्था का जिक्र श्रीरामकृष्णदेव से करें ? उनकी कृपा से सुधार होगा और मैं अडिगता से आपने मार्ग पर अग्रसर रहूंगा।

वे दक्षिणेश्वर पहुंचे। श्रीरामकृष्णदेव ने उन्हें गले लगा लिया। मां शारदा ने उन्हें आशीर्वाद दिया। श्रीरामकृष्णदेव श्री मां शारदा की ओर उन्मुख होकर बोले—"तेरा बेटा फिर कुछ मांगने आया है।"

"मां, पिता और गुरु से मांगना, क्या मांगना कहलाएगा ?"

"तू बड़ा ढीठ है रे। मां को भी पक्ष में करना चाहता है।"

"मां और पिता दोनों ही हमेशा पुत्र के पक्ष में रहते हैं।" श्री मां शारदा मुस्करा कर उठ गईं।

"गुरुदेव, मैं आपसे कुछ मांगने आया हूं।"

"मैं जानता हूं रे।"

"मुझसे अपनी मां और भाई-बहनों की विपदा नहीं देखी जाती। उन्हें कई बार भूखा सोना पड़ता है। महाराज, मैं आपसे अनुनय करता हूं कि मेरे इन स्नेहीजनों को दो वक्त की रोटियां नसीब हों। इसके लिए आप अपनी मां (काली मां) से अनुरोध करिए।"

नरेन्द्र की आंखें भर आईं। श्रीरामकृष्णदेव संकोच में पड़ गए। उन्हें मौन देखकर नरेन्द्र पुनः बोले—"महाराज, मेरी प्रार्थना स्वीकार करिए।"

"लेकिन, मैंने तो आज तक मां से कुछ नहीं मांगा रे।"

"मेरा अनुरोध है यह।"

"तुझे याद है रे, मैं तो हर घड़ी मां से जग का भला करने की मांग करता रहता हूं। अच्छा, ऐसा कर—आज मंगलवार है। आज की रात काली मन्दिर में जाकर मां को प्रणाम करके, जो तेरी इच्छा हो मांग लें। मैं तुझे विश्वास दिलाता हूं कि तेरी हर इच्छा को मां पूरा करेगी।"

नरेन्द्र दुविधा में पड़ गए। वे प्रस्तर प्रतिमाओं पर विश्वास नहीं करते थे। लेकिन परिस्थितियां ऐसी थीं कि वे मना नहीं कर सके।

"ठीक है, मैं जाऊंगा।"

नरेन्द्र के कथन को सुनकर श्रीरामकृष्णदेव किंचित मुस्कराए।

कुछ ही कालोपरान्त मन्दिरों में सन्ध्या की आरतियां गूंजने लगीं। तरह-तरह के वाद्यवृन्दों और मानवीय स्वरों का समवेत गुंजन सम्पूर्ण वातावरण को अपूर्व रसमय बना रहा था। श्रीरामकृष्णदेव भी मधुर कंठ से कमरे में टहलते हुए आरती-गान कर रहे थे। उनके अप्रतिम शान्त नेत्रों से लग रहा था कि वे इस समय खोए हुए थे।

नरेन्द्र मौन साधक बना एकटक उन्हें निहार रहा था। आरती समाप्त हुई।

वाद्यवृन्दों का स्वर खामोश हो गया किन्तु श्रीरामकृष्णदेव का तन और मन तो अभी भी झंकृत हो रहा था। उनके अधरों से मां की महिमा-गान के स्वर अभी भी फूट रहे थे। नरेन्द्र को लग रहा था कि वे किसी देव-वाटिका के सुरम्य, सुवासित उद्यान में बैठे हुए हैं, जहां अनेकों पुष्प खिले हुए हैं और एक ओर तो भ्रमर गुंजन कर रहे हैं तो दूसरी ओर कोयलें अमृत बरसा रही हैं।

इसी समाधि में रात्रि का प्रथम प्रहर निकल गया। श्रीरामकृष्णदेव ने उन्हें सचेत किया।

"समय हो गया है रे।"

नरेन्द्र अपने भौतिक स्वरूप में आए और उठकर काली मन्दिर की ओर चल पड़े। वे शंकित थे तो प्रसन्न भी कि श्रीरामकृष्णदेव और मां की अहैतुक कृपा से परिवार के कष्टों का अन्त हो जाएगा।

मंथर गति से उन्होंने मन्दिर में प्रवेश किया। उनके नेत्र उठे। उनकी आश्चर्य का सीमा न रही। मां काली, जगदम्बा के रूप में अपनी भुवनमोहिनी सूरत में साक्षात खड़ी थीं। उन्होंने नरेन्द्र को देखकर अपने दोनों हाथ फैलाकर स्वागत किया। मानो दयामयी मां भूख से बेहाल शिशु को अपने अंक में लगाना चाहती हो।

नरेन्द्र अवाक थे। उन्होंने अपनी वाणी खो दी थी। मां का वात्सल्य भरा रूप, उनके नेत्रों में भरी करुणा और मुखमंडल पर फैली स्मित रेखाएं नरेन्द्र को भय मुक्त कर रही थीं। मां के उस दिव्य रूप को देखकर नरेन्द्र अपना आपा खो बैठे....सब कुछ भूल गए। वे तो इस प्रयास में थे कि मां के इस रूप को अपने हृदय में उतार लें। उनके मुंह से केवल इतना ही निकल सका—"मां, अपने इस अज्ञानी पुत्र को भक्ति दो, सुविवेक दो।" वे मां के चरणों में लोट गए।

कुछ देर में वे लौट आए। श्रीरामकृष्णदेव ने पूछा—"क्या मांगा रे ?"

श्रीरामकृष्णदेव का स्वर सुनकर उन्हें चेतना हुई। उन्होंने उत्तर दिया—"मां से भक्ति मांगी।"

"लेकिन तुझे तो कुछ: और ही मांगना था। जा, एक बार फिर से जा। जो चाहिए बहुत सावधानी से मांगना।"

नरेन्द्र पुनः एक बार काली मन्दिर तक गए पर हाल पहले का-सा ही हुआ। तीसरी बार फिर प्रयास किया किन्तु भक्ति के सिवाय और कुछ न मांग सके।

उनकी इस हालत पर श्रीरामकृष्णदेव खिलखिलाए और बोले—"अरे ! तू सोच. ऐसा कहीं हुआ है कि कल्प वृक्ष के नीचे जाकर किसी ने कुम्हड़े मांगे हों ? मैं तुझे विश्वास दिलाता हूं कि तुम लोगों को पर्याप्त रोटी और वस्त्र की कमी नहीं

होगी।"

नरेन्द्र घर लौट आए। वह श्रीरामकृष्णदेव के परम भक्त बन गए और क्रमशः गुरुदेव की कृपा से स्वामी विविदिशानन्द बनने की ओर उन्मुख हुए। उन्हें अटर्नी ऑफिस में कार्य मिल गया। अपने शेष समय में वे पुस्तकों का अनुवाद कार्य करने लगे। घर की गाड़ी कुछ ढर्रे पर आई। कुछ समय के बाद उन्होंने ईश्वरचन्द्र विद्यासागरजी के स्कूल में स्थायी रूप से अध्यापन कार्य शुरू कर दिया।

सोचते-विचारते रात्रि के दो प्रहर निकल चुके थे। नरेन्द्र विवेकानन्द की काया में प्रविष्ट हुए। स्वामीजी उठे और शयनार्थ चले गए।

13

प्रातः रश्मियां धरित्री पर नृत्य करने लगी थीं। स्वामीजी प्रातः भ्रमण से वापस आ चुके थे। दिल्ली की खुश्क सर्दी में उन्हें कुछ जुकाम की शिकायता हो गई थी। यहां करने के लिए कुछ विशेष कार्य नहीं था, सो वे अपने अध्ययन में लगे रहे। आज उनका अलवर जाने का कार्यक्रम था और फिर खेतड़ी।

उनके साथ में 'न' 'न' करते हुए भी काफी सामान हो गया था। उनका विचार इस सारे सामान को कलकत्ते के मठ में भेजने का था। उनके शिष्य आदेश के लिए उनका मुंह ताक रहे थे। स्वामीजी को इस बात का दुःख था कि उनके शिष्य स्वतंत्र रूप से न कोई कार्य कर पाते थे और न स्व विवेक से कोई निर्णय। किसी भी विवेकशील व्यक्ति और कर्मठ कार्यकर्ता के लिए ये गुण आवश्यक थे। उनका यह भी सोचना था कि इन्हें मेरे साथ रहकर कौन पूछेगा। ऐसा करना तो मात्र समय नष्ट करना होगा।

उन्होंने अपनी इस धारणा को कई बार शिष्यों के सम्मुख प्रकट किया और स्पष्ट कहा था कि बरगद के नीचे कोई वृक्ष नहीं पनप सकता। अब उनके सम्मुख एक ही विकल्प था कि अपने साथ चिपके हुए सभी शिष्यों को मठ (कलकत्ता) भेज दें, ताकि वे स्वतंत्र रूप से अपने को अभिव्यक्त कर सकें; और यत्र्-तत्र् उद्देश्यपूर्ण भ्रमण कर सकें। वे श्रीरामकृष्णदेव के कार्य का प्रसार करने में लगे हुए थे। एक दीर्घ और विशाल तंत्र का वे निर्माण करने में लगे हुए थे। इसे सम्भालने वाला भी तो कोई चाहिए ! इसके लिए एक नहीं, सैकड़ों पूर्ण समर्पण भावनायुक्त बलशाली; और दृढ़ निश्चयी युवा चाहिए।

स्वामीजी विचार कर रहे थे कि एक शिष्य ने आकर सूचित किया कि अलवर प्रस्थान करने की सम्पूर्ण तैयारी पूरी हो चुकी है।

उन्होंने दिल्ली से विदा ली और अलवर पहुंचे। स्टेशन पर उनके स्वागत के लिए परिचित एकत्रित थे। स्वामीजी के लिए राजपूताना नया और अपरिचित न था। वे परिव्राजक के रूप में यहां सन् 1891 में आ चुके थे।

स्टेशन पर एकत्रित भक्तगणों ने उनका भावभीना स्वागत किया। उनके परम भक्त पण्डित शम्भूनाथजी ने उनसे आग्रह किया कि वे उनके यहां ठहरें। स्वामीजी ने मुस्करा कर अपनी स्वीकृति प्रदान की। शम्भूनाथजी के घर पर पहुंचते ही भीड़ लग गई। स्वामीजी के दर्शनार्थ आए लोगों में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही थे। उन लोगों ने स्वामीजी के बैठते ही आग्रह कर दिया कि वे उनकी सुमधुर वाणी में सूरदास और विद्यापति के भजन सुनना चाहते हैं।

स्वामीजी ने उनका आग्रह नहीं ठुकराया। भजनोपरान्त शम्भूनाथजी ने लोगों से प्रार्थना की कि स्वामीजी को आराम करने दें। लोग चले गए। स्वामीजी स्नेह से बोले—"शम्भूनाथजी, लोगों के इस स्नेह के सम्मुख मैं पराजित हो जाता हूं।"

"आपको देखने और सुनने की ललक कभी पूरी नहीं होगी। आप इन लोगों को पहले इतना अपनत्व दे गए कि अब वे हमेशा के लिए आपके हो गए हैं। आप आए भी तो एक लम्बे अंतराल के बाद हैं। आप विदेश भ्रमण कर आए....भारतीय धर्म का डंका सात समुद्र पार बजा आए। हम लोगों को आपकी गतिविधियों की जानकारी अखबारों से मिलती थी। सभी लोग आपको प्रत्यक्ष देखना चाह रहे थे। आज उनकी इच्छा पूरी हुई।"

"मैं भी बहुत खुश हूं अपने को आप लोगों के बीच पाकर।"

"आपको दीवान साहब और महाराज बहादुर भी याद कर रहे थे। वे मुझसे कई बार पूछ चुके हैं कि आपके यहां आने का कार्यक्रम कब है।"

"उनसे भी मिलना होगा।"

"आप कुछ सुस्ता लें। मैं आपके शिष्यों की सुध लूं।"

रात्रि को शम्भूनाथजी, मौलवी साहब, बाबू गुरुचरणजी और दो-चार भक्तों ने स्वामीजी की संगत की। स्वामीजी ने देखा कि एक व्यक्ति मलिन वेशभूषा में सबसे पीछे चुपचाप बैठा हुआ है। स्वामीजी उसे पहचान गए।

"अरे भंवरा, आगे आ। तू पीछे क्यों बैठा है ?"

"आप सम्भ्रांत लोगों से घिरे हुए हैं।"

"तो क्या हुआ ? यह तो आज की बात है। तू तो मेरा पुराना शिष्य है। तेरा

मुझ पर पहले का-सा अधिकार है।"

भंवरलाल निहाल हो गया। वह उठा और स्वामीजी के कदमों में लोट गया। स्वामीजी ने उससे अपने अन्य भक्तों के विषय में पूछताछ की। कुछ देर के लिए वे अपने आस-पास के माहौल को भूल गए। उनके शिष्य व गुरुभाई उन्हें विस्मय से देख रहे थे। विश्व प्रतिष्ठ स्वामीजी की उदारता, स्नेहपरायणता, मित्रवत्सलता देखने ही बन रही थी।

अलवर में वे जहां एक ओर महाराजा से मिले और उनका आतिथ्य ग्रहण किया, वहीं अपने निर्धन भक्तों को भी न भूले। वे नित्य प्रति अपने निर्धन भक्तों द्वारा प्रेम से भोजन के लिए बुलाए जाते और वे किसी को निराश न करते।

उनका धर्म-प्रवचन और वेद के सार तत्त्वों का बखान रोज होता। लोग चाव से आते और उनकी वाणी को अपने हृदयों में उतार कर वापस लौटते। इस क्रम में एक वृद्ध महिला भी रोज आती। स्वामीजी को उसके मुख के भावों से लगता कि वह कुछ कहना चाहती है। वास्तव में वृद्धा स्वामीजी से अपने घर भोजनार्थ चलने के लिए कहना चाहती थी, पर उसे साहस नहीं होता था। वह रोज आती, दत्तचित्त होकर वेदों के शाश्वत स्वर सुनती; और उठकर चुपचाप चली जाती।

स्वामीजी का प्रवचन सुनने कई सम्भ्रांत घरों की महिलाएं भी आतीं, किन्तु उनमें से बहुत कम ऐसी होती थीं, जो असलियत में धर्म की ओर उन्मुख होती। अधिकांश महिलाएं गहने और कीमती कपड़ों से लदी-फंदी रहती और जीर्ण-शीर्ण वस्त्रधारी उस वृद्धा से हटकर कुछ दूर बैठतीं।

और फिर, वह दिन भी आया, जब स्वामीजी ने जयपुर प्रस्थान करने की सूचना दी। उस दिन वृद्धा अपने स्थान से नहीं हिली। स्वामीजी ने विनीत स्वर में उसे सम्बोधित किया।

"मां, तुम मुझसे कुछ कहना चाहती हो ?"

"बेटे, आज मेरे घर भोजन करने आ सकोगे ?"

"अरी मां, मैं तो कब से इन बोलों की प्रतीक्षा कर रहा था।" स्वामीजी बच्चे बन गए थे। उन्हें अपने सम्मुख खड़ी महिला में माता भुवनेश्वरी का स्वरूप दिखाई दे रहा था।

"तो चल, मैं अपने हाथों से तेरे लिए भोजन बनाऊंगी।" वृद्धा बोली।

स्वामीजी के गुरुभाई व शिष्यों को वृद्धा का 'तू' सम्बोधन खल रहा था। लेकिन वृद्धा आनन्दमग्न होकर अपनी लौ में बही चली जा रही थी।

"मां, मेरे साथ और भी लोग हैं।"

"तो क्या हुआ ? रोटी और साग ही तो बनाना है।"

"लेकिन यह भिक्षा कल ग्रहण की जाए तो ?"

"लेकिन कल तो तू जाएगा ?"

"तुम्हारा भोजन ग्रहण कर ही प्रस्थान करूंगा।"

"ठीक है।"

वृद्धा जाने के लिए मुड़ी, पर कुछ सोचकर पुनः स्वामीजी की ओर घूमी।

"तुझे मेरे घर का पता कैसे लगेगा ?"

"मेरा शिष्य तुम्हारे साथ जाकर घर देख आएगा।"

"हां, यह ठीक है।"

स्वामीजी ने एक शिष्य को इशारा किया और वह वृद्धा के साथ चला गया। वृद्धा के जाने के बाद स्वामीजी शिष्यों की ओर उन्मुख हुए।

"मैं तुम लोगों के मुख पर तैरते भावों का अध्ययन कर रहा था। तुम लोगों को वृद्धा का मुझे 'तू' कहना खल रहा था। क्या यह गलत नहीं है ? मां कभी अपने पुत्र को 'आप' यह 'महाराज' कहेगी ? उसका स्नेह झलकता ही 'तू' से है। अरे ! स्नेह, प्रेम को पहचानो, इस सरिता में गोते लगाओ तो निखर उठोगे।"

दूसरे दिन जयपुर जाने से पूर्व स्वामीजी वृद्धा के घर आए और उन्होंने शिष्यों सहित प्रेम से भोजन ग्रहण किया। वृद्धा प्रसन्न थी, पर साथ ही उसे अपनी हीन दशा पर दुःख भी हो रहा था। अपने हृदय की भावना को व्यक्त करते हुए वह बोली—"मैं बहुत गरीब हूं बेटे। जैसा चाहती थी तुझे खिला न पाई। मिठाई आदि होती तो तुझे खिलाकर तृप्त होती।"

"मां, बहुत दिनों बाद मैंने सात्विक भोजन पाया है। मेरा रोम-रोम तृप्त हुआ।"

चलते समय स्वामीजी ने उस ममतामयी मां के परिवार के बच्चे के हाथ में सौ रुपए का नोट रखा। वृद्धा ने रुपए देने का विरोध किया तो स्वामीजी बोले—"क्या पुत्र को इतना अधिकार भी नहीं है ?"

वृद्धा से विदा लेकर स्वामीजी अपने निवास स्थल पर आए। उनके भक्तों ने भारी मन से उन्हें जयपुर के लिए विदाई दी।

स्वामीजी का आगमन जयपुर में हुआ। यहां भी भक्तों ने उनका स्वागत किया। यहां से उन्होंने खेतड़ी की ओर प्रस्थान किया। खेतड़ी के राजा साहब स्वामीजी के अनन्य भक्त थे। उन्होंने स्वामीजी के साथ आने वाले काफिले के लिए घोड़े, ऊंट और रथों आदि की व्यवस्था कर दी थी ताकि स्वामीजी की अभ्यर्थना में कोई कमी न रह पाए।

राजा साहब ने स्वयं खेतड़ी से 12 मील आगे आकर स्वामीजी तथा उनके साथियों का राज्योचित सम्मान किया। पूरा शहर सजा हुआ था। लोग स्वामीजी के दर्शन लाभ कुछ वर्षों पहले कर चुके थे, पर आज की बात ही कुछ और थी।

राज्य में चारों ओर हर्ष छाया हुआ था....रात को आतिशबाजी का शानदार कार्यक्रम था। राजा साहब की ओर से पूरे राज्य में मुनादी करवा दी गई थी कि आज उनकी ओर से दरिद्र नारायणों को पर्याप्त भोजन खिलाकर तृप्त किया जाए।

राजा साहब की स्वामीजी के प्रति अटल भक्ति व श्रद्धा से सभी परिचित थे। यथा समय स्वामीजी ने राजदरबार में प्रवेश किया और अपने लिए नियत स्थान पर आकर बैठ गए। राजा साहब ने इस सभा को 'अभ्यर्थना सभा' का नाम दिया था। सभा में कर्मचारीगण, सरदार व राज्य के गणमान्य प्रतिष्ठितजन आदि उपस्थित थे।

राजाजी ने अपने गुरुदेव की अभ्यर्थना प्रणाम करके की और उन्हें तीन हजार मुद्राएं भेंट की। इसके बाद अन्य लोगों ने एक-एक कर स्वामीजी के चरण स्पर्श किए और अपनी सामर्थ्यानुसार भेंट अर्पित की; और अन्त में अभिनन्दन पत्र पढ़ा गया।

स्वामीजी विदेश यात्रा के उपरान्त जहां-जहां भी पदार्पण कर रहे थे, वहीं उन्हें अभिनन्दन पत्र आदि देकर स्वागत किया जा रहा था। लेकिन खेतड़ी में उन्हें जो अभिनन्दन प्राप्त हुआ, उसमें अपनत्व: और पूर्ण श्रद्धा की जो भावना थी, वह अन्यत्र कहीं न थी। स्वामीजी ने अपने स्वागत के प्रत्युत्तर में यूनानी और आर्य सभ्यताओं की विशेषताओं का वर्णन करते हुए बताया कि यूनानी लोग बाह्य प्रकृति के अनन्त, वृहत् ब्रह्माण्ड की खोज में व्यस्त हुए और आर्यों ने आभ्यन्तरिक प्रकृति की अनन्ता के अन्वेषण की ओर कदम बढ़ाए। आर्यों की प्रकृति विश्लेषण करने की थी। अपनी इस प्रकृति के कारण उन्हें गणित व व्याकरण में विशेष उपलब्धियां प्राप्त हुई। भारत के आर्यों ने तो इस दिशा में अनोखी प्रगति की। वे मन के विश्लेषण में चरम सीमा पर पहुंच गए थे। पाइथागोरस, साक्रेटिस, प्लेटो एवं मिस्र के नव्य प्लेटोवादियों के विचारों को हम पढ़ें, तो इनमें भारतीयों के विचारों की छाप नजर आएगी।

स्वामीजी ने भारतीय विचारों की प्रभावशीलता के विषय में बताते हुए कहा कि यह यूरोप तक फैली थी। स्पेन, जर्मनी तक ये विचार तरंगित हुए थे। शाहजहां के पुत्र दाराशिकोह ने उपनिषद् का अनुवाद फारसी में किया था। जर्मनी के दार्शनिक शॉपेनहावर के दर्शन पर उपनिषदों का प्रभाव साफ दिखता है। उसने निश्चित ही उपनिषदों के लेटिन अनुवाद से इन विचारों को ग्रहण किया होगा।

कांट के दर्शन में भी उपनिषदों के विचारों की झलग दिखाई देती है। उन्होंने कहा कि यूरोपवासी भारत के दर्शन व संस्कृत भाषा के पठन-पाठन में आज पूरी रुचि ले रहे हैं।

उन्होंने 'हिन्दू' शब्द की सार्थकता के विषय में बोलते हुए कहा कि यह शब्द पूर्ण सार्थक था, किन्तु इस समय यह निरर्थक है, क्योंकि अब सिन्धु नदी के इस पार नाना प्रकार के धर्मावलम्बी बसते हैं। वेदों के रूप को समझाते हुए उन्होंने बताया कि वेद किसी व्यक्ति विशेष के वाक्य नहीं हैं। कतिपय विचारों का पहले क्रमिक विकास हुआ और आखिर में उन्हें ग्रन्थ का रूप दिया गया। हिन्दुओं के ग्रन्थ वेद हैं। इन पर अभी हजारों साल तक हिन्दुओं को निर्भर रहना पड़ेगा। लेकिन अब समय है कि हम वेदों के बारे में अपने विचार बदलें और उन्हें नए सिरे से संजोएं। वेदों का वांङमय विशाल है, पर इनका नब्बे प्रतिशत अंश इस समय उपलब्ध नहीं है। पूर्व में परिवार विशेषों में एक-एक वेदांश उपलब्ध था। उन परिवारों का लोप हो जाने पर वे वेदांश भी लोप हो गए। लेकिन इस समय वेदों का जितना भी अंश उपलब्ध है, वह इतना अधिक है कि उस पर अधिकार पाना कठिन है।

उन्होंने वेद के कर्मकाण्ड व ज्ञान काण्ड पर भी प्रकाश डाला उपासना प्रणाली के सम्बन्ध में उन्होंने कहा कि बेबिलोन के प्राचीन निवासियों की धारणा आत्मा के विषय में यह थी कि वह केवल एक प्रतिरूप देह मात्र है, उसका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं होता। आत्मा मूल देह से अपना सम्बन्ध कदापि विच्छिन नहीं कर सकता। इस प्रतिरूप देह में भी मूल देह की भांति क्षुधा, तृष्णा, मनोवृत्ति आदि विकार होते हैं। उनका मानना था कि मृत मूल देह पर किसी प्रकार का आघात करने से प्रतिरूप देह भी आहत होगी। इसी कारण ममी, समाधि, मन्दिर व कब्र आदि का जन्म हुआ। इन लोगों के विचार आत्म तत्त्व तक नहीं पहुंच सके।

स्वामीजी ने कहा कि देवता मनुष्यों के प्रति मित्र भाव रखते हैं। उपासक और उपास्य का सम्बन्ध सहज; और सौम्य है। उन्होंने अपने कथनों के प्रमाण में वैदिक मन्त्रों के दृष्टान्त दिए। ऋग्वेद का भाव है कि ईश्वर से साक्षात्कार के बाद ही मनुष्य का यथार्थ जीवन आरम्भ होता है....उन्होंने यह भी बताया कि शव जलाने की प्रथा कैसे शुरू हुई....हिन्दुओं की यह धारणा थी कि स्थूल देह के सिवाय एक सूक्ष्म देह भी होती है। वह सूक्ष्म देह, स्थूल देह के त्याग के बाद एक ऐसे स्थान में पहुंच जाती है, जहां केवल आनन्द है। इसीलिए यह धारणा बनी कि जिस स्थान पर पितृगण निवास करते हैं, उसको उसी स्थान पर ले जाओ....जहां कोई दुःख-शोक नहीं है।

....मृत्यु के पश्चात् क्या होता है, इसकी यथार्थ तात्विक विवेचना यूनानियों तथा अन्यों के मन में उठी नहीं, क्योंकि सुन्दर रमणीय बाह्य प्रकृति उन्हें प्रलोभित कर बाह्य जगत में सीमित कर गई। भारत की यह विशेषता है कि जिस वस्तु में कुछ उदात्तता नहीं होती, उसका यहां कुछ मूल्य ही नहीं होता। भारत में आरम्भ से ही पूछा जा रहा है—'मैं कौन हूं ? मृत्यु के पश्चात् मेरी क्या अवस्था होगी ?'

भारत ने स्वर्ग को भी स्थूल जगत के अन्तर्गत माना है। भारतीय विचार हैं कि जो कुछ संयोगोत्पन्न है, उसका विनाश अवश्यम्भावी है। उन्होंने बाह्य प्रकृति से पूछा—'आत्मा क्या है, क्या तुम इसे जानती हो ?' उत्तर मिला—'नहीं।' पुनः प्रश्न हुआ—'क्या कोई ईश्वर है ?' प्रकृति ने उत्तर दिया—'मैं नहीं जानती।' तब भारतीय चिन्तक प्रकृति से विमुख हो गए ओर समझ गए कि बाह्य प्रकृति कितनी ही महान क्यों न हो, भव्य क्यों न हो, वह देश-काल की सीमा में बद्ध है। तब उन्हें एक नई वाणी सुनाई दी। वे नए उदात्त भावनाओं के धारक बने। उन्हें सुनाई दे रहा था—'नेति, नेति....यह नहीं, यह नहीं....उस समय विभिन्न देवगण एक हो गए। सूर्य, चन्द्र, तारे यहां तक की समग्र ब्रह्माण्ड एक हो गया....उस समय इस नूतन आदर्श पर उनके धर्म का आध्यात्मिक आधार प्रतिष्ठित हुआ।

न तत्र सूर्यो भांति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभांति सर्व तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।।

(वहां सूर्य प्रकाशित नहीं होता, न चन्द्र, न तारा, न विद्युत, फिर इस भौतिक अग्नि का तो कहना ही क्या ? उसी के प्रकाशमान होने से सब कुछ प्रकाशमान होने से सब कुछ प्रकाशित होता है, उसके प्रकाश से ही सब चीजें प्रकाशित होती हैं।'—कठोपनिषद् 3/1)

इस विचार के बाद सीमाबद्ध, अपरिपक्व व्यक्ति विशेष, सबके पाप-पुण्यों का विचार करने वाले क्षुद्र ईश्वर की धारणा शेष नहीं रही। अब बाहर का अन्वेषण समाप्त हुआ और अपने भीतर का अन्वेषण आरम्भ हुआ।....स्वामीजी ने खेद प्रकट किया कि भारत में धर्म का मूल तत्त्व नहीं रहा है, सिर्फ थोड़े से बाह्य अनुष्ठान बचे हुए हैं। भारतवासी इस समय न तो हिन्दू ही हैं और न वेदान्ती ही। वे केवल छुआछूत के पोषक हैं। रसोई घर ही उनके मन्दिर हैं; और रसोई की हंडिया व बर्तन उनके देवता हैं। इस स्थिति का अन्त होना चाहिए और जितना शीघ्र इसका अन्त हो, उतना ही हमारे धर्म के लिए अच्छा है।

स्वामीजी का शरीर स्वस्थ न था। वे थकान अनुभव करने लगे। उन्होंने कुछ देर विश्राम किया और फिर ज्ञान-विज्ञान पर चर्चा की, तत्पश्चात् सभा समाप्त हुई।

स्वामीजी, महाराजा के अतिथि थे। उन्होंने राजा साहब से कई विषयों पर चर्चा की। उन्हें यह जानकर प्रसन्नता हुई कि राजा साहब ने कई कल्याणकारी कार्य शुरू कर रखे हैं। उन्होंने राजा साहब से शिक्षा विषय पर चर्चा की। स्वामीजी के विचार थे कि शिशुओं को शिक्षा देनी हो तो उन पर पूर्ण विश्वास करना होगा। यह मानना होगा कि प्रत्येक शिशु अनन्त ईश्वरीय शक्ति का आधार है। इन्हें शिक्षा देते समय हमें एक बात याद रखनी होगी वे स्वयं चिंतन करना सीखें। यदि इन्हें ऐसी शिक्षा प्रदान की जाए तो ये मनुष्य बनेंगे तथा जीवन संग्राम में अपनी समस्याओं को हल करने में समर्थ हो पायेंगे।

स्वामीजी ने राजा साहब को आशीर्वाद दिया कि वे पुण्य कार्यों के संचालन एवं सम्पन्नता में सफल हों।

दिसम्बर 1897 के अन्त में स्वामीजी को आभास होने लगा कि अस्वस्थता के कारण वे अधिक परिश्रम नहीं कर सकते। उन्होंने राजा अजीतसिंह से विदा ली; और किसनगढ़, अजमेर, जोधपुर, इन्दौर होते हुए खण्डवा पहुंचे। वे कलकत्ता लौटना चाहते थे। लेकिन आमन्त्रण पत्रों व तारों की बाढ़ लगी हुई थी और स्वामीजी उन्हें स्वीकार करने में विवश थे। उनका कार्यक्रम जनवरी 1898 में कलकत्ते पहुंचने का था। वे चाहते थे कि कलकत्ते में भगीरथी के तट पर आश्रम के लिए ली गई जमीन पर शीघ्र एक स्थायी मठ की नींव डाल दी जाए ताकि अपना स्थान हो; और निःसंकोच कार्य करने की स्वतंत्रता हो। उन्हें सूचना मिली थी कि भागीरथी के पश्चिमी तट पर बलूड़ गांव में मठ की स्थापना की जा चुकी है और उनकी प्रतीक्षा हो रही है।

उन्होंने अपनी प्रसन्नता गुरुभाइयों व शिष्यों के सामने प्रकट की। वे भी प्रसन्न हुए।

1898 जनवरी का आधा महीना निकल चुका था। स्वामीजी कलकत्ता पहुंचे। उन्होंने कुमारी मूलर एवं अन्य शिष्यों के साथ जाकर बेलूड़ में जाकर मठ का निरीक्षण किया। यह स्थान पहले नौकाओं की आश्रयस्थली के रूप में व्यवहृत होता था। जमीन समतल की जा चुकी थी और अब वहां एक दुमंजिला भवन खड़ा था। मठ की जमीन खरीदने के लिए धन कुमारी मूलर ने दान दिया था तथा शेष धन स्वामीजी के लंदन के शिष्यों ने दिया था। यहां 'ठाकुर घर' का निर्माण भी किया गया था। उसका व्यय भार श्रीमती ओलीबुल ने उठाया था तथा साथ ही मठ का खर्च चलाने के लिए एक लाख रुपया भेंट किया था।

स्वामीजी मठ को देखते न अघा रहे थे। उनके कंठ से स्वर फूटे—"कितना

आनन्द आता है, जब कोई संकल्प पूरा होता है ! मेरा स्वप्न पूरा हुआ। इसके लिए कुमारी मूलर, श्रीमती ओलीबुल तथा इंग्लैंड के मेरे शिष्य व अन्य सभी शुभाकांक्षी धन्यवाद के पात्र हैं।"

श्रीरामकृष्णदेव मिशन का मठ पहले से ही आलमबाजार से बेलूड़ गांव के नीलाम्बर मुखोपाध्याय के मकान में ले आया गया था। यह मकान अस्थायी रूप से किराए पर ले लिया गया था, ताकि जब तक मठ स्थायी रूप से स्थापित न हो जाए, तब तक स्वामीजी अपने शिष्यों व गुरुभाइयों के साथ यहां रहें।

स्वामीजी का व्यक्तित्व सूर्य के समान था। उनकी गुरुत्वाकर्षण शक्ति, प्रभा मंडल; इतना प्रबल और मोहपूर्ण था कि प्रत्येक उनके निकट रहना चाहता था। वे उनसे दूर जाते थे तो मन मारकर जाते थे। यही कारण था कि वे अपने गुरुभाइयों व शिष्यों से निकटता नहीं जतलाते थे और शिष्यों से आन्तरिक प्रेम होते हुए भी दूरी बनाए रखते थे।

यहां आए अभी स्वामीजी को कुछ ही दिन हुए थे कि अमेरिका से स्वामी शारदानन्दजी आ गए। श्रीलंका से स्वामी शिवानन्दजी (तारकनाथ) भी प्रचार कार्य करके वापस लौटे। स्वामी त्रिगुणातीतानन्दजी, स्वामी तुरीयानन्दजी, स्वामी ब्रह्मानन्दजी आदि भी प्रेमपूर्वक स्वामीजी को घेरे बैठे थे। स्वामीजी काफी दिनों के बाद अपने गुरुभाइयों के साथ संगत करने बैठे थे। स्वामी तुरीयानन्दजी ने संवाद शुरू किया—"गुरुदेव का आशीर्वाद सफल हुआ। मठ में नवीन ब्रह्मचारियों व सन्यासियों की शिक्षा अबाध गति से चल रही है।"

"तुम ठीक कहते हो।" स्वामीजी विवेकानन्द बोले।

"जो कुछ प्राप्त हो रहा है, श्रीरामकृष्णदेव की कृपा से हो रहा है। सीलोन में रामकृष्ण मिशन का कार्य द्रुत गति से चल रहा है।" स्वामी शिवानन्द बोले।

"अमेरिका में वेदान्त प्रचार का कार्य भी सहज गति से चल रहा है। मिशनरियों का विरोध अनवरत चल रहा है, पर हम बिना विरोध किए आपका कार्य किए जा रहे हैं और हमें सफलता मिल रही है। नरेन्द्र तुम यहां जो नींव डालकर आए थे, वह अटल है। वहां नाना प्रकार के विरोधों के बीच काम करने पर आनन्द आ रहा है। सच है, संघर्ष ही जीवन है।" स्वामी शारदानन्दजी ने अमेरिका में किए जा रहे क्रियाकलापों का संक्षिप्त परिचय दिया।

स्वामीजी विवेकानन्दजी मुस्कराए और उपहास किया—"तुम लोग जीवन ही अब जी रहे हो। लेकिन पीछे न हट जाना।"

"यह असम्भव है। हमने ऐसे दिव्य गुरु से शिक्षा पाई है, जिसका एक-एक

कथन अमोल है। वे कहते थे—'वचन पालन करना चाहिए, सत्य वचन कलियुग की तपस्या है।' हम इसी तपस्या में लगे हुए हैं।" स्वामी शिवानन्दजी ने अपनी दृढ़ता प्रदर्शित की।

स्वामी ब्रह्मानन्दजी, शिवानन्दजी के शब्द सुनकर हर्षित हुए और बोले—"नरेन्द्र, हमारी इच्छा पूर्ण हुई। मठ एक-आध साल में अपने पूर्ण स्वरूप में आ जाएगा। मैं बहुत शीघ्र एक ऐसी संस्था की नींव भी डाल दूंगा जो बेसहारा और अनाथ बच्चों को सहारा दे।"

"राखाल राजा, तुम्हारा काम अद्भुत है। यह सब गुरुदेव का प्रताप है तथा तुम्हारी शुद्धता और सात्विक विचारों का फल है।" स्वामी विवेकानन्दजी ने आज काफी वर्षों बाद स्वामी ब्रह्मानन्दजी को गुरुदेव द्वारा दिए गए नाम से पुकारा था।

"नरेन, दुर्भिक्ष में हमारे मिशन द्वारा किए गए कार्यों की चारों ओर प्रशंसा हो रही है। राजनीतिज्ञ भी हमारी प्रशंसा कर रहे हैं। मानवता के करुण क्रन्दनार्थ जरा-सा सहारा भी काफी बड़ा होता है। काश ! हमारे पास पूर्ण साधन होते ?" स्वामी त्रिगुणातीतानन्द बोले।

"मुझे प्रसन्नता है कि हम एक जुट होकर मानवता के कल्याणार्थ सेवा कार्य में जुटे हुए हैं। श्रीरामकृष्णदेव हमें एक शृंखला में बांधे हुए हैं।" स्वामी विवेकानन्दजी ने कहा।

"गुरुदेव के शब्द आज भी मेरी स्मृति में कौंध रहे हैं। मैं एक दिन गुरुदेव से नाराज होकर भाग रहा था। लेकिन भागता कहां ? द्वार पर ही मेरे पैर बंध गए। मैं लौटा, तो ठाकुर बोले थे—'क्या घेरा लांघकर भाग सके ? यहां की धारा (श्रीरामकृष्णदेव) बरसाती सावन-भादों की धारा नहीं है। सावन महीने का पानी हू....हू....करके आता है और फिर चला जाता है। यहां पातालोद्भव स्वयंभू शिव हैं, स्थापित किए हुए शिव नहीं।' मेरे परम पूज्य गुरुदेव की शृंखला कौन तोड़ सकता है ? हम सभी इसी शृंखला से बंधे हुए हैं।" स्वामीजी ब्रह्मानन्दजी के कथन से सभी जन श्रीरामकृष्णदेव की स्मृति में डूब गए।

स्वामी विवेकानन्दजी की आंखों से प्रेमाश्रु बहने लगे। वे कुछ देर भावलोक में डूबे रहे और बोले—"इसी भावना से हम सब कुछ श्रीरामकृष्णदेव को सौंपकर कार्य करते रहें, यही इच्छा है। अब श्रीरामकृष्णदेव से अनुरोध है कि सेव्हियर दम्पति पर अनुग्रह करें। वे हिमालय की गोद में ठाकुर का एक आश्रम बनाने की धुन में हैं। उनकी इच्छा भगवान पूर्ण करें।"

पूरी रात चर्चा में बीत गई। धीरे-धीरे सारा कार्य लीक पर आता जा रहा था।

थोड़े दिन बाद श्रीरामकृष्णदेव का जन्म दिवस आने वाला था। इस बार महोत्सव की सारी व्यवस्था का भार स्वामी विवेकानन्दजी ने उठा रखा था।

स्वामीजी ने निर्णय किया कि अभी बेलूड़ मठ अधूरा निर्मित है सो श्रीरामकृष्णदेव की जन्म तिथि पूजा (फाल्गुन की शुक्ल द्वितीया) नीलाम्बर बाबू के भवन में ही की जाए; और एक-दो दिन बाद शुभ घड़ी पर नवीन मठ में निर्मित 'ठाकुर घर' में श्रीरामकृष्णदेव की प्राण प्रतिष्ठा हो।

श्रीरामकृष्णदेव की पवित्र जन्म तिथि आई। स्वामीजी रात्रि से ही व्यवस्था करने में व्यस्त थे। पूजा के लिए सभी आवश्यक वस्तुओं का प्रबन्ध हो चुका था। आयोजन ने विशाल रूप ले लिया था। ठट्ठ के ठट्ठ लोग पूजा में भाग लेने निमित्त आ रहे थे। स्वामीजी पूरी व्यवस्था पर दृष्टि रखे हुए थे और शिष्य तथा गुरुभाइयों को उचित निर्देश दे रहे थे। उन्होंने इस बार जाति-भेद पर प्रहार करने का निश्चय किया था। इस कार्य के लिए उन्होंने शरच्चन्द्र चक्रवर्ती से जनेऊ मंगवाए थे। ये जनेऊ अब्राह्मणों को दिए जाने थे। जनेऊ एवं गायत्री मन्त्र प्रदर्शन करने का उत्तरदायित्व शरच्चन्द्र चक्रवर्ती को सौंपा गया था। स्वामीजी का कहना था—"वेद इसका प्रमाण है कि उपनयन संस्कार का अधिकार प्रत्येक द्विजाति को है। आज यहां जो भी चाहेगा, उन्हें जनेऊ पहनाई जाएगी। संस्कार के अभाव में ये लोग व्रात्यत्व (संस्कार से पतित) हो गए हैं। हमें इन सबको ब्राह्मण बना डालना होगा।"

गंगा स्नान करके अनेक लोगों ने जनेऊ धारण किए व गायत्री मन्त्र प्राप्त किया और श्रीरामकृष्णदेव को प्रणाम करके स्वामीजी के चरण स्पर्श किए। आयोजन की इसी उत्फुल्लता में स्वामीजी ने संगीत सभा शुरू करने का निर्देश दिया। इसके बाद स्वामीजी ने 'राम राम श्रीराम राम' की ध्वनि का उच्चारण आरम्भ किया। पूरा आयोजन स्थल आधे घंटे तक इसी ध्वनि से गूंजता रहा। रामनाम सुधा पीकर सभी मतवाले हो गए थे।

इस सुधा रस का पान कर गिरीश बाबू भी सुध भूल रहे थे। संगीत सभा की समाप्ति हुई। स्वामीजी ने गुरुभाइयों को निर्देश दिया—"आज जी॰सी॰ को श्रीरामकृष्णदेव के वचनानुसार सजाओ। श्रीरामकृष्णदेव कहते थे कि गिरीश भैरव का अवतार है।"

गिरीश बाबू के विशाल शरीर को गुरुभाई जटाभार, भस्म व रुद्राक्ष से सजाने लगे। अन्त में उन्हें गेरुआ वस्त्र पहनाया गया। अद्भुत दृश्य था। स्वामीजी ने कहा—"जी॰सी॰ तुमको आज श्रीगुरुदेव की कथा सुनानी होगी।"

गिरीश बाबू किंकर्त्तव्यविमूढ़ थे। वे इतना ही बोल पाए—"दयामय श्रीगुरुदेव

की कथा मैं क्या कहूं ? इस अधम को उन्होंने तुम्हारे समान काम-कांचन त्यागी और बाल सन्यासियों के साथ एक ही आसन पर बैठने का जो उपाधिकार दिया है, इससे ही उनकी अपार करुणा का अनुभव कर रहा हूं।"

गिरीश बाबू का कंठ भर आया। वे कुछ और न बोल पाए। इसी समय महेन्द्रनाथ गुप्त (मास्टर महाशय—इन्होंने श्रीरामकृष्णदेव का जीवन चरित लिखा था। ये स्कूल में अध्यापक थे और स्वामीजी के प्रिय थे।) भी आ पहुंचे। स्वामीजी इनसे श्रीरामकृष्णदेव की कथा सुनाने का अनुरोध कर ही रहे थे कि मुर्शिदाबाद से स्वामी अखण्डानन्द आ पहुंचे। स्वामीजी बोले—"यह है कर्मवीर और परम तपस्वी।"

स्वामीजी के इस कथन पर शरच्चन्द्र ने प्रश्न पूछ लिया—"महाराज, अधिक तपस्या के फल से इनमें यह शक्ति उत्पन्न हुई होगी ?"

"तपस्या से शक्ति उत्पन्न होती है, यह सत्य है। लेकिन दूसरों के निमित्त कर्म करना ही तपस्या है। कर्मयोगी कर्म को तपस्या का एक अंग कहते हैं। जैसे तपस्या मे परहित की इच्छा बलवान होकर साधकों से कर्म कराती है, वैसे ही दूसरों के निमित्त कार्य करते-करते तपस्या का फल चित्त शुद्धि या परमात्मा के दर्शन के रूप में प्राप्त होता है। मुझे लगता है तू कर्म और तपस्या में भेद मानता है और कर्म को तपस्या नहीं मानता।"

"महाराज, मैं पहले तपस्या का अर्थ कुछ; और ही समझता था।" शरच्चन्द्र ने उत्तर दिया।

"साधन-भजन का अभ्यास करते-करते जैसे उस पर दृढ़ता हो जाती है, पहले इस ओर अनिच्छा के साथ साधक बढ़ता है, किन्तु फिर हृदय उसी में मस्त हो जाता है। इसी प्रकार परार्थ कार्य करने की प्रवृत्ति भी उभरती है। तुम एक बार अनिच्छा से ही सही, औरों की सेवा करके देखो, और फिर देखो कि तुम्हें तपस्या के फल प्राप्त होते हैं या नहीं। परार्थ सेवा करने से मन का टेढ़ापन सीधा हो जाता है और वह मनुष्य निष्कपटता से औरों के मंगल के लिए प्राण देने को भी तैयार हो जाता है।"

"महाराज, परहित का प्रयोजन क्या है ?"

"इसका प्रयोजन अपने ही हित के निमित्त है। तुमने इस शरीर पर ही अपना 'अहं' का अभिमान रख छोड़ा है। यदि तुम यह सोचो कि तुमने इस शरीर को दूसरों के निमित्त उत्सर्ग कर दिया है। ऐसा सोचने से तुम इस अहंभाव को भूल जाओगे और अन्त में तुम्हें विदेह बुद्धि प्राप्त होगी। एकाग्र चित्त से औरों के लिए जितना सोचोगे उतना ही अपना अहंभाव भूलोगे। इस प्रकार के कर्म करने से क्रमशः चित्त

शुद्ध हो जाता है। औरों का हित करना आत्म विकास का एक साधन है। इसे ईश्वर साधना ही मानो। ज्ञान, भक्ति, साधना, जप, परार्थ कर्म सब एक ही है।"

स्वामीजी के भक्तगण उनसे गीत गाने का आग्रह करते हैं। स्वामीजी प्रसन्नता से कहते हैं—"तुम लोग भी मेरे साथ गाओ।"

—जगत् को तापित लख कातर हो....मजलो आमार मनभ्रमरा, कालीपद नीलकमलो, आदि कई गीत तन्मय होकर गाए गए। अन्त में प्रसाद वितरण करके सभा का विसर्जन किया गया।

जन्मोत्सव के दो दिन बाद स्वामीजी ने नए मठ में यज्ञ किया। यज्ञोपरान्त उन्होंने पुष्प व बिल्वपत्र श्रीरामकृष्णदेव की पादुकाओं पर अर्पित की ओर ध्यानावस्थित हो गए। पूजागृह दिव्य ज्योति से आलोकिल हो रहा था। स्वामी प्रेमानन्द व अन्य शिष्यगण पूजागृह के द्वार पर खड़े होकर सम्पन्न होती पूजा देख रहे थे। पूजा सम्पन्न हुई तो स्वामीजी श्रीरामकृष्णदेव की रक्षित भस्मास्थि के तांबे के डिब्बे को अपने कंधे पर रखकर लाए और नए मठ में प्रतिष्ठित किया। पूरा वातावरण शंख व घंटों की ध्वनि से गूज रहा था। भावों में डूबे स्वमीजी के अधरों से शब्द निकले—"श्रीगुरुदेव ने कहा था कि तुम मुझे कंधे पर चढ़ाकर जहां ले जाओगे, मैं वहीं जाऊंगा; और वहीं रहूंगा चाहे वह स्थान वृक्ष के तले हो या कुटी हो।"

इस आयोजन के बाद सभी लोग स्वामीजी के साथ नीलाम्बर बाबू के भवन में लौट आए। नया मठ अभी निवास के लिए प्रयुक्त नहीं हो सकता था, सो श्रीरामकृष्णदेव का भस्मी पात्र भी वापस ले आया गया। भस्मी पात्र वापस लाने का कार्य शरच्चन्द्र ने किया क्योंकि स्वामीजी का मत था कि हमने इन्हें वहां प्रतिष्ठित कर दिया है, सो इन्हें लौटा ले जाने का कार्य हम नहीं कर सकते।

सभी लोग स्वामी विवेकानन्द को घेरकर बैठ गए। स्वामीजी संतुष्ट नजर आ रहे थे। स्वामी प्रेमानन्द ने उत्साह से कहा—"आज हम सभी खुश हैं।"

"हां, आज मैं भी बहुत अधिक खुश हूं। आज श्रीगुरुदेव की इच्छानुसार धर्मक्षेत्र में उनकी प्रतिष्ठा हो गई है। बारह वर्ष की चिन्ता का बोझ आज सिर से उतर गया है।"

"आज से बेलूड़ मठ हमारा तीर्थ स्थान बन गया है।" एक भक्त बोला।

"यह बात भी ठीक है। समस्त ब्रह्माण्ड जब नित्य आत्मा ईश्वर का ही विराट शरीर है, तो विशेष-विशेष स्थानों पर माहात्म्य होना ही चाहिए। स्थान विशेष पर उनका विशेष विकास है। ये स्थान या तीर्थ कहीं पर आप ही आप प्रकट होते हैं और कहीं-कहीं शुद्ध सत्व मनुष्य के व्याकुल आग्रह से प्रकट होते हैं। साधारण मनुष्य

जब जिज्ञासु होकर इन स्थानों पर पहुंचता है तो उसे सुफल प्राप्त होते हैं। इसलिए तीर्थादि का आश्रय लेने से समय पर आत्मा का विकास होना सम्भव होता है। फिर भी हमें ध्यान रखना चाहिए कि मानव-शरीर की अपेक्षा और कोई बड़ा तीर्थ नहीं है। इस शरीर में आत्मा का जितना अधिक विकास हो सकता है, उतना और कहीं नहीं हो सकता।" स्वामीजी ने सत्यांश प्रकट किया।

"आप कभी कश्मीर भ्रमण करके आए हैं। वहां के तीर्थ स्थानों में भी आप गए होंगे। आपको क्या अनुभूतियां हुईं ? हमें भी बताने की कृपा करिए, महाराज।" एक शिष्य ने सवाल पूछा।

"अरे ! वहां की अनुभूतियों की छटा न पूछो। अमरनाथजी के दर्शन करके तो शिवजी मेरे मस्तक पर सवार हो जाते हैं, और फिर कई दिनों तक मैं जगत के कार्यों की ओर आ ही नहीं पाता। मैं अमरनाथ उस मार्ग से जाता हूं, जिधर से अन्य कोई यात्री नहीं जाता है। उस मार्ग पर ऐसा कड़ा जाड़ा पड़ता है कि शरीर अकड़ जाता है। मैंने भी कौपीन धारण करके; और शरीर पर भस्म लगाकर गुफा में प्रवेश किया था। बाहर आते ही शरीर ठंड से जड़ हो गया था। यहां से लौटकर श्रीनगर से क्षीर भवानी के दर्शन करने गया।"

मठ अभी नीलाम्बर बाबू के भवन में ही चल रहा था। अगहन महीने का अन्त होने जा रहा था। स्वामीजी अपने शिष्यों से संस्कृत में वार्तालाप करते और अपने निर्मित श्लोकों पर उनसे चर्चा कर सुधार करते रहते थे। शिष्य उनके सुन्दर वाक्यविन्यास पर मुग्ध होते थे और भाषा के आर्ष प्रयोग, भाषा दोष एवं व्याकरण पर उनसे बात करते थे। स्वामीजी मठ के पवित्र भावों के मध्य गंगाजी की वायु का सेवन करते तथा आनन्द से शिष्यों, भक्तों, गुरुभाइयों व साधुओं से समागम करते और प्रयास करते कि इन लोगों का अभिमान, आभिजात्य, जाति; और वर्ण भावना समाप्त हो सके।

स्वामीजी ने श्रीरामकृष्णदेव की भावनाओं के प्रचार के लिए एक दैनिक समाचार-पत्र प्रकाशित करने की सम्मति गुरुभाइयों को दी। इसके प्रत्युत्तर में स्वामी प्रेमानन्द बोले—"इस पर आने वाला व्यय हम वहन नहीं कर पाएंगे।"

"तो इसका विकल्प ढूंढ़ो।" स्वामीजी ने कहा।

"क्यों न पाक्षिक पत्र निकाला जाए और फिर धीरे-धीरे इसे दैनिक समाचार-पत्र में बदल दिया जाए।" स्वामी त्रिगुणातीतानन्द बोले।

"हां, यह हुई न बात। हर बात का विकल्प होता है। मैं इस पाक्षिक के संचालन का भार शारदा (स्वामी त्रिगुणातीतानन्द) को ही सौंपता हूं। समाचार-पत्र

बंगला भाषा में होगा और इसका उद्देश्य जनसाधारण को श्रीरामकृष्णदेव की शिक्षाओं की ओर प्रेरित करना रहेगा। मेरे पास इस वक्त एक हजार रुपए हैं, यह मैं शारदा को देता हूं; और एक हजार रुपए हरिमोहनजी मित्र देने के लिए तैयार हैं, जो ऋण के रूप में होंगे। मात्र इतने ही धन से शारदा को पाक्षिक (उद्बोधन) निकालना होगा।"

"मैं इस उत्तरदायित्व को ग्रहण करता हूं।" स्वामीजी त्रिगुणातीतानन्दजी बोले।

इस निर्णय के बाद छापाखाना खरीदा गया और श्यामबाजार के रामचन्द्र लेन में गिरीशचन्द्र बसक के घर पर प्रेस शुरू किया गया। स्वामी त्रिगुणातीतानन्द ने भूखे-प्यासे तथा अथक कष्टों को सहकर पाक्षिक का प्रकाशन किया। इसका प्रथम अंक देखकर स्वामी विवेकानन्द खुश हुए। पाक्षिक की प्रस्तावना स्वामीजी तथा अन्य लेखादि सन्यासियों तथा श्रीरामकृष्णदेव के गृहस्थ भक्तों द्वारा लिखे गए थे। कुल मिलाकर अंक सुन्दर बन पड़ा था। स्वामीजी ने मुद्रित पत्र देखा व उपहास कर बोले—"देखा, क्या उद्बन्धन है !"*

स्वामीजी के निर्मल उपहास पर सभी लोग मुस्कराए। स्वामीजी ने सरसरी दृष्टि से पूरा अंक देखा व बोले—"भाषा व विचारों को और श्रेष्ठ बनाना होगा। बंगला भाषा में नया जोश लाना होगा। बार-बार क्रियापद के प्रयोग से भाषा की शक्ति घटती है। क्रियापदों का प्रयोग विशेषणों से कम किया जा सकता है। लेकिन समाचार पत्र की इन कमजोरियों के बावजूद भी मैं खुश हूं क्योंकि इसके पीछे अथक मेहनत है। शारदा ने इसके लिए साधना, भजन, ध्यान और धारणा सब छोड़ दी है। गेरुआ वस्त्र पहने हुआ यह सन्यासी गृहस्थों के द्वार-द्वार पर घूमा है। यह सब वह अपने लिए नहीं कर रहा है। उसके तो सब अपने हैं। परहित और लोक कल्याण के कार्यों के लिए यह सब कुछ कर रहा है। इसकी आलोचना भी होगी....लोग व्यंग्य भी कसेंगे, किन्तु हम सत्य के मार्ग पर चल रहे हैं, सो अपनी डगर पर चलते रहेंगे। हम तो सर्वत्यागी सन्यासी हैं, हमारे स्त्री-पुरुष नहीं हैं, सो हम किसी के लिए कुछ संग्रह करने के मोह में फंसे हुए नहीं हैं। हमारा कार्य, हमारी आमदनी, जीव सेवा मात्र के लिए है।"

"लेकिन महाराज, क्या लोग हमारी इस भावना को समझ पाएंगे ?" शरच्चन्द्र ने प्रश्न किया।

"हमें इसकी अपेक्षा भी नहीं है। निन्दा या प्रशंसा से हमारा क्या बिगड़ेगा या बनेगा। हम प्रशंसा या निन्दा के निमित्त कार्य नहीं कर रहे हैं। मेरी यह इच्छा

* उद्बन्धन का अर्थ होता है गले में फांसी लगाकर आत्मघात करना।

है कि इस पाक्षिक को शीघ्र दैनिक किया जाए और कलकत्ते की गली-गली में इसकी प्रतियों का वितरण किया जाए। मुझे आशा है श्रीरामकृष्णदेव मेरी इस इच्छा को भी पूर्ण करेंगे। हमें बस इतना ही ध्यान रखना है कि हम अपनी लेखनी द्वारा ऐसे संसार की रचना करें, जो मनुष्य को निडर बनाए। आज हमारे साहित्य, इतिहास, पुराण, शास्त्र आदि मानव को डराने में लगे हुए थे। वे मनुष्य से एक ही बात कहते हैं—'तू नरक में जाएगा, तेरी रक्षा का कोई उपाय नहीं है।' हमें इस भावना के विपरीत चलना है तथा देश को बताना है कि सदाचार, सद्व्यवहार और शिक्षा ही श्रेष्ठ है। हमारी सफलता इसी में होगी कि हम चांडाल व ब्राह्मण को एक भूमि पर खड़ा कर दें।"

स्वामीजी अपनी निर्धारित दिशा की ओर दृढ़ता से बढ़े चले जा रहे थे और उनके पीछे थे सभी गुरुभाई, भक्त व शिष्य। देश उनकी ओर दृष्टि लगाए हुए था।

काल बीत रहा था और साथ ही इतिहास भी लिखा जा रहा था। स्वामीजी का विचार था कि उन्हें एक बार फिर से विदेश जाना चाहिए ताकि मठ के निर्माण तथा सेवाश्रमों का विस्तार किया जा सके। इसके लिए धन चाहिए था, जो विदेश में ही उपलब्ध हो सकता था....देश मे आशा करनी बेकार थी।

इसी बीच दो शुभ बातें हुईं। कैप्टन सेवियर ने अल्मोड़ा में जमीन व बंगला खरीद लिया था। उनका विचार इस जमीन पर मठ बनाकर स्वामीजी को अर्पित करने का था। यह सूचना स्वामीजी को मिली तथा दूसरी ओर श्रीमती बुल, कुमारी मैक्लिआड तथा कुमारी मार्गरेट नोबल भी स्वामीजी के पास आ पहुंची थीं। स्वामीजी ने इनका स्वागत किया। वे नोबल से बोले—"कैसा अनुभव किया, इस पुण्य धरती पर आकर ?"

"मैं वर्णन करने में अशक्त हूं। लगता है मैं अपनी मातृभूमि में आई हूं।"

"ठीक है, आप लोग घूमो, खूब भ्रमण करो, यहां के लोगों को पहचानो। मैं तुम लोगों के साथ अपने एक शिष्य को कर देता हूं।"

"लेकिन मैं आपके और श्री मां के सानिध्य में रहना चाहती हूं।"

"सहारा नहीं, किसी का सहारा मत लो। श्रीरामकृष्णदेव ही एक मात्र सहारा हैं। इधर-उधर जाओ और अपनी वक्तृत्व शक्ति बढ़ाओ। तुम जो कार्य करना चाहती हो, उसके लिए चमत्कारिक भाषण कला जरूरी है। श्री मां से मैं आप लोगों की शुभ घड़ी में भेंट करवाऊंगा।"

"आपका कहना बिलकुल ठीक है। नोबल जिस वातावरण में कार्य करेंगी, उससे इनका परिचित होना जरूरी है।" कुमारी मैक्लिआड बोलीं।

"हां, इन्हें अपनी उद्धार के लिए खुद आगे बढ़ना पड़ेगा।" श्रीमती बुल बोलीं।

"इसीलिए मैंने यह सुझाव दिया है।....**उद्धरेदात्मनाऽत्मानम्,** आप ही अपना उद्धार करना होगा। सब कोई अपने को उबारें। तभी हम लोग दैहिक, मानसिक और आध्यात्मिक स्वाधीनता की ओर अग्रसर हो सकेंगे और उन लोगों का भला कर पाएंगे जो मुट्ठी भर अमीर लोगों के विलास के लिए अज्ञता के अन्धकार में पड़े हुए हैं।" स्वामीजी ने कहा।

"मैं इसी उद्देश्य को लेकर यहां आई हूं।" कुमारी नोबल बोलीं।

"तो सन्नद्ध हो जाओ कार्य क्षेत्र में उतरने के लिए। मेरे आने के बाद श्रीरामकृष्णदेव की सेना दत्तचित्त होकर मानव सेवार्थ लगी हुई है। शशि, तुलसी, खोखा मद्रास में आत्म विद्या के प्रचारार्थ लगे हुए हैं। गंगाधर, हरि, शारदा, शिवानन्द, अखण्डानन्द, ब्रह्मानन्द, तुरीयानन्द आदि सभी शहद की मक्खियों सदृश कार्यों पर जुटे हुए हैं। इन सबसे धीरे-धीरे तुम्हारा परिचय हो जाएगा। हां, मेरा विचार है कि सबसे पहले तुम बंगला भाषा बोलना व लिखना सीखो। इसके लिए मैंने गुप्त को नियुक्त किया है। कुमारी मूलर से मेरी वार्ता तुम्हारे सम्बन्ध में हुई। वह अब कुछ सदाशयता की ओर ढली है; और तुम्हारी हर सहायता करने को तत्पर है।"

कुमारी मागरिट नोबल स्वामीजी के निर्देशानुसार कार्य पर लग गई। स्वामीजी की दिनचर्या भी नियमित रूप से चलने लगी।

वे संध्या को नियमित रूप से चर्चा करते थे; और समयानुसार भजन-कीर्तन में लगे रहते थे। वे कुछेक दिनों से देख रहे थे कि स्वामी शिवानन्द कुछ विचलित हैं। एक शाम को एकान्त में उन्होंने उनसे पूछा—"तारक, कुछ दिनों से देख रहा हूं कि तुम्हारा मन विचलित सा है ?"

"हां, इसका अनुभव मैं भी कर रहा हूं। सोचता हूं यहां से दूर हिमालय की नीरवता में कहीं शरण ले लूं। चिर-प्रस्थान की इच्छा है।"

"कर्मक्षेत्र से भागोगे ? गुरुदेव को दिए गए वचन को भंग करोगे ? यदि ऐसा है, तो मैं तुम्हें रोकूंगा नहीं। तुम निष्काम की ओर प्रेरित हो....अपनी इच्छा-शक्ति के निम्न परिणाम का त्याग करके उच्च परिणाम का आविर्भाव चाहते हो ? लेकिन मेरी राय है पहले सकाम की ओर बढ़ो; और आगे चलकर निष्काम (मुक्ति) की ओर ध्यान दो। तुम देखोगे कि तुम्हारी इच्छा-शक्ति आज की अपेक्षा उन्नत दशा तक पहुंच चुकी है। गुरुमूर्ति का ध्यान करो और निर्णय लो।"

स्वामी शिवानन्द पूरी रात भर विचार करते रहे और अन्त में इस निष्कर्ष पर

पहुंचे कि सकर्म करते-करते मुक्ति प्राप्त करनी श्रेयस्कर है। प्रातः वे शान्त थे। उन्होंने स्वामी विवेकानन्द को अपनी सोच का सार बतलाया। स्वामी विवेकानन्द बोले—"इस वर्ष के महोत्सव से मैं संतुष्ट नहीं हो पाया हूं। मेरी इच्छा है कि अगले वर्ष के महोत्सव में यहां की भावधारा में एक अपूर्व समावेश हो। मेरे साथ इस व्यवस्था को रूप देने में लग सकोगे ?"

"क्यों नहीं ? पूरी शक्ति से लगूंगा।"

स्वामीजी ने शिवानन्दजी के वैराग्य को और आतुर मन को कर्मक्षेत्र की ओर मोड़ा और उनके संकल्प पर बोले—"तारक, तुम हिमालय में जाकर बैठना चाहते हो और देखो दूसरी ओर इंग्लैंड से मार्गरेट पाश्चात्य समाज के सभी बंधनों को छिन्न-भिन्न करके श्रीगुरुदेव की जन्म-भूमि के दर्शन करने तथा भारतीय शिक्षा व संस्कृति का प्रत्यक्ष परिचय करने के लिए इस देश में आई हैं। ये हमारी नवीन संघ के कार्य में सहायता करेंगी।"

"यह इनका बहुत बड़ा त्याग है। भारत में दुष्कर जीवन निर्वाह परिस्थितियां तो हैं ही, इसके विपरीत इनमें श्रेष्ठत्व एवं प्रश्रयात्मकता तथा संरक्षणात्मकता की प्रवृत्ति है। लेकिन इनका समर्पण इस अवधारणा को बदल देगा।"

"मुझे मार्गरेट को भारतीयों से परिचित कराना है। लेकिन सोचता हूं कि यह कार्य कैसे होगा ? पाश्चात्य लोगों के प्रति सामाजिक निषिद्धता एवं आस्थाहीनता भरे आज के माहौल में मार्गरेट को किस प्रकार भारतीयों के समक्ष प्रस्तुत करूं। एक विचार है। श्री मां संरक्षी हिन्दू पृष्ठाधार वाली देवी हैं। उनके समक्ष मार्गरेट को उपस्थित करूं। यदि श्री मां इसे स्वीकार करती हैं तो भारत निश्चित रूप से इसका स्वागत करेगा।" स्वामी शिवानन्दजी ने इस विचार को उत्तम बताया।

स्वामी विवेकानन्दजी ने मार्गरेट नोबल को श्री मां के सम्मुख प्रस्तुत किया। श्री मां ने स्नेह से नोबल का बाहें फैलाकर स्वागत किया और उसे अपनी 'खोकी' (छोटी बेटी) कहकर सम्बोधन किया। स्वामीजी की चिन्ता दूर हुई। उन्होंने कुमारी नोबल से कहा—"मेरी चिन्ता दूर हुई। तुम इस परीक्षा में उत्तीर्ण हुई।"

"लेकिन मैं तो आपके संघ से पूर्ण रूप से जुड़ना चाहती हूं। मेरी हार्दिक इच्छा है कि आप मुझे दीक्षित करें। मैं जीवन भर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करूंगी।"

"नोबल, आज पाश्चात्य लोग मेरे गरीब स्वदेशवासियों पर हंसते हैं। लेकिन मेरा कहना होता है कि उन्हें हम पर हंसने का कोई अधिकार नहीं है। क्योंकि उन्होंने हमारे लिए किया क्या है ? इस बात का तुम एक अनुकरण बनोगी।"

"इन गरीब व असहायों को मैं गले से लगाऊंगी।"

"ठीक है, मैं तुम्हें दीक्षित करूंगा। तुम कुछ दिन श्री मां की शरण में रहो।"

स्वामीजी मठ के निर्माण कार्य तथा शिक्षा-दान में जुट गए। उन्होंने स्वामी स्वरूपानन्दजी को कुमारी नोबल की शिक्षा के लिए नियुक्त किया। कुमारी नोबल पूरे परिश्रम व लगन से शिक्षा प्राप्त करने लगी। वह गुप्तजी से बंगाली भाषा भी सीख रही थीं।

फिर एक शुभ दिन देखकर स्वामीजी ने कुमारी नोबल को ब्रह्मचर्य व्रत में दीक्षित करने का निर्णय किया। कुमारी नोबल के लिए यह दिन गौरव का था।

पूर्ण वैदिक विधि-विधान से उनकी दीक्षा हुई। कुमारी नोबल ने ठाकुर घर जाकर एकाग्र चित्त से मौन होकर संकल्प दोहराया; और लौटकर स्वामीजी के सम्मुख खड़ी हो गई। स्वामीजी बोले—"आज से तुम्हारे पूर्व नाम की समाप्ति हुई। तुम्हारा नया जीवन शुरू हुआ है। अब तुम मेरी मानस कन्या हो। अब तुम्हें 'भगिनी निवेदिता' के नाम से पुकारा जाएगा। वत्से, मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूं कि तुम उनका अनुसरण करो, जिन्होंने बुद्धत्व प्राप्त करने से पूर्व पांच सौ बार लोक कल्याण के व्रत में अपने को उत्सर्ग किया था। मैं कार्य शुरू करने से पूर्व उनकी आज्ञा प्राप्त करता हूं और उनके निर्देशों का पूर्ण पालन करता हूं।"

कुमारी मार्गरेट खुश थीं। उसे लग रहा था कि आज उसका पुनर्जन्म हुआ है। वह भारत के पुनर्जन्म दर्शन में विश्वास रखती थी। उसे विश्वास था कि उसकी धरती भारत रही होगी....कर्म फल से वह इंग्लैंड में जा छिटकी। यदि ऐसा न होता तो वह इंग्लैंड के सुख-समृद्धि पूर्ण माहौल में असंतुष्ट क्यों थी ? उसका मन भारत की धरती पर आने के लिए व्याकुल क्यों रहता था ? आज उसे परम संतुष्टि क्यों हो रही है ? अपने सजातीय लोगों की अपेक्षा वह भारत के दीन-हीन लोगों की ओर अकर्षित क्यों होती है ?

अपने को भारत की पुण्य भूमि में पाकर वह निहाल थी और प्रयत्न कर रही थी कि पूर्व रूप से अपने को यहां के संस्कारों में ढाल ले। उसे रह-रहकर एक ही बात का ध्यान आता था कि उसे विषय और अपनी वक्तृत्व कला पर शीघ्र अधिकार प्राप्त करना है; और तदुपरान्त ही कर्मक्षेत्र में उतरना है। वह इसी कार्य पर लगी हुई थी।

भगिनी निवेदिता ने जब देखा कि वह परीक्षा में उतरने के योग्य है, तो वह स्वामीजी से बोली—"मैं श्रोताओं के सम्मुख अपने विचार प्रस्तुत करना चाहती हूं।"

"विषय क्या होगा ?"

"इंग्लैंड में भारतीय आध्यात्मिक विचारों का प्रभाव।"

"बहुत सुन्दर विषय है। तुम्हारे बोलने की व्यवस्था हो जाएगी। निवेदिता, मैं प्रसन्न हूं कि तुमने बहुत शीघ्र क्षमता प्राप्त कर ली।"

"गुरुदेव, आपकी अनुकम्पा है। लेकिन आप भी मेरा व्याख्यान सुनने आएंगे न ?"

"मैं वहां तुम्हारा परिचय दूंगा; और सभा में अन्त तक रहूंगा।"

"मैं आपकी कृतज्ञ हूं....इससे मेरा साहस बढ़ेगा।"

"तुम निश्चिंत होकर तैयारी करो।"

स्वामीजी के निर्देशानुसार कलकत्ता के स्टार थियेटर में भगिनी निवेदिता के भाषण की व्यवस्था हुई। लोगों में निवेदिता का भाषण सुनने की उत्सुकता थी। एक विदेशी महिला भारत के आध्यात्मिक विचारों पर बोले, यह बात लोगों को आश्चर्य में डाल रही थी।

वह दिन भी आ गया, जबकि उनके आश्चर्य का समाधान होता। सभा शुरू हुई। स्वामी विवेकानन्द सभा के सभापति थे और कुमारी मूलर भी वहां उपस्थित थीं।

स्वामीजी ने भगिनी निवेदिता एवं कुमारी मूलर का परिचय श्रोताओं को दिया। भगिनी निवेदिता ने पूर्ण धैर्य के साथ अपने विषय का संश्लेषण व विश्लेषण किया और अन्त में सिद्ध किया कि विश्व को भारत की देन अद्‌भुत है। अध्यात्म में भारत की ऊंचाई का मुकाबला अन्य कोई राष्ट्र नहीं करता। उनका भाषण विद्वतापूर्ण नहीं था, पर सच्चाइयों को व्यक्त करके हृदय स्पर्श करने वाला जरूर था।

निवेदिता के भाषण के पश्चात् लोगों ने स्वामीजी से अनुरोध किया कि वे भी प्रवचन देकर उन्हें लाभान्वित करें। स्वामीजी संक्षिप्त भाषण देते हुए बोले—"....सारा विश्व भारत के अध्यात्म तत्त्व के लिए ऋणी है।....पाश्चात्य सभ्यता का मूल स्रोत यूनानी सभ्यता है। यूनानी सभ्यता का प्रधान भाव अभिव्यक्ति है।....भारतवासी मननशील हैं, परन्तु दुर्भाग्यवश हम इतने मननशील हो जाते हैं कि हममें भाव व्यक्त करने की शक्ति बिलकुल नहीं रह जाती। मतलब यह कि धीरे-धीरे संसार के समक्ष भारतवासियों का भाव प्रकाशित करने की शक्ति अव्यक्त रह गई और उसका यह फल हुआ कि हमारे पास जो कुछ था, उस सबको हम गुप्त रखने की चेष्टा करने लग गए। भाव गुप्त रखने का यह सिलसिला आरम्भ तो हुआ व्यक्ति विशेष की ओर से, पर क्रमशः बढ़ता हुआ, यह अन्त में राष्ट्रीय स्वभाव बन गया; और आज भाव को अभिव्यक्त करने की शक्ति का हममें इतना अभाव हो गया है कि हमारा राष्ट्र एक मरा हुआ राष्ट्र

समझा जाने लगा है। ऐसी अवस्था में अभिव्यक्ति के बिना हमारे राष्ट्र के जीवित रहने की सम्भावना कहां है ?....मेरा कहना है कि आप लोगों में अदम्य उत्साह है। आप लोगों में एक अदम्य चेष्टा जाग्रत कर देना ही मेरा जीवन व्रत है। आप चाहे अद्वैतवादी हों, चाहे विशिष्टाद्वैतवादी हों, अथवा द्वैतवादी ही क्यों न हों, उससे कोई फर्क नहीं पड़ता। लेकिन मैं एक बात की ओर आप लोगों का ध्यान दिलाना चाहूंगा, जिसे कि बहुधा हम विस्मृत कर देते हैं—'हे मानव, तू अपने आप पर विश्वास कर।' केवल इसी एक उपाय से हम ईश्वर के विश्वासपरायण बन सकते हैं। तुम चाहे अद्वैतवादी हो या द्वैतवादी, तुम्हारा विश्वास चाहे योगशास्त्र पर हो या शंकराचार्य पर, चाहे तुम व्यास के अनुयायी हो या विश्वामित्र के, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता।....एक पल के लिए इसे ध्यान में रखो कि जहां अन्यान्य सभी धर्मों और देशों में आत्मा की शक्ति को लोग स्वीकार नहीं करते....वे आत्मा को प्रायः शक्तिहीन, दुर्बल और जड़ वस्तु की तरह समझते हैं, वहां हम लोग भारतवर्ष में आत्मा को अनन्त शक्ति सम्पन्न समझते हैं, और हमारी यही धारणा है कि आत्मा चिरकाल तक पूर्ण रहेगी।....

अपने जीवन के महान व्रत को याद रखो। हम भारतवासी और विशेषतः बंगाली अत्यधिक मात्रा में विदेशी भावों मे आक्रान्त हो गए हैं, यह हमारे राष्ट्रीय धर्म की सम्पूर्ण जीवन शक्ति को चूस रही है।....यदि हम राष्ट्रीय गौरव के उच्च शिखर पर आरोहण करना चाहते हैं, तो हमें इस विदेशी भाव को दूर फेंक देना होगा।....हम यहां पर राजनैतिक अधिकार तथा इसी प्रकार की अन्यान्य बातों के लिए चिल्ला रहे हैं। अच्छी बात है, परन्तु अधिकार और सुभीते केवल मित्रता के द्वारा प्राप्त हो सकते हैं, और मित्रता की आशा वहीं की जा सकती है, जहां दोनों पक्ष समान हों। यदि एक पक्ष जीवन भर भीख मांगता रहे, तो क्या वहां मित्रता स्थापित हो सकती है ? इसलिए मैं कह रहा हूं कि हमें इंग्लैंड व अमेरिका आदि देशों में भिखमंगों की तरह नहीं धर्माचार्य के रूप में जाना चाहिए। हमें अपनी सामर्थ्य के अनुसार विनिमय के नियम का प्रयोग करना चाहिए।....सर्वोपरी यह है कि मानव जाति के कल्याण के लिए कार्य करते रहो। हम एक संकीर्ण घेरे के अन्दर बंधे रहकर अपने को शुद्ध हिन्दू समझने का जो गर्व करते हैं, उसे त्याग दो। मृत्यु सबकी राह देख रही है।....यह जान लो कि कोई आदमी छोटे से बुलबुले के बराबर हो सकता है; और दूसरा व्यक्ति पर्वताकार तरंग के समान बड़ा। लेकिन छोटा-सा बुलबुला हो या पर्वताकार तरंग....दोनों के पीछे अनन्त सागर है। अतएव सबका जीवन आशाप्रद है, सबके लिए मुक्ति का रास्ता है; और सभी जल्दी या देरी से माया

के बंधन से मुक्त होंगे।....अनन्त आशा से ही अनन्त आकांक्षा और चेष्टा की उत्पत्ति होती है। यदि यह विश्वास हमारे अन्दर बैठ जाए, तो देश में कल्याणकारी उदात्त मतवाद निश्चित ही आएगा।....यह कार्य, आप लोगों के द्वारा सम्पादित होगा।.... क्योंकि आप गरीब हैं।....जिनके पास कुछ नहीं है, जो गरीब हैं, वे ही इस कार्य को सम्पन्न करने में सक्षम हैं।....जिनके पास कुछ नहीं है वे ही सच्चे हो सकते हैं, वे ही सब कुछ त्याग करने के लिए तैयार हो सकते हैं।....तुम लोगों का जीवन व्रत यही है; और यही मेरा भी जीवन व्रत है।

स्वामीजी का व्याख्यान ओजस्वी था। उन्होंने श्रोताओं को जोश से भर दिया। कुमारी मूलर व भगिनी निवेदिता का हृदय स्वामीजी की वाणी से और भी दृढ़ होकर मानव सेवा की ओर उन्मुख हुआ। स्वामीजी के इस विश्वास पर चलने का उनका निश्चय दृढ़ हुआ; और इसी विश्वास के प्रचार-प्रसार के लिए वे सन्नद्ध हुईं।

वे लौटकर मठ में आए। स्वामीजी अस्वस्थता का अनुभव कर रहे थे। लेकिन उन्होंने किसी से कहा नहीं। संध्या को निवेदिता ने देखा कि स्वामीजी का मुख कुछ मुरझाया हुआ है। वह चिंतित हुई और उसने पूछा—"आप कुछ अस्वस्थ से दीख रहे हैं ?"

"हां, कुछ थकान का अनुभव हो रहा है।"

"आप अपने स्वास्थ्य पर ध्यान नहीं दे रहे हैं।"

"हां, वत्से कुछ ऐसा ही है।"

भगिनी निवेदिता ने यह सूचना स्वामी ब्रह्मानन्द तक पहुंचाई। अन्य गुरुभाई भी आए। रात भर स्वामीजी का शरीर तेज बुखार में तपता रहा। उन्होंने चिकित्सक लाने से मना कर दिया।

प्रातः उनका बुखार तो उतर गया, पर उसने उनके शरीर को और भी थका डाला था। स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने उन्हें उलाहना दिया।

"नरेन्द्र, तुम अन्यों के स्वास्थ्य का तो इतना ध्यान रखते हो कि किसी की जरा भी अस्वस्थता पर भागे दौड़े जाते हो। तुम्हें चैन नहीं मिलता, जब तक कि वह स्वस्थ न हो जाए। लेकिन अपने स्वास्थ्य के प्रति इतनी लापरवाही क्यों ?"

"राखाल, ऐसा तो नहीं है। हाड़-मांस के इस पुतले में कभी-कभी असंतुलता आ ही जाती है....फिर इतनी आकुलता क्यों ?"

"दूसरों की अस्वस्थता देखकर तुम क्यों तड़फ उठते हो ?"

"वह मेरी प्रकृति है।"

"तो क्या ऐसी प्रकृति अन्यों की नहीं हो सकती ? मुझे लगता है कि तुम्हारी

इस लापरवाही की सूचना श्री मां तक भेजनी होगी। तुम्हें एक सूचना और दे दूं कि पूजनीय श्री मां भुवनेश्वरी का सन्देश प्रायः तुम्हारी कुशलक्षेम पूछने का आता है। तुम नहीं चाहते सो तुम तक उनका सन्देश नहीं पहुंचाता हूं।"

घड़ी भर के लिए स्वामीजी ने 'बिले' के रूप में मां के दर्शन किए; और शीघ्र अपने सन्यासी रूप में आ गए।

"ओह ! राखाल, किस मोह की ओर ले चले थे मुझे।....और देखो श्रीमां से बिलकुल भी मेरी अस्वस्थता का जिक्र न करना। उनकी तपस्या में खलल पड़ेगा। तुम चिकित्सक को बुलाओ....देखें, वह क्या कहता है। फिर से दार्जिलिंग या अल्मोड़ा जाने की राय देगा।"

वही हुआ। चिकित्सक ने कहा—"मैं तो पहले भी कई बार कह चुका हूं कि स्वामीजी को पर्वतीय स्थल पर पूर्ण विश्राम की आवश्यकता है। अति परिश्रम ने इन्हें अस्वस्थ कर डाला है। इन्हें इस ओर ध्यान देने की आवश्यकता है।"

चिकित्सक चला गया। स्वामीजी हंसे और बोले—"यह खाक डॉक्टर है क्या ? अरे ! यह बात तो मैंने पहले ही बता दी थी।"

उसी दिन स्वामीजी के गुरुभाइयों, शिष्यों व भक्तों ने स्वामीजी से दार्जिलिंग प्रस्थान करने का आग्रह किया। विवश होकर उन्हें दार्जिलिंग जाना पड़ा। करीब बीसेक दिन के आराम से उनमें पुनः ऊर्जा का संचरण हुआ। वे अपनी शक्ति को जांचने के लिए पर्वतारोहण के लिए गए। आवश्यकता से अधिक परिश्रम हुआ और उन्हें बुखार हो आया। उनके लिए फिर से आराम जरूरी हो गया। आराम के मध्य उन्होंने स्वाध्याय किया; और कुछ देर बाद कुमारी मैक्लिआड को पत्र लिखा।

दार्जिलिंग

18 अप्रैल, 1898

प्रिय जोजो,

ज्वर से पीड़ित होने के कारण मुझे खटिया की शरण लेनी पड़ी है। इसका कारण सम्भवतः अत्यधिक पर्वतारोहण एवं अस्वास्थ्यकर स्थिति है। पहले की अपेक्षा आज ठीक है, दो-एक दिन के अन्दर यहां से चल देना चाहता हूं। कलकत्ते में गर्मी अधिक होने पर भी वहां रात में मुझे नींद अच्छी आती थी; और भूख भी ठीक लगती थी। यहां इन दोनों बातों से हाथ धोना पड़ा है....इतना ही लाभ हुआ है।

मार्गरेट के बारे में कुमारी मूलर का पत्र लिखने की इच्छा है।....मैं पुनः अल्मोड़ा जाऊंगा या नहीं, इसका कोई निश्चय नहीं है।....तुम्हारी मैं शिमला में प्रतीक्षा करूंगा। इस बीच में तुम सेव्हियर दम्पति के साथ मिलजुल लो। कुमारी नोबल ने

रामकृष्ण मिशन में भाषण दिया था, जानकर मुझे अत्यन्त खुशी हुई। तुम त्रिमूर्तियों को मेरा हार्दिक स्नेह। इति।

सदैव भगवदाश्रित
तुम्हारा
विवेकानन्द

स्वामी विवेकानन्द रोज सोचते थे कि कलकत्ता रवाना हों, पर ज्वर उनका पीछा न छोड़ रहा था। अप्रैल समाप्त होने वाला था। वे चिकित्सक पर झुंझलाए....

"डॉक्टर, इस बुखार ने तंग कर दिया है। यह है क्या बला !"

"महाराज, आप इंफ्लुएंजा से पीड़ित हैं। यह कुछ दिन और चलेगा।"

"डॉक्टर, यह चले या रुके, मुझे इसकी परवाह नहीं। चलने लायक शक्ति आते ही मैं कलकत्ते रवाना हो जाऊंगा। मैं कुर्सियंग में कुछ आराम कर लूंगा।"

"लेकिन वहां तो भयंकर गर्मी होगी।" शिष्य ने चिन्ता प्रकट की।

"तो क्या हुआ ? गर्मी से ही तो इंफ्लुएंजा भागेगा; और वह न भी भागे, कलकत्ता लौटना ही होगा। समाचार आया है कि वहां प्लेग फैल रहा है ?"

"सुना तो मैंने भी है।"

"यदि यह सत्य है तो जिस शहर में मैंने जन्म लिया है, उसकी सेवा के लिए मैंने आत्मोत्सर्ग करने का निश्चय कर लिया है। निर्वाण प्राप्ति का यह श्रेष्ठ उपाय होगा।"

डॉक्टर व स्वामीजी के शिष्यगण कुछ भी बोलने में असमर्थ थे। स्वामीजी के दृढ़ निश्चय के आगे उन्होंने शस्त्र डाल दिए। अगले दिन कलकत्ते में प्लेग फैलने की पुष्टि हो गई। स्वामीजी की मानव सेवा की दृढ़ आस्था ने उनमें शक्ति पैदा की और वे कलकत्ता लौट आए।

कलकत्ता में रोग के कारण अफरातफरी मची हुई थी। प्लेग व्यापक रूप से फैलता जा रहा था। स्वामीजी ने अपने शिष्यों व गुरुभाइयों तथा भक्तों से कहा कि आप लोग जनसाधारण में, प्लेग रोग में सावधानी तथा आवश्यक प्रतिरोधक व्यवस्था कैसे की जाए, इस बात का प्रचार करें। उन्होंने खुद भी इस विषय में उपदेश दिया और हिन्दू तथा बंगला भाषा में प्रचार-पत्र छपवा कर वितरित करवाया। शहर के जिन स्थानों में प्लेग रोग के कारण अधिक हलचल मची हुई थी, वहां वे निवेदिता तथा अन्य गुरुभाइयों के साथ स्वयं सेवा-कार्य करने गए। सेवा कार्य में ने तन्मय थे। उनकी सारी दिनचर्या भंग हो गई....पूजा-अराधना,

उपदेश व प्रवचन, योग-साधना, खाना-पीना-सोना-जागना, सब सेवा कार्य को अर्पित हो गए। उनका कहना था—"इन्हें बचाने के लिए खुद को उत्सर्ग कर दो। सब कुछ भूल जाओ, इस समय हमें इनकी रक्षा करनी है, इनकी सेवा करनी है। लोग भयभीत हैं और भागे जा रहे हैं। सरकार ने अस्त-व्यस्तता रोकने आपातकालीन नियम लागू किए हैं। लेकिन इससे तो जनता और परेशान हो रही है। इनके मनमाने नियमों से नर-नारी आक्रान्त हैं। हमें इनकी विह्वलता को अपनी अभय सेवा मे शान्त करना है।"

श्रीरामकृष्णदेव की सेवाभावी सन्तान कलकत्ते पर आई हुई इस विपत्ति के समय स्वामीजी के साथ थे। वे कोशिश करते थे कि स्वामी विवेकानन्दजी को कम परिश्रम करना पड़े ताकि उनकी अस्वस्थता न बढ़े। लेकिन स्वामीजी को चैन कहां था ? सेवा कार्य अथक किया जा रहा था। धन की भी आवश्यकता पड़ रही थी। स्वामी निर्मलानन्दजी ने इस विषय में स्वामीजी से जिज्ञासा प्रकट की।

"महाराज, इस कार्य की निरन्तरता बनाए रखने के लिए काफी धन की जरूरत है। कहां से धन आएगा और कैसे कार्य आगे चलेगा ?"

"तुलसी, तुम अजीब सवाल कर बैठे। अरे ! आवश्यकता पड़ेगी तो मठ के लिए खरीदी गई जमीन बेच देंगे। हमारी आंखों के सामने हजारों नर-नारी असहनीय पीड़ा भुगतें; और हम मठ में रहें....क्या यह सम्भव है ? हम सन्यासी हैं, आवश्यकता पड़ेगी तो पहले जैसे, फिर वृक्षों के नीचे आश्रय ले लेंगे। भिक्षा द्वारा प्राप्त भिक्षान्न हमारे लिए पर्याप्त होगा।"

स्वामी निर्मलानन्द लज्जित थे। उन्होंने स्वामीजी को नमन किया और बोले—"आपकी ऊंचाई का अनुमान लगा पाना असम्भव है।"

स्वामी विवेकानन्द का कथन निराधार नहीं था, इसके पीछे उनकी अटल आस्था और श्रीरामकृष्णदेव के प्रति अखण्ड श्रद्धा की भावभूमि थी। समाज सेवा के निमित्त उनके पास चारों ओर से धन आने लगा। शहर के बीच में किराए पर जमीन लेकर छोटी-छोटी कुटियाओं का निर्माण किया गया और यहां जो भी आश्रय लेने आया, उसे शरण दी गई। शहर के मुहल्ले-मुहल्ले में जाकर स्वामीजी अपनी देखरेख में सफाई कार्य करवाते और प्रतिरोधक दवाइयों का छिड़काव करवाते। उनके कार्य को देखकर पचासों स्वयं सेवक आकर उन्हें सहायता देने लगे। पूरा कलकत्ता उनका बन चुका था। स्वामीजी के विरोधियों के स्वर भी कृतज्ञता में बदल चुके थे। वे लज्जा के कारण दबे स्वर में कह रहे थे—"यत्र् जीव तत्र् शिव को स्वामीजी ने सिद्ध कर दिया। उन्होंने वेदान्त को अधरों तक सीमित नहीं रखा अपितु व्यावहारिक धरातल

पर प्रमाणित करके दिखा दिया।"

स्वामीजी को इन सब बातों से कुछ लेना-देना नहीं था। वे असहायों को नर व नारायण मानकर उनकी सेवा में तटस्थ भाव से जुटे हुए थे और रुग्ण, आर्त व अनाथों को औषधि, पथ्य व आहार देने में लगे हुए थे।

वे ज्ञान, कर्म व भक्ति के इस तीर्थ के कार्य को सम्पन्न करने में लगे हुए थे। विपत्ति का संहार हो चुका था। प्रेम सलिल में गोता लगाते हुए स्वामीजी अक्लांत लोकहितैषणा बद्ध थे। लेकिन जैसे ही वे इससे मुक्त हुए, वैसे ही पुनः बुखार से पीड़ित हो गए। अपने गुरुभाइयों व भक्तों की चिन्ता की बदलियों को उन्होंने देखा। वे विचारमग्न थे कि निवेदिता, कुमारी मैक्लिआड, श्रीमती बुल व कुमारी मूलर ने आकर हिमालय भ्रमण की इच्छा प्रकट की। स्वामीजी को याद आया, वे बोले—"मैं तो भूल गया। अल्मोड़ा से सेव्हियर दम्पति का निमन्त्रण आया हुआ है। खेतड़ी के महाराजा भी नैनीताल में मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं। ठीक है, हम शीघ्र यहां से प्रस्थान करेंगे।"

उनके गुरुभाइयों को संतोष हुआ कि चलो, इस बहाने से स्वामीजी कुछ आराम करेंगे। अगले दिन उनके साथ स्वामी तुरीयानन्द, स्वामी निरंजनानन्द, स्वामी स्वरूपानन्द व स्वामी मदानन्दजी तथा चारों पाश्चात्य शिष्याओं ने नैनीताल के लिए प्रस्थान किया।

यात्रा आनन्ददायक रही। स्वामीजी वेदान्त चर्चा करते रहते तथा भारतीय इतिहास की पौराणिक कहानियों की व्याख्या करते। कुमारी निवेदिता भारतीय दर्शन व संस्कारों के विषय में विविध सवालों को उठाती व उनका समाधान पाती।

नैनीताल में स्वामीजी का महाराज अजीतसिंह ने स्वागत किया। ये सभी लोग जब धार्मिक चर्चा के लिए बैठते तो लगता कि मानो ऋषि लोग आध्यात्मिक रस में डूबे हुए हों। कुमारी मैक्लिआड और कुमारी मूलर नैनीताल की झीलों में नाव चलाने तथा दूर-दूर तक घूमने का आनन्द लेती थीं। लेकिन कुमारी निवेदिता; और श्रीमती बुल गुरुभाइयों के साथ स्वामीजी के संगत में रहना पसन्द करतीं।

स्वामीजी जहां रुके थे, वहीं एक दिन रुकने के लिए एक सज्जन आए। स्वामीजी उन्हें पहली दृष्टि में ही पहचान गए। वे स्वामीजी के बचपन के मित्र योगेशचन्द्र दत्त थे। स्वामीजी उन्हें देखकर उमंग से भर उठे और दोनों मित्र गले लग गए।

"कैसे हो योगेश ?" स्वामीजी ने पूछा।

"तुम कैसे हो ?" योगेश ने भी वही सवाल किया।

"अपने निर्धारित कार्य पर लगा हुआ हूं। तुम क्या कर रहे हो ?"

"नौकरी करता हूं और शेष समय में कुछ समाज सेवा।"

"यह जानकर खुशी हुई। किस प्रकार की समाज सेवा करते हो ?"

"मैं ऐसे भारतीय नवयुवकों की मदद करने के लिए चन्दा एकत्रित करता हूं, जो प्रखर हों और सिविल सर्विस की परीक्षा में निकलने की क्षमता रखते हों। तुम जानते हो, इंग्लैंड जाना और वहां रह पाना कितना खर्चीला है।"

"लेकिन इससे लाभ क्या होगा ?"

"वे हमारी कृतज्ञता का ऋण मातृभूमि के कल्याण व उत्थान के लिए कार्य करके चुकायेंगे।"

"ऐसे कुछ कृतज्ञ नवयुवक भारत लौटे तो होंगे ?"

"निश्चित लौटे हैं....और आज ऊंचे पदों पर कार्यरत हैं।"

"वे मातृभूमि; और असहाय भारतीयों की क्या सेवा कर रहे हैं ?"

योगेश सोचते रहे, कोई उत्तर न बन पाया। स्वामीजी ने समझाया—"तुम बड़ी भारी भूल कर रहे हो। ये सब युवक स्वदेश में लौटकर केवल यूरोपियनों के समाज में शामिल होने की चेष्टा करेंगे। यह तुम निश्चित जान लो। ये पग-पग पर साहबों के खान-पान, आचार-व्यवहार की नकल करेंगे....स्वदेश व स्वजाति के आदर्शों की बातें भूलकर भी न सोचेंगे। वे दीन-दुःखियों व भूख से विकल भारतीयों का ध्यान क्यों करने लगे ?"

योगेश बाबू के साथ उनके मित्र ब्रह्मानन्द सिंह भी थे। ब्रह्मानन्द सिंह रामपुर स्टेट के कॉलेज में प्राध्यापक थे। वे विवेकानन्दजी की बातें सुनकर बोल पड़े—"महाराज, आपका एक-एक शब्द सत्य है। मुझे आश्चर्य है कि आप तो वीतरागी हैं, सन्यासी हैं, पर फिर भी पूरा देश आपके हृदय में व्याप्त है।"

"मित्र, सच्चा सन्यास यही है।"

योगेशचन्द्र ने अपने मित्र का परिचय स्वामीजी से करवाया और बोले—"यह भी तुम्हारे विचारों का है।"

"मैं चाहता हूं कि हर भारतीय मेरे विचारों का हो। हमें केवल भारत ही नहीं, बल्कि पूरे विश्व की भलाई की सोचनी चाहिए।"

भारत और भारतीयों के विषय में योगेश व उनके मित्र ने स्वामी से लम्बी चर्चा का आनन्द उठाया और फिर विदा लेकर चले गए।

स्वामीजी की पाश्चात्य शिष्याओं ने नैनीताल छान लिया था, सो वे सब महाराज अजीतसिंहजी से विदा लेकर अल्मोड़ा रवाना हुए।

कैप्टन सेव्हियर ने उनका स्वागत किया। स्वामीजी ने अपने गुरुभाइयों व अनुयायियों सहित सेव्हियर के बंगले में डेरा डाल दिया। स्वामीजी प्रातःकाल एक-आध गुरुभाइयों को लेकर भ्रमण के लिए निकल जाते और फिर आकर भारतीय आदर्शों व वेदों पर अन्य लोगों के साथ बातें करते। उन लोगों की व्याख्याएं सुनते; और सर्वसम्मत प्रमाण सहित अपनी व्याख्याएं बताते। जब कभी कुमारी निवेदिता को किसी व्याख्या से तसल्ली न होती तो वह अपने तरीके से प्रश्न पूछती।

काफी दिनों से उसके मन में एक सवाल घूम रहा था। उसी परिप्रेक्ष्य में आज जब चर्चा चली तो उसने पूछ लिया—"महाराज, क्या भारत का अधःपतन हो चुका है ?"

"कौन कहता है ? यह कैसी धारणा है ? भारत तो एक गौरवमय विकास के लिए तैयार होकर अपने निर्दिष्ट पथ पर आगे बढ़ रहा है। यह नवयुग है। इसके प्रारम्भ में स्वदेश सेवा के लिए अग्रसर होने के लिए अडिग विश्वास की जरूरत है। यदि सेवाव्रती व्यक्ति गम्भीर प्रेम व नित जागृत रहनेवाली सहानुभूति से युक्त न होगा, तो उसे इस दिशा का रुख न करना चाहिए। तुम्हें भारतीय भावधारा में बहना है तो इस प्रकार की मूर्खतापूर्ण सोच से दूर रहना होगा।"

निवेदिता का मन अकुला गया। वह समझ न पा रही थी कि प्रश्न में क्या असंगति थी। स्वामीजी ने अभी भी उसके प्रश्न का सिरा पकड़ रखा था।

"निवेदिता, तुम्हें अपनी चिरपोषित रीति-नीति व अपने आदर्शों को श्रेष्ठ मानने के दम्भ का त्याग करना होगा, तभी दरिद्र नारायण को गले लगा पाओगी।"

निवेदिता सोच रही थी कि वह अपना सब कुछ त्याग कर इसी निमित्त तो भारत आई थी। लेकिन उसके भी तो अपने विचार हैं, अपनी सोच है, क्या वह स्वतंत्र नहीं है ? क्या जरूरी है कि हर बात पर वह गुरुदेव से एकमत ही हो ?"

उसे शान्त हुआ देखकर स्वामीजी ने आज्ञा दी—"जाओ, बाहर घूमकर आओ। गरीब और बीमार लोगों के बीच बैठो और उनके मानस को टटोलो। तुम्हें पता लगेगा कि वे प्रकृति के धनी है और आदर्श के उच्च। उनके बाह्य रूप पर मत जाओ। वे बाह्य रूप से जितने पतित हैं, अन्तर से उतने ही श्रेष्ठ हैं। अपनी सोच को उनकी इसी विशेषता पर केन्द्रित करो।"

निवेदिता ने गुरुदेव की आज्ञा का पालन किया। वह अकेली, दूर निकल गई। काफी दूर आने पर, एक विशाल पत्थर पर बैठकर सोचने लगी।

"मैं जब से भारत आई हूं। नित मेरी पाली हुई धारणाओं पर प्रहार हो रहा है, उनका तिरस्कार हो रहा है। मेरी भावनाओं और विचारों को समझा नहीं जाता। मैं अपने पर लगी 'युरोपियन' की मोहर को साफ करना चाहती हूं....भारतीय काया

में प्रवेश करना है न ! मैं कितने मानसिक द्वन्द्व से गुजर रही हूं ? कोई नहीं जानता। नोबल से निवेदिता बनने की प्रक्रिया क्या इतनी सरल है ? क्या में एकदम से सौ प्रतिशत निवेदिता बन जाऊंगी ?"

उसके नेत्र भर आए और गात थरथर कांपने लगा। अश्रु बहाने से मन की ऊहापोह समाप्त हुई। वह उठी, और निकट के ग्राम में पहुंची। यहां वह पहले भी कई बार आ चुकी थी। वह गांव के स्त्री-पुरुषों को समझाती और उन्हें शिक्षा एवं स्वास्थ्य की ओर प्रेरित करती। ग्रामीणवासियों ने पहले तो उसकी बातों को हल्के रूप में लिया, किन्तु जब उन्होंने उस संस्था और व्यक्ति विशेष पर दृष्टि डाली, जिसके द्वारा निवेदिता का संरक्षण मिला था, तो वे भी उस मार्ग के राही बनने के लिए उत्सुक हो गए।

संध्या को वह वापस लौटी। इस समय उसके विचारों का प्रवाह अन्य दिशा की ओर हो रहा था।....'सम्भवतः गुरुदेव के विचार यह हैं कि मैं जो सवाल करूं, उसे पहले व्यावहारिक रूप से तोल लूं। भारत के कुछ शहरों में यदि मानव अधः पतन की ओर जाता नजर आ रहा हो, तो इसे सिद्धान्ततः पूरे भारत पर तो लागू नहीं किया जा सकता। मैंने अभी भारत का एक अंश भी तो नहीं देखा है। दूसरी बात यह है कि मैंने अपने मन में आचार्य की जो तस्वीर बनाई हुई थी, वह स्वप्न लोक की थी। लेकिन वास्तविक धरातल पर आकर देखें, तो वे उदासीन विरक्त और सन्यासी हैं....मैं उनकी शिष्या हूं....उनके उदार भावों से मेरा भविष्य कैसे संवर सकता है ? उनके और मेरे भावों में विरोध होना जरूरी है।'

इधर स्वामीजी, स्वरूपानन्द और स्वामी तुरीयानन्दजी (हरि) से विचार प्रकट कर रहे थे।

"हरि, मुझे निवेदिता से कुछ कठोर व्यवहार करना पड़ रहा है। वह अपनी भावभूमि से ऊपर नहीं उठ पा रही है।"

"लेकिन नरेन्द्र, मैं अनुभव कर रहा हूं कि उसका अंग्रेज मन अपनी रुचि की विशेषता को एक ओर करने की कोशिश में लगा हुआ है। लेकिन भारतीय भाव, साधना और आदर्श को हृदयंगम करना क्या इतना सरल है ?" स्वामी तुरीयानन्दजी बोले।

"हरि, वह भारतीय आदर्श व दर्शन को अंग्रेज दृष्टि से आंकती है। यही उसकी सबसे बड़ी रुकावट है, भारतीय भावभूमि पर आने में।"

"नरेन्द्र, क्या वह अपने को सम्पूर्ण रूप से तोड़कर, एक नई भावभूमि के अनुसार अपने को गढ़ सकती है ?" स्वामी तुरीयानन्द के इस सवाल पर स्वामी

विवेकानन्दजी मनन करने लगे। वे बुदबुदाए—"तो मुझे भी आगे बढ़कर अपनी मानस पुत्री की मदद करनी पड़ेगी, जैसे कि श्रीरामकृष्णदेव ने मुझे सहारा देकर वास्तविक भारतीय भावभूमि की सीढ़ी पर खड़ा किया था।"

"नरेन्द्र, उसमें प्रबल शक्ति है। मातृ-शक्ति स्वरूपा यह देवी वंदनीय है। तुम्हें उसके योद्धापन को निखारना है; और मन को पराजित कर लेने की शक्ति से उसे परिपूर्ण करना होगा। मैंने उसमें सबसे बड़ा जो गुण देखा है, वह है—अपने को सम्पूर्ण रूप से अर्पण करने की शक्ति। वह इस समय मानसिक झंझावात से घिरी हुई है। एक ओर उसका शरीर, उसका बचपन का यूरोपीय अभ्यास, उसके आत्मीय स्वजनों की ममता और दूसरी ओर भारतीय समाज द्वारा उसकी उपेक्षा। भारतीय समाज इतनी सरलता से उसकी त्याग भावना व समर्पणता को गले नहीं लगाएगा। इससे भी बड़ी विडम्बना यह है कि भारत का यूरोपियन वर्ग उसे उपहासात्मक भाव से देख रहा है। फिर भी मुझे विश्वास है कि वह मानव मात्र के चिद्‌रूप को पा लेगी और अपने स्थूल आवरण को छिन्न-भिन्न कर डालेगी। वह मनुष्य के अपराजित महात्मय को प्रत्यक्ष कर लेगी।"

"हरि, तुम ठीक कहते हो। मैं निवेदिता को उसके जन्मगत व जातिगत संस्कार से मुक्त करूंगा ताकि वह अपने संकल्प के अनुसार नव-जीवन प्रारम्भ कर सके। स्वामीजी ने निवेदिता का मस्तक छूकर उसे जनहित में भाव संचरित कर दिया। वह विगत भूल गई।"

स्वामी विवेकानन्दजी की दिनचर्या में बदलाव आया। वे बारह-चौदह घंटे घोर अरण्य में व्यतीत करते। उनका मन उकता रहा था। उन्होंने उदासीनता ग्रहण की और सबको त्याग कर गहन अरण्य में खो गए। उनके तीव्र तपोभाव और जगत के प्रति प्रबल वितृष्णा भाव ने एकाएक करवट ले ली थी।

पूरा सप्ताह बीत गया। सभी चिंतित हो गए। लेकिन सभी को विश्वास था कि स्वामीजी कर्मक्षेत्र को नहीं त्याग सकते। वे तो कर्मक्षेत्र के योद्धा के रूप में मुक्ति पाना चाहते हैं।

इन लोगों का विश्वास गलत नहीं था। एक सप्ताह की साधना के बाद स्वामीजी शिष्यों व गुरुभाइयों के पास लौट आए। संध्या को स्वामी तुरीयानन्दजी ने संवाद के मध्य उन्हें दो दुःखान्त सुचनाएं दीं।

"गाजीपुर के पवहारी बाबा ने खुद को आहुति के रूप में अग्नि को अर्पित कर दिया तथा ऊटकमंड में गुडविन ने प्राण त्याग दिए हैं।"

"गुडविन इतनी शीघ्रता से वापस चला गया ?" स्वामीजी ध्यान में मग्न

बुदबुदाए।

"उन्हें तीव्र बुखार आया था।" स्वामी तुरीयानन्दजी बोले।

स्वामीजी ने मन को विदीर्ण कर देने वाली दोनों सूचनाएं चुपचाप सुनीं और कोई मतामत व्यक्त न किया। कीर्तन का समय हो गया था। वे सबके साथ भक्ति भाव से कीर्तन करने लगे। कीर्तन के बाद गुरुभाइयों के सिवाय सभी चले गए। स्वामीजी गुरुभाइयों से बोले—"प्राणाधिक प्रिय शिष्य गुडविन की मृत्यु से मैं दुःखी नहीं हूं। उसे मुक्ति मिली। लेकिन दुःख इस बात का है कि भारत माता ने अपना एक निष्ठावान पुत्र को खो दिया है। वह मां की सेवा में तन-मन से लगा हुआ था।"

गुडविन को शोकाजंलि अर्पित करके वे मौन हो गए। श्रीरामकृष्णदेव का ध्यान करने के बाद उन्होंने नेत्र खोले और दृढ़ता से बोले—"हमें आगे बढ़ना है। हरि, तुम अल्मोड़ा से 'प्रबुद्ध भारत' पत्रिका निकालो। इस कार्य में कैप्टन सेव्हियर तुम्हारी मदद करेंगे। तुम दोनों सुयोग्य हो।"

"मैं इस काम के लिए तैयार हूं।"

"मैं कश्मीर जा रहा हूं। शेष लोग कुछ दिनों के लिए अल्मोड़ा को कार्यस्थली बना लो।"

स्वामीजी का निर्णय सुनकर श्रीमती बुल बोलीं—"हमारा भी आपके साथ चलने का विचार है।"

स्वामीजी ने अपनी सहमति प्रकट की और प्रस्थान करके रावलपिंडी पहुंचे। रावलपिंडी, मरी और झेलम की मनोरमता को देखते हुए वे बारामुला आ पहुंचे। यात्रा के दौरान वे शिष्याओं को कश्मीर के इतिहास की झलकियां सुनाते और कभी-कभी अपनी पूर्व यात्रा के वृतान्त कहते।

श्रीनगर में आने के बाद उनका एक बार फिर भावान्तर हुआ। वे चुपचाप नौका लेकर निकल जाते। निर्जनता उन्हें खींचती थी। इस खिंचाव के बावजूद भी वे साथ वालों का ध्यान रख रहे थे। चार जुलाइ को अमेरिका का स्वतंत्रता दिवस था। स्वामीजी ने अकेले ही एक नाव को पत्ते, फूल व तरह-तरह के पल्लवों से सजाया और अपनी अमेरिकन शिष्याओं को आमंत्रित किया। निवेदिता को प्रातः भोजन की जिम्मेदारी सौंपी गई थी। नाव पर अमेरिकन झंडा फहराया गया और स्वामीजी ने अपना रचित गीत—**'चौथी जुलाई के प्रति'** सुनाया।....'काले बादल कट गये आकाश से....बेड़ियां उनकी कटी।' सभा छोटी सी थी, पर विश्व संवेदना से परिपूर्ण थी....स्वतंत्रता के प्रति प्रेम व्यक्त करने वाली थी।'

'हमारी संवेदना पूरे विश्व के पददलितों के साथ होनी चाहिए।' स्वामीजी ने

अपने संक्षिप्त विचार शिष्याओं के सम्मुख रखे; और सभा समाप्त हुई। कुछेक दिन बाद उन्होंने अमरनाथ की यात्रा करने का विचार किया। वे चुपचाप अकेले निकल गए, किन्तु गर्मी के कारण बर्फ ने पिघलकर मार्ग बंद कर दिया था सो वे वापस लौट आए।

उनकी शिष्याओं ने दर्शनीय स्थानों का अवलोकन कर लिया था, सो वे अब इस्लामाबाद आए। इस्लामाबाद के निकटवर्ती प्राचीन देव मन्दिरों व अवन्तीपुर के खण्डहरों को देखते हुए वे अच्छावल आ पहुंचे। यहां दो दिन विश्राम हुआ। झेलम के तट पर बैठकर स्वामीजी ने शिष्याओं के सम्मुख हिन्दू, ईसाई व मुसलमान धर्मों के प्राचीन तत्त्वों का विश्लेषण किया और प्रत्येक धर्म में त्याग व वैराग्य की महिमा अनुप्राणित की।

स्वामीजी की आंखों के आगे रह-रहकर अमरनाथ का चित्र प्रस्तुत होता था। उन्होंने एक बार फिर से अमरनाथ के दर्शन के प्रयास करने की सोची। कुमारी निवेदिता ने गुरुदेव के साथ चलने की अनुज्ञा मांगी। उनकी शेष शिष्याएं पहलगाम की यात्रा पर गई हुई थीं। स्वामीजी असमंजस में थे कि क्या पुत्री निवेदिता इस कठिन यात्रा को पूरी कर पाएगी ?

निवेदिता उनकी द्विविधा ताड़ गई और बोली—"गुरु कृपा से क्या नहीं हो सकता ? आपने यही सीख दी है—गुरुदेव।"

स्वामीजी ने उसे साथ चलने की आज्ञा दी; और इस्लामाबाद आकर यात्रा के लिए आवश्यक सामग्री खरीदी तथा यात्रियों के जत्थे के साथ शामिल हो गए। मार्ग में काफी कठिनाइयां आईं। सन्यासियों ने उन्हें अलग से तम्बू गाड़ने के लिए कहा। लेकिन स्वामीजी ने साधुओं की इस असंगत बात का प्रतिवाद किया। इस विषय में बहस हुई, किन्तु आखिरकार साधु-सन्यासियों को स्वीकार करना पड़ा कि स्वामीजी के विचार ठीक हैं।

संध्या के समय उचित स्थान पर धूनि रमाई गई। स्वामीजी सैकड़ों साधु-सन्यासियों से घिरे हुए द्युतिमान नक्षत्र से लग रहे थे। अध्यात्म पर चर्चा हुई। स्वामीजी की विद्वता और उनकी अध्यात्म शक्ति का लोहा सभी ने स्वीकार किया। स्वामीजी ने कुछ अस्वस्थ होने पर भी यात्रा के दौरान साधुओं की तरह नियम और समस्त विधि-विधान का पालन किया। यात्रा के दौरान वे एक समय साधारण भोजन लेते थे।

धीरे-धीरे यात्रियों का काफिला समतल से अठारह हजार फीट ऊपर पंचतरणी में पहुंचा। पंचतरणी पांच गिरी-झरनों का मिलन स्थल था। बर्फ से ढके हुए हिमशैलों

के सोतों से आता निर्झर जल अति ठंडा था। विधि के अनुसार प्रत्येक यात्री को गीले वस्त्रों में ही एक के बाद एक झरने में नहाना पड़ता था। स्वामीजी ने इस नियम का भी पालन किया। यहां स्नान के बाद कुछ विश्राम हुआ, और फिर चांदनी में आगे की यात्रा तय होनी शुरू हुई।

"देखो, वत्से....हिमालय का अपूर्व सौन्दर्य देखो। कैसी भव्यता से इसकी शृंखलाएं श्वेत चादर में लिपटी हमारा स्वागत कर रही हैं ? इसके पश्चात् एक छोटी घाटी आई; और फिर हुई शुरू कठिन चढ़ाई।

प्रातः सूर्योदय के साथ ही चढ़ाई समाप्त हुई। सामने अमरनाथ की पवित्र गुफा दृष्टिपात हो रही थी। यात्रियों के कंठों से 'जय महादेव' का उद्घोष हुआ। वे शीघ्रता से आगे बढ़कर विगलित तुषारधारा में स्नान करने लगे। स्वामीजी ने भी स्नान किया और नागा सन्यासियों से भस्म लेकर अपने शरीर पर लगा ली। कौपीनधारी स्वामीजी ने निवेदिता को अपने पीछे आने का इशारा किया। स्वामीजी ने निवेदिता को कुछ समझाया; और स्वयं अपनी चिर आकांक्षित गुफा में प्रवेश किया। उन्हें मानो कारूं का खजाना मिल गया। वे चिर-तुषार गठित भगवान महादेव के अनादि शिवलिंग के सम्मुख क्षण भर को खड़े हुए; और फिर रजत शुभ्र क्रान्ति महादेव के प्रतीक के सम्मुख भक्ति-भाव से लोट गए; और फिर कुछ देर के लिए ध्यानावस्थित होकर भोले शंकर के प्रतीक के सम्मुख बैठे; और फिर गुफा से बाहर आ गए।

वे जैसे ही बाहर आए, भगिनी निवेदिता ने गुफा में प्रवेश किया। उसने भी पूर्ण श्रद्धा भाव से शिवजी को अपने भक्ति सुमन अर्पित किए और बाहर आ गईं।

यात्रा सम्पन्न हुई और वे पहलगांव लौट आए। यहां अन्य शिष्याओं ने उनका स्वागत किया। स्वामीजी अमरनाथ की क्लिष्ट यात्रा व कष्टसाध्य अनुष्ठानों को सिद्ध करने से बहुत थक गए थे। यह थकान उनके चेहरे से साफ झलक रही थी। उनकी बांयी आंख में खून का थक्का जम गया था। लेकिन वे तो शिव की धूनि रमाए, अपने मन और प्राणों को उन्हीं में बसाए हुए थे।

अपनी शिष्याओं सहित वे श्रीनगर पहुंचे। यहां वे लगभग डेढ़ महीने अन्तर्मुखी होकर रहे। कश्मीर दरबार के उच्च अधिकारी व अन्य भक्तगण, जब भी अवसर मिलता, स्वामीजी के सद्वचनों का श्रवण करते। कश्मीर के राजा साहब तो स्वामीजी से प्रभावित थे ही। राजा साहब ने स्वामीजी से अनुरोध किया कि वे स्थायी रूप से यहां निवास करें। स्वामीजी तत्काल बोले—"इसके लिए जमीन व छोटे से मठ की जरूरत पड़ेगी।"

"जमीन आप देख लें, मुझे बताएं....मैं व्यवस्था कर दूंगा।"

बात समाप्त हुई। स्वामीजी ने इसे श्रीरामकृष्णदेव की अनुकम्पा माना; और उपयुक्त जमीन तलाशने लगे। उन्होंने झेलम के तट पर जमीन पसन्द की। लेकिन अंग्रेज रेजिडेंट के विरोध के कारण सरकार ने उन्हें वह जमीन देने से इन्कार कर दिया। इसी दौरान न्यायाधीश मुखर्जी ने अपने पारिवारिक चिकित्सक से स्वामीजी की आंख दिखलाई। उसने उनकी आंख पर जमे रक्त के थक्के को दवाइयों के द्वारा काटने की कोशिश की, पर उसे सफलता नहीं मिली। स्वामीजी के स्वास्थ्य के विषय में इस चिकित्सक का भी यही कहना था कि अथक परिश्रम ने उनके शरीर को क्षत कर डाला है। कुमारी निवेदिता एवं उनकी अन्य शिष्याओं ने चिन्ता व्यक्त की। लेकिन स्वामीजी का कहना था—"चिकित्सक को अपना काम करना है; और मुझे अपना।"

श्रीमती बुल को स्वामीजी का उत्तर ठीक नहीं लगा। वे बोलीं—"लेकिन अपना काम तभी होगा न, जब स्वास्थ्य ठीक रहेगा।"

"मातेश्वरी, आपका कहना ठीक है और इसीलिए मैं पूर्ण विश्राम कर रहा हूं।"

"मैं तो कल कुमारी मैक्लिआड के साथ कलकत्ते निकल जाऊंगी; और वहां से शीघ्र अमेरिका लौटना है। क्या आप कार्य के साथ-साथ विश्राम की दिनचर्या निभाएंगे ?"

"यथाशक्ति पालन करूंगा। यह वचन मैंने मां सेव्हियर को भी दिया है।"

"लेकिन, वह संकल्पबद्ध नहीं है।" श्रीमती बुल बोलीं।

स्वामीजी मुस्कराए। "मां, मुझे बांधना चाहती हो ?"

"सम्भव होता, तो ऐसा ही करती।"

स्वामीजी बच्चे सदृश हंसे। उनके सम्मुख मां भुवनेश्वरी निखर-हरख रही थी।

स्वामीजी ने कश्मीर से विदा ली; और लाहौर पहुंचे। श्रीमती बुल का विचार था कि एक बार स्वामीजी के सभी गुरुभाइयों से मिलें, पर यह सम्भव नहीं था। वे सब भारत के कोने-कोने में श्रीरामकृष्णदेव के कार्य निमित्त बिखरे हुए थे, सो वे कलकत्ते आकर अमेरिका जाने की तैयारी में लग गईं। उनकी इच्छा थी कि स्वामीजी उनके साथ एक बार फिर से अमेरिका चलें। उस समय स्वामीजी ने इस विषय में अपनी कोई जिज्ञासा प्रकट नहीं की।

लाहौर में अल्मोड़ा से लौटे स्वामी सदानन्द इन लोगों से आ मिले। कश्मीर में रहकर स्वामीजी ने भरपूर विश्राम किया था, किन्तु उनका स्वास्थ्य पूर्ववत रहा। वे इस समय वैद्यनाथ धाम, देवघर में निवास कर रहे थे। निवेदिता अल्मोड़ा चली

गई थीं। यहां से उन्होंने श्रीमती बुल के अमेरिका साथ चलने के आग्रह का उत्तर लिखा।

वैद्यनाथ, देवघर
29-12-1898

प्रिय धीरामाता,

यह आपको पहले ही विदित हो गया कि मैं आपका साथी नहीं हो सकूंगा। आपके साथ जाने लायक शारीरिक शक्ति मैं संचय नहीं कर पा रहा हूं। छाती में सर्दी जम चुकी है, वह अभी तक विद्यमान है। इसका फल यह हुआ कि इसने मुझे भ्रमण के लायक नहीं रखा है। सच बात यह है कि यहां पर क्रमशः मैं आरोग्य प्राप्त कर लूंगा, ऐसी मुझे आशा है।

मुझे पता चला है कि मेरी बहन विगत कुछ वर्षों से किसी विशेष संकल्प को लेकर अपनी मानसिक उन्नति के लिए प्रयत्नशील है। बंगला साहित्य के द्वारा जितना जाना जा सकता है—खासकर अध्यात्मवाद के विषय में....उसने उसको अधिगत कर लिया है; और उसका परिणाम भी विशेष कम नहीं है। इस बीच में उसने अपना नाम अंग्रेजी रोमन में लिखना सीख लिया है। इस समय उसे विशेष शिक्षा प्रदान करना मानसिक परिश्रम सापेक्ष है; अतः उस कार्य से मैं विरत हूं। कोई कार्य किए विना मैं समय बिताना चाहता हूं एवं बलपूर्वक विश्राम ले रहा हूं।

अब तक मैंने आप पर केवल श्रद्धा ही की है। लेकिन वर्तमान घटनाओं से ऐसा प्रतीत हो रहा है कि महामाया ने आपको मेरी दैनिक दिनचर्या पर दृष्टि रखने के लिए नियुक्त किया है; किन्तु श्रद्धा के साथ ही प्रगाढ़ विश्वास भी हो गया है। इसके आगे मैं अपनी जीवन तथा कार्यप्रणाली के बारे में यह सोचूंगा कि आपको मां की आज्ञा मिल चुकी है; अतः अपना सारा उत्तरदायित्व अपने कंधे से हटाकर आपके द्वारा महामाया जो निर्देश देंगी, उसे ही मानता रहूंगा।

यूरोप तथा अमेरिका में शीघ्र ही मैं आपसे मिल सकूंगा, ऐसी आशा लेकर इस पत्र को यहीं समाप्त कर रहा हूं। इति।

आपकी स्नेहास्पद सन्तान
विवेकानन्द

स्वामीजी क्या; जो भी उनके दर्शन करता, उसे अनुभव होता था कि मानो एकाएक उनकी आयु बढ़ गई हो। इसका कारण था—उनका दो वर्ष से शारीरिक कष्ट सहना। लेकिन इससे उनकी आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। वह तो

आत्म विस्मृत होकर भाव विभोरता में एकाग्रता व व्याकुलता महसूस कर रहा था। स्वामीजी इसी एकाग्रता में कलकत्ते लौट आए। वे जब कलकत्ते पहुंचे तो श्रीमती बुल वापस अमेरिका प्रस्थान कर चुकी थीं।

बेलूड़ मठ में स्वामीजी को अपने बीच पाकर सभी प्रसन्न थे। लेकिन जब शिष्यों व गुरुभाइयों ने स्वामीजी का पीला मुख देखा तो उनका माथ ठनका। स्वामी सदानन्द बोले—"मेरे निषेध के बावजूद भी ये अस्वस्थता में ही निरन्तर यात्रा करते रहे।"

"नरेन्द्र, तुम इतने लोगों के स्नेह का अनादर कर रहे हो।" स्वामी ब्रह्मानन्द बोले।

"नहीं, राखाल। ऐसा आरोप न लगाओ।" थके स्वर में स्वामीजी बोले।

स्वामी ब्रह्मानन्द ने सदानन्दजी से कहा—"तुम शीघ्र जाकर डॉक्टर दत्त को बुला लाओ।"

प्रसिद्ध चिकित्सक आर०एल० दत्त तुरन्त स्वामीजी के पास आए। उन्होंने स्वामीजी का परीक्षण किया....स्वामीजी की आंख में जमा हुआ रक्त का थक्का देखा और ब्रह्मानन्दजी से बोले—"मैं फिर कह रहा हूं कि स्वामीजी अपने शरीर के प्रति लापरवाही बरत रहे हैं। इन्हें विशेष रूप से सतर्क रहना चाहिए और क्षमता के अनुसार कार्य करना चाहिए।"

दत्त साहब ने दवाइयां लिखीं; और चले गए।

स्वामीजी निर्विकार थे। स्वामी ब्रह्मानन्द बोले—"नरेन्द्र, मुझे आशा है कि तुम डॉक्टर के सुझाव पर ध्यान दोगे।"

"राखाल, मां की जो इच्छा होगी, वही होगा।"

"लेकिन शरीर का ध्यान तो आपको रखना ही होगा।" स्वामी त्रिगुणातीतानन्दजी बोले।

"शारदा, मुझे हुआ क्या है ? तुम लोग अनावश्यक चिन्ता कर रहे हो। अमरनाथ; और क्षीरभवानी में कठोर तपस्या करने के कारण कुछ थकान है बस। मुझे कुछ दिन एकान्तवास करने दो।"

भावविद्ध स्वामीजी को गुरुभाइयों ने एकान्त दिया। लेकिन उनकी देखरेख में सभी सन्नद्ध थे। बेलूड़ में अभी भी असुविधाएं थीं, सो गुरुभाई स्वामीजी को बाग बाजार ले आए। बलरामजी के मकान में सभी सुविधाएं थीं।

धीरे-धीरे स्वामीजी उच्चतम भाव लोक से लौटने लगे। स्वामी तुरीयानन्दजी भगिनी निवेदिता के साथ अल्मोड़ा से लौट आए थे। उन्हें देखते ही विवेकानन्द बोले—'मेरी अस्वस्थता का समाचार सुना और भाग आए। हरि, तुम भी इतने

कमजोर दिल के हो ?"

स्वामी तुरीयानन्दजी मौन रहे। स्वामीजी पुनः बोले—"वत्से, तुम श्रीमाताजी के निकट रहो; और स्त्री शिक्षा के कार्य के निमित्त अपने को उत्सर्ग कर दो। इन लोगों के साथ रहकर मेरे प्रति मोह में जकड़ी रहोगी, बस !"

"आपकी जैसी आज्ञा हो।"

भगिनी निवेदिता श्रीमाताजी के निवास स्थान पर बिना किसी द्विविधा के रहने लगी। वहां की अन्य स्त्री-भक्तों ने स्नेह से निवेदिता को गले लगाया। निवेदिता ने श्री मां से परामर्श करके उनके आशीर्वाद से बाग बाजार में एक बालिका विद्यालय स्थापित करने का निश्चय किया।

निवेदिता ने शीघ्र अपनी कल्पना को साकार रूप दिया। स्वामीजी उसके इस कार्य से प्रसन्न हुए। उनकी सेहत में जरा-सा बदलाव आया कि मठ पुनः शास्त्रचर्चा का केन्द्र बन गया। दर्शनार्थी और भक्त पुनः जुटने लगे।

मठ शुभ मुहुर्त्त पर बेलूड़ में स्थानान्तरित कर दिया गया था। स्वामीजी स्वयं मठ के कार्य पर दृष्टि रखे हुए थे। स्वामी तुरीयानन्दजी मठ के संचालन कार्य को व्यवस्थित ढंग से चला रहे थे। सन्यासी व ब्रह्मचारियों के लिए प्रश्नोत्तर सभा, प्राच्य व पाश्चात्य दर्शनशास्त्रों पर तुलनात्मक चर्चा, संस्कृत भाषा की शिक्षा, योगाभ्यास, साधना व तप आदि विषयों को मठ में सुन्दर ढंग से चलाया जा रहा था।

स्वामीजी ने गुरुभाइयों की सभा बुलाई और उपदेश दिया—"पूरे भारत में बिखर जाओ और श्रीरामकृष्णदेव की वाणी का प्रचार करो। ढाका की ओर भी एक' व्यक्ति निकल जाओ।" स्वामीजी का प्रबल उद्‌घोष स्वामी सुनकर विरजानन्द बोल े—"स्वामीजी, मैं कुछ भी नहीं जानता। लोगों से क्या कहूंगा ?"

"लोगों मे जाकर यही कहो कि तुम कुछ नहीं जानते।"

स्वामी विरजानन्द ने चुप होने में ही अपना भला समझा। स्वामीजी ने पुनः कहा—"मैं इस बात को कई बार दोहरा चुका हूं कि अपनी मुक्ति प्राप्ति की आकांक्षा को जड़मूल से नष्ट कर दो। अरे ! यदि पड़ोसी मूर्खा न हुआ तो तुम कैसे सुख पा लोगे ? अन्यों की मुक्ति में हमारी मुक्ति है; और यह मुक्ति लोगों की सेवा करने से मिलेगी। याद रखो, मुक्ति लाभ की चेष्टा से संसार व जन-समुदाय को छोड़कर गम्भीर अरण्य में अथवा पर्वत की गुफाओं में निवास करने वाले सन्यासियों का अभाव तो भारत में कभी न रहा। लेकिन पर-कल्याण की कामना से अपने साधन- भजन व मुक्ति की चेष्टा को छोड़, कर्म के पथ पर खड़े होनेवाले निर्भीक कर्मयोगी सन्यासियों को तैयार करने के लिए ही तो इस

मठ की स्थापना हुई है। इस मठ का योगी कह दे कि वह कुछ नहीं जानता, तो आश्चर्य ही होगा।"

स्वामी विरजानन्द को लगा कि वे एक नवीन स्फूर्ति से भर गए। उन्होंने स्वामीजी के चरण स्पर्श किए और बोले—"ढाका, मैं जाऊंगा। मैं श्रीरामकृष्णदेव की शिक्षाओं का प्रचार करूंगा।" स्वामीजी आनन्द से भर गए। वे स्वामी सदानन्दजी तथा तुरीयानन्दजी से बोले—"और तुम लोग गुजरात में प्रचार करो।"

स्वामीजी ध्यानमग्न रहते, पर उस समय बेलूड़ का मठ चहचहा उठता था, जब कॉलेज के नवयुवक दल बनाकर वहां आते और धर्म, दर्शन, इतिहास व विज्ञान पर चर्चा करते। स्वामजी उन्हें सेवाधर्म से अनुप्राणित करते व उपदेश देते कि देश-सेवा में आत्मनियोग करना ही वर्तमान राष्ट्रीय जीवन का सर्वश्रेष्ठ व्रत है, तथा उस आदर्श के अनुसार वे अपना जीवन ढालें।

स्वामीजी स्पष्टवादी थे सो छात्र नवयुवकों से साफ-साफ कहते—"तुम लोगों में शारीरिक दुर्बलता, नैतिक चरित्रहीनता आदि विद्यमान है। यह अंग्रेजी शिक्षा का प्रभाव है। इस शिक्षा के प्रभाव से मन व मस्तिष्क विकृत हो रहा है। मुझे यदि दो हजार वीर हृदयी, विश्वासी, चरित्रवान व बुद्धिमान युवक तथा तीस करोड़ रुपए मिल जाएं तो मैं भारत को अपने पैरों पर खड़ा कर दूं।"

स्वामीजी कई बार उदास हो उठते थे। उन्हें दुःख होता कि भारत के राजा-महाराजा व धनपतियों की ओर से उन्हें पूर्ण सहयोग नहीं मिल रहा है। इन लोगों की जन-उत्थान की ओर कोई रुचि नहीं थी। इसलिए वे अपने भक्तों, शिष्यों व गुरुभाइयों से कहते थे—"इस देश में पहले जमीन तैयार करनी होगी। अन्नाभाव दुर्बल देह, दुर्बल मन, रोग, शोक व दुःख-दैन्य की जन्म भूमि भारत में भाषण देने से क्या होगा ? काश ! यहां कुछ ऐसे त्यागी लोग होते जो कि अपने परिवार की चिन्ता न करके दूसरों के लिए जीवन उत्सर्ग करने के लिए तैयार होते।"

'लेकिन ऐसा हो क्यों नहीं पा रहा है ?" शरच्चन्द्र ने सवाल किया।

"आज की शिक्षा के कारण। इसने हमारी मनुष्यता ही समाप्त कर डाली है। आज की शिक्षा मानव को गुलामी का पट्टा प्रदान कर रही है। इसीलिए मैं मठ में ऐसे विद्या केन्द्र की स्थापना कर रहा हूं, जिसमें व्याकरण, दर्शन, विज्ञान, काव्य, अलंकार, स्मृति, भक्तिशास्त्र व राजभाषा की शिक्षा दी जाएगी। प्राचीन काल की पाठशाला का अनुकरण होगा यह विद्यामन्दिर। बाल ब्रह्मचारीगण इसी स्थान पर रहकर अध्ययन करेंगे। उनके भोजन व वस्त्र का प्रबन्ध मठ की ओर से किया जाएगा। ये सब ब्रह्मचारीगण पांच वर्ष तक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् यदि चाहेंगे,

तो घर लौटकर गृहस्थ धर्म अपना सकेंगे। इन ब्रह्मचारियों में जो उच्छृंखल या दुश्चरित्र पाए जाएंगे, उन्हें मठ से निष्कासित किया जा सकेगा। यहां पर सभी जाति, वर्ण या धर्म के बालकों को शिक्षा दी जाएगी। इसमें जिन्हें आपत्ति होगी, उन्हें यहा नहीं लिया जाएगा, पर जो लोग अपनी जाति वर्णाश्रम के आचारों को मानकर चलना चाहेंगे, उन्हें अपने भोजन की व्यवस्था खुद करनी होगी। वे यहां केवल अध्ययन कर पाएंगे। मठाधिपति उनके चरित्र पर कड़ी दृष्टि रखेंगे। यहां पर शिक्षित न होने से कोई सन्यास का अधिकारी न बन सकेगा।"

"महाराज, आपका उद्देश्य ज्ञानदान, अन्नदान व विद्यादान है ?"

"हां, मैं ऐसा ही चाहता हूं ताकि केवल वेदान्त के अध्ययन को इतिश्री न मान लिया जाए। हमें व्यावहारिक जीवन में शुद्धाद्वैत की शुद्धता की सत्यता को प्रमाणित करना होगा। श्रीशंकर इस अद्वैतवाद को जंगलों और पहाड़ों में रख आए हैं, मैं उसे वहां से लाकर संसार और समाज में प्रचारित करने के लिए आया हूं। घर-घर, घाट-घाट, मैदान, जंगल व पहाड़, सब जगह अद्वैतवाद का नाद करना होगा। ध्यान रखो, अच्छी चीज पाने पर, उसे अकेले खाने में कोई आनन्द नहीं है। हमें देश से अज्ञानता दूर करनी है। लोग रस्सी को सांप माने बैठे हैं....उनका संशय दूर करना है, उन्हें प्रकाश दिखाना है।"

"स्वामीजी, देश उन्नति क्यों नहीं कर पा रहा है ?" एक ब्रह्मचारी बोला।

"मेरे विचार में देश इसलिए उन्नति नहीं कर पा रहा है; क्योंकि यहां अन्नाभाव है। अन्नाभाव के कारण ही धर्म-कर्म, शिक्षा-ज्ञान की ओर लोग ध्यान नहीं दे पा रहे हैं। हमें पहले कूर्म अवतार की पूजा करनी होगी। पेट ही कूर्म है। इसे ठंडा किए बिना हमारी धर्म-कर्म की बात को कोई ग्रहण नहीं करेगा। विदेशियों के साथ मुकाबला करना, वाणिज्य में अबाध निर्यात; और सबसे बढ़कर हमारी आपस की घृणित दास सुलभ ईर्ष्या ने देश की अस्थि मज्जा को खा डाला है। मैं इसीलिए मठ में एक लंगर की व्यवस्था भी करना चाहता हूं।"

आपसी संवाद चल रहा था कि मूर्तिमान गृहस्थ्य धर्म नाग महाशय आ गए। स्वामीजी ने श्रद्धा भाव से उन्हें नमन किया; और उनसे पूछा—"आप अच्छे तो हैं न ?"

"आपके दर्शन करने आया हूं। जय शंकर, जय शंकर ! साक्षात शिव के दर्शन हो गए।"

नाग महाशय भाव-विभोर हाथ जोड़े खड़े थे। गुरुभाई एवं शिष्यगण चरम सन्यास व गृहस्थ का मिलन देख रहे थे। नाग महाशय बेसुध में बोले—"देह का

ज्ञान हो, तो कहूं कि अच्छा हूं।"

स्वामीजी भी मुग्ध भाव से नाग महाशय के मुख पर दृष्टि टिकाए हुए थे। दोनों भक्त शिरोमणि चुपचाप एक दूसरे को निहार रहे थे मानो सहस्र दल पद्म की शोभा का मधुरता मे पान कर रहे हों। कुछ देर में वे भावलोक से उतरे। स्वामीजी बोले—"बाबूराम (स्वामी प्रेमानन्द), शरद (स्वामी सदानन्द, ये विवेकानन्दजी के प्रथम शिष्य थे। ये हाथरस के स्टेशन मास्टर थे।) जाओ; और नाग महाशय के लिए प्रसाद लाओ।"

"आपके दर्शन से ही मुझे प्रसाद लाभ हो गया।" नाग महाशय शान्त स्वर में बोले।

स्वामीजी अपने शिष्यों से बोले—"देख रहे हो नाग महाशय को। आप गृहस्थ हैं, किन्तु जगत है या नहीं, इसका ज्ञान आपको नहीं है। आप सदा भक्ति भाव में तन्मय रहते हैं।"

"मैं कुछ भी नहीं हूं....श्रीरामकृष्ण की अनुकम्पा है।"

"भक्तप्रवर, आप मुझे आर्शीवाद दीजिए कि गुरुदेव द्वारा सौंपी गई जिम्मेवारी को पूर्ण कर सकूं।"

"आपने जाति, वर्ग, वर्ण, स्त्री-पुरुष की भेद भावना से रहित होकर सनातन-धर्म रूपी समुद्र को मथ डाला है; और अद्वैत अमृत का दान समभाव से कर रहे हैं। उसे क्या आर्शीवाद दूं....जो महामाया की रस्सी से मुक्त है। महामाया जितनी बड़ी रस्सी से आपको बांधने आती है, आप उससे बड़े बन जाते हैं। आप धन्य हैं, गुरु स्वरूप हैं।"

"अरे ! नाग महाशय, आप कौन से कम हैं। आप महान हैं। आपने महामाया को अपने ढंग से परास्त किया। वह आपको बांधती है,; और आप छोटे बनकर उसके जाल से निकल जाते हैं।"

स्वामीजी काफी देर तक नाग महाशय के साथ आत्मीयता से बतियाते रहे। उनके जाने के बाद ही स्वामी शारदानन्दजी आ गए। स्वामीजी ने प्रश्नात्मक मुद्रा में उन्हें देखा।

"आओ, शरत; सन्यासियों को उपदेश दे आए।"

"जी, हां।"

"राखाल; और चिकित्सकगण का कहना है कि मुझे इंग्लैंड की यात्रा करनी चाहिए। समुद्र यात्रा से सम्भवतः मेरा स्वास्थ्य कुछ ठीक हो जाए। दो बार वैद्यनाथ हो आया। अल्मोड़ा, दार्जिलिंग भी जाकर देख लिया है, पर शरीर पर कोई प्रभाव नहीं

पड़ रहा है।"

"निश्चित ही आपको जाना चाहिए। अमेरिका में काली वेदान्त प्रचार का अच्छा कार्य कर रहा है। लेकिन मेरे इंग्लैंड से लौटने के बाद वहां कार्य कुछ मंद पड़ा होगा। आपके जाने से वहां वेदान्त प्रचारकों को नवीन ऊर्जा मिलेगी। सबसे बड़ी बात यह है कि समुद्री यात्रा तथा इंग्लैंड की जलवायु आपके स्वास्थ्य के लिए सुखद होगी।"

"मद्रास, कलकत्ता व अल्मोड़ा के मायावती मठ से नरनारायण-सेवा की वाणी प्रचारित होने लग गई है। मैं हिन्दू-धर्म के नवीन अभ्युदय को प्राचीनपंथी समाज की उग्रता व प्रचण्ड विरोध से बचाने में लगा हुआ हूं; और इसीलिए कुसंस्कार व लोकाचार के साथ मैंने संग्राम की रणभेरी बजाई है। तुम लोगों के साथ मैंने कई नवीन सन्यासियों को युद्ध प्रवीण सैनिकों के रूप में संगठित कर दिया है, शेष तैयार हो रहे हैं। ये लोग सामाजिक कुरीतियों के साथ किसी प्रकार का समझौता नहीं कर रहे हैं। मै यही चाहता हूं कि असत्य के सम्मुख घुटने न टेके जाएं, किसी प्रकार की अशक्तता न दिखाई जाए....परम सत्य का प्रचार किया जाए। सत्य की यदि सर्वान्तःकरण से सेवा की जाए तो ईश्वरीय शक्ति की प्राप्ति होती है। यह ऐसी शक्ति है जिसके सम्मुख लोग, उस बात को तुम्हारे सम्मुख कहने में कांप उठेंगे, जिसकी सत्यता पर तुम्हें विश्वास नहीं हो। एक यही उपाय है जिससे जनकल्याण हो सकता है; और समग्र राष्ट्र उन्नत हो सकता है। तुम सब गुरुभाइयों का यह कर्त्तव्य है। रुको मत, आगे बढ़ो। मेरी अनुपस्थिति में तुम लोग गुरुदेव के इस कार्य को आगे बढ़ाओगे।"

"नरेन्द्र, तुम चिन्ता न करो। अपने स्वास्थ्य को सुधारो। तुम लौटोगे तो अपने बनाए गए चित्र को; और भी साफ-सुथरा पाओगे। इसमें उन्हीं रंगों को भरा जाएगा, जो तुम चाहते हो।" स्वामी ब्रह्मानन्दजी बोले।

"हम आपको वचन देते हैं।" स्वामीजी का शिष्य सदानन्द बोला।

"नरेन्द्र, हम गुरुदेव का मनचाहा करने के लिए कमर कसकर तैयार खड़े हैं।"

सभी उपस्थित गुरुभाइयों ने एक स्वर में उन्हें आश्वासन दिया। स्वामीजी का चेहरा खिल रहा था।

"मेरे साथ हरि चलेगा।"

निर्णय के बाद सभी अपने-अपने कार्य पर लग गए।

जून 1899 चल रहा था। स्वामीजी के जाने की तैयारी की जा रही थी। भगिनी निवेदिता भी स्वामीजी के साथ जाना चाह रही थी, पर संकोचवश चुप थी। स्वामीजी

उसके हृदय की बात ताड़ गए; और बोले—"वत्से, तुम भी साथ चलोगी।"

"गुरुदेव, मैं यही चाह रही थी। मैं अपने बलबूते पर बालिका विद्यालय के लिए कुछ अर्थ संग्रह करना चाहती हूं।"

"विचार उत्तम है।"

19 जून को बेलूड़ मठ में उनकी विदाई के रूप में एक छोटी-सी सभा हुई। स्वामीजी ने शिष्यों, ब्रह्मचारियों व गुरुभाइयों तथा भक्तगण के सम्मुख छोटा-सा प्रवचन दिया।

"साधारण लोग जीवन से प्रेम रखते हैं, तुम्हें मृत्यु से प्रेम रखना होगा। इसका अर्थ है—दूसरों के कल्याण के लिए सदा आत्म-विसर्जन के लिए तैयार रहना। श्रेय के पथ पर खड़े होकर प्रत्येक मानव बन्धु की मुक्ति के लिए सहायता करनी होगी। हमें गम्भीर भावपरायणता तथा प्रबल कर्मशीलता के समन्वय से जीवन का निर्माण करना होगा।'तुम लोग सदैव गम्भीर ध्यान में मग्न होने के लिए तैयाररहोगे.... पर दूसरे ही क्षण मठ से लगी भूमि पर हल चलाने में भी नहीं हिचकोगे। तुम्हें एक; और शास्त्रों की कठिन समस्याओं की मीमांसा करनी होगी तथा दूसरी; और मठ की भूमि में उत्पन्न अनाज को बाजार में ले जाकर बेचने के लिए तैयार रहना होगा। तुम्हें याद रखना है कि हमारे मठों का उद्देश्य है—मनुष्य तैयार करना। मनुष्य के लक्षण हैं—स्त्रियों की तरह कोमल हृदय हो, पर शारीरिक व मानसिक दृढ़ता रहे, सर्वतोमुखी स्वाधीनता के आकांक्षी हो, किन्तु विनीत व आज्ञाकारी हो, दूसरों के दुःख में आंसू बहाये, किन्तु दृढ़चित्त हो....ये ही मनुष्य के लक्षण हैं।"

अगले दिन स्वामीजी अपने गुरुभाइयों के साथ बाग बाजार में श्री मां के दर्शन के लिए आए। दोपहर में श्री मां ने अपनी सन्तानों को स्नेहपूर्वक भोजन कराया। तीसरे प्रहर उनकी चरण धूलि लेकर उन्होंने विदा ली। सभी लोग घाट पर एकत्रित हुए; और स्वामीजी को मद्रास के लिए विदाई दी। जहाज समुद्र की लहरों से खेलता हुआ मद्रास की ओर चला।

कलकत्ता में प्लेग के अभी तक निशान थे, सो यहां के यात्री को मद्रास में उतरना निषिद्ध था। मद्रास के विशिष्टजनों ने पहले से प्रयास करना शुरू कर दिया कि स्वामीजी को मद्रास नगर में प्रवेश करने दिया जाए। पी० आनन्द चारलु इस विषय में कोशिश कर रहे थे। लेकिन उनकी सारी कोशिशें व्यर्थ गईं। भारत के अंग्रेज शासकगण, यद्यपि स्वामीजी से प्रत्यक्ष वैर मोल लेना नहीं चाहते थे, पर फिर भी वे भरसक कोशिश करते कि स्वामीजी अपने उद्देश्य में सफल न हों। अंग्रेज; और

अधिकांश भारतीय राजा-महाराजा नहीं चाहते थे कि भारतवासी जागें;; और अपने अधिकारों के प्रति सचेत हों। इसीलिए वे भारतीय समाज को पाश्चात्य घुट्टी पिला रहे थे। लेकिन स्वामीजी का कहना था कि अपने जातीय भाव व सभ्यता के प्रति विद्रोह करके तथा दूसरों की नकल करके किसी राष्ट्र का अभ्युदय नहीं हो सकता। स्वामीजी के इस कथन को अंग्रेज ठीक नहीं मानते थे।

स्वामीजी अंग्रेजों के शासन का सीधा विरोध नहीं करते थे। उनका उद्देश्य था कि लोगों को शिक्षित करो, उन्हें मानव सेवा की ओर प्रेरित करो, उन्हें भारत में चप्पे-चप्पे के भ्रमणार्थ सहमत करो....एक शिक्षित व्यक्ति जब देश; और देशवासियों का कुहाल देखेगा तो स्वतः ही आजादी की कीमत समझेगा।

समझदार अंग्रेज इस बात को समझते थे। स्वामीजी को कश्मीर में मठ हेतु जमीन न मिली, इसके पीछे भी अंग्रेज रेजीडेन्ट का हाथ था। कैप्टन सेव्हियर को मठ के प्रबन्ध के लिए इतना भटकना पड़ा, इसके पीछे भी अंग्रेजी सरकार का मस्तिष्क कार्य कर रहा था।

इसी कारण मद्रास की विराट सभा की हार्दिक इच्छा के बावजूद भी स्वामीजी को मद्रास में उतरने की अनुमति न मिली। लोग उनसे न मिल सके।

इस बात का सबसे अधिक दुःख आलासिंगा को था। उन्होंने जहाज का टिकट लिया; और कोलम्बो तक स्वामीजी की संगत की। पत्रिका 'ब्रह्मवादिन' के सम्बन्ध में काफी बातें हुईं। आलासिंगा ने मद्रास में वेदान्त प्रचार का भी स्वामीजी को पूरा हवाला दिया।

जो मद्रास में न हो सका, वह कोलम्बो में हुआ। सर कुमार स्वामी लोगों की भीड़ के साथ स्वामीजी के स्वागत के लिए खड़े थे। स्वामीजी को जितना भी समय मिला, उन्होंने वह भक्तों के साथ चर्चा में बिताया।

29 जून को जहाज आगे चला। यात्रा निर्बाध चलती रही। भगिनी निवेदिता; और तुरीयानन्दजी अधिकांश समय चर्चाओं में खोए रहते;; और कभी-कभी जहाज के डेक पर आकर सूर्य की पीले-लाल रंगों की किरणों को मेघखण्डों से खेलते देख आनन्दित होते। कई बार स्वामीजी अपूर्व प्राकृतिक सौन्दर्य को देखते-देखते उच्च भावों में उद्भासित हो जाते;; और कथनों की दार्शनिक व्याख्या करने लगते। निवेदिता उन सबको लिपिबद्ध कर लेतीं।

कई पड़ावों से गुजरता हुआ जहाज 31 जुलाई को लंदन के टिलबेरी डॉक पर जाकर रुका। स्वामीजी के स्वागत में अंग्रेज शिष्य वहां खड़े थे। उन्होंने भारतीय शैली से गुरुदेव का अभिनंदन किया; और उन्हें आदर से विम्बलडन नामक स्थान

पर ठहराया। इन स्वागतकर्त्ताओं में अमेरिका से आईं दो भद्र महिलाएं भी थीं। ये स्वामीजी की शिष्याएं थीं।

स्वामीजी ने इंग्लैंड में उन स्थानों का अवलोकन किया, जहां उनके निर्देशानुसार वेदान्त प्रचार हो रहा था। उनके भक्तों ने उनसे आग्रह किया कि वे सार्वजनिक प्रवचन दें। लोगों ने इस विषय में तीव्र रुचि भी दिखाई, पर स्वामीजी ने कोई प्रवचन नहीं दिया। अपने मित्रों के अतिथि बनकर उन्होंने धर्म चर्चाएं जरूर कीं।

स्वामीजी के लंदन आने की बात से अमेरिका के शिष्यों में आशा का संचार हो रहा था कि वे शीघ्र अमेरिका आएंगे। वहां के भक्तों के पत्र पर पत्र आ रहे थे। उनकी अमेरिकन शिष्या श्रीमती फॉन्की का विचार था कि स्वामीजी को अमेरिका चला चलना चाहिए। भगिनी निवेदिता अपने मंतव्यपूर्ण कार्य पर लग गई थी। स्वामीजी इसमें व्यवधान न डालना चाहते थे, सो वे 16 अगस्त को स्वामी तुरीयानन्द तथा दोनों अमेरिकन शिष्यों के साथ अमेरिका रवाना हुए। दस दिन की समुद्री यात्रा थी। स्वामीजी प्रातः काल गीता का स्मरण करते व उसकी व्याख्या करते। कभी-कभी वैदिक मन्त्रों का पाठ होता;; और कभी संस्कृत की कविता व कहानी का अनुवाद। वे मनोहर चांदनी में जहाज के डेक पर टहलते; और देर-देर तक शान्त समुद्र को ताकते रहते। रजत चांदनी में वे स्वामी तुरीयानन्द व शिष्याओं के साथ विधु की सौन्दर्यमयी रूप-राशि के दृश्य को देख रहे थे। श्रीमती फॉन्की ने धीमे स्वर में सवाल किया—"गुरुदेव, कुछ देर पूर्व आपने जो कविता सुनाई थी, लगता है, वह यहां उतर आई है।"

"हां, तुम ठीक कहती हो....कविता का सार सामने फैला हुआ है, इसे समझने की क्षमता चाहिए।"

इस आनन्दपूर्ण यात्रा के बाद वे न्यूयार्क पहुंचे। लिगेट दम्पति ने उनको अपना अतिथि बनाया। स्वामीजी के गिरे हुए स्वास्थ्य से लिगेट चिंतित हुए; और तत्काल उन्हें अपने गांव के मकान पर ले गए। स्वामीजी खुले एवं ग्रामीण परिवेश में प्रसन्न थे। लिगेट ने उनकी चिकित्सा का प्रबन्ध किया;: और स्वामी तुरीयानन्द सहित उनकी सेवा-सुश्रुषा में जुट गए। स्वामी तुरीयानन्द लिगेट दम्पति का सौम्य व्यवहार देखकर चकित थे।

स्वामीजी पूर्ण विश्राम कर रहे थे। लिगेट दम्पति का उन्हें यहां लाने का यही उद्देश्य था। लगभग एक महीना बीता। इंग्लैंड से भगिनी निवेदिता आ गई थी। स्वामी अभेदानन्द भी पहुंच चुके थे। स्वामीजी इन दोनों को देखकर खुश हुए। कुछ देर तक कुशलक्षेम पूछने के बाद उन्होंने स्वामी अभेदानन्दजी से पूछा—"काली, तुम्हारा कार्य

प्रगति पर है।"

"यह सब आपके भक्तों का प्रसाद है। न्यूयार्क में वेदान्त समिति के लिए स्थायी व्यवस्था हो रही है।"

"यह बात श्रीमान लिगेट ने बताई है। यह तुम्हारे परिश्रम का फल है।"

"15 अक्टूबर को वेदान्त समिति के भवन का उद्घाटन होगा;; और सप्ताह भर बाद मैं वहां नियमित रूप से व्याख्यान देना शुरू कर दूंगा।"

"काली, यह तुम्हारी बहुत बड़ी उपलब्धि है।"

स्वामी अभेदानन्दजी अपने व्यस्त कार्यक्रम के कारण अधिक न रुक सके; और चले गए। जाते-जाते वे स्वामीजी को याद दिला गए कि उन्हें 5 नवम्बर को न्यूयार्क पहुंचना है।

स्वामीजी ने निश्चित दिन लिगेट दम्पति का आभार प्रकट किया;; और स्वामी तुरीयानन्द व भगिनी निवेदिता सहित न्यूयार्क आ गए। वेदान्त समिति के स्थायी भवन का उद्घाटन हो चुका था। स्वामी विवेकानन्द ने 8 नवम्बर को भवन में बुलाई गई प्रश्नोत्तर सभा में भाग लिया। यहां स्वामीजी का भव्य अभिनंदन किया गया।

स्वामीजी ने देखा कि अभेदानन्दजी को वेदान्त प्रचार के लिए अत्याधिक परिश्रम करना पड़ रहा है। उन्होंने स्वामी तुरीयानन्द तथा भगिनी निवेदिता को निर्देश दिया कि वे भी इस कार्य पर लग जाएं। वेदान्त प्रचार का कार्य; और भी तेजी से चल पड़ा। माउन्ट क्लेयर, केम्ब्रिज, हारवर्ड आदि स्थानों पर स्वामी तुरीयानन्दजी ने अपनी ज्ञान की धाक जमा दी।

इसका प्रभाव यह पड़ा कि शिक्षित व धर्मप्राण नर-नारियों के जत्थे स्वामी विवेकानन्द के दर्शन के लिए न्यूयार्क आने लगे। स्वामीजी अपने पुराने अंतरंग भक्तों के आग्रह पर बोस्टन, डिट्राइट, ब्रुकलिन कैलिफोर्निया, शिकागो आदि शहरों में गए। लास एन्जेल्स में उनकी शिष्या कुमारी मैक्लिआड ने श्रीमती बाल्डगेट के साथ उनका स्वागत किया। कैलिफोर्निया में तो स्वामीजी ने धूम मचा दी। प्रतिदिन दो बार प्रश्नोत्तर सभा होने लगी;; और विशेष भाषण अलग से होता था। व्यस्तता ने उन्हें बांध लिया। लेकिन सौभाग्य था कि जलवायु उनके अनुकूल थी।

उनके भाषणों के सार प्रतिदिन स्थानीय समाचार पत्रों में प्रकाशित होने लगे। ऑक्लैंड के युनिटेरियन चर्च के धर्माचार्य ॰डा॰ बेन्जामिन के॰मिल्स के आग्रह से उन्होंने चर्च में भाषण दिए। उनके भाषणों की शृंखला से बेन्जामिन तो प्रभावित हुए ही, साथ ही श्रोताओं ने भी उन्हें खूब सराहा। श्रोतागण कृष्ण, बुद्ध व मुहम्मद से

परिचित हुए तथा ईसा को उन्होंने नए रूप में पाया। इनमें से किसी का, किसी से कोई विरोध न था।

लास एन्जेलस स्वामीजी को पत्र द्वारा पता लगा कि न्यूयार्क में स्वामी तुरीयानन्द के पैर की हड्डी टूट गई है। भारत से आए मेक्लियर साहब के पत्र से पता लगा कि निरंजन गम्भीर रूप से अस्वस्थ है;; और नाग महाशय का देहान्त हो गया है। भगिनी निवेदिता का पत्र भी स्वामीजी को मिला, जिसमें उन्होंने लिखा कि उन्हें विद्यालय के लिए धन नहीं मिल पा रहा है;; और भी कई पत्र थे। स्वामीजी ने उन सबके उत्तर दिए।

भगिनी निवेदिता अपने विद्यालय के लिए अर्थ (धन) संग्रह करना चाहती थी। उन्होंने इंग्लैंड में इस विषय में कुमारी मूलर से बात की, पर उसे संतोषप्रद उत्तर न मिला। वह अमेरिका आई पर यहां भी विशेष सफलता न मिली सो उसने पेरिस जाने का निश्चय किया। स्वामीजी ने उसे सहर्ष इस बात की आज्ञा दे दी।

स्वामीजी अमेरिका के लोगों की ईर्ष्या-द्वेष, स्नेह अनुराग, प्रशंसा-निन्दा, अभिनंदन आलोचना, घृणा प्यार के बीच रमण कर रहे थे। महामाया के साथ इस खेल को खेलते-खेलते एक बार फिर से स्वामीजी थकान अनुभव करने लगे। उन्होंने कैम्प टेलर नामक स्थान पर तीन सप्ताह आराम किया; और सान्फ्रांसिस्को लौट आए। स्वामीजी के प्रति गम्भीर श्रद्धा रखने वाले डॉ॰ विलियम फॉस्टर नामक विख्यात चिकित्सक उनकी देखभाल करने लगे।

जुलाई माह सन् 1900 में वे न्यूयार्क लौटे; और स्वामी तुरीयानन्द को आश्रम की स्थापना करने के लिए कैलिफोर्निया भेजा। कैलिफोर्निया की एक धनिक महिला ने स्वामीजी का शिष्यत्व ग्रहण किया था; और दान स्वरूप 160 एकड़ जमीन भेंट दी थी। स्वामीजी अमेरिका में चल रहे वेदान्त प्रचार के कार्य से संतुष्ट थे। उनके पास अन्य स्थानों से भक्तों के बराबर पत्र आ रहे थे कि वे आकर उन्हें भी कृतार्थ करें सो वे 20 जुलाई को वे पेरिस रवाना हुए। यहां उनके निवास स्थल पर कवि, दार्शनिक, वैज्ञानिक, राजनीतिज्ञ, शिक्षक, गायक, चित्रकार आदि आते; और चर्चोपरान्त संतुष्ट होकर जाते। यहां स्वामीजी तीन महीने रहे; और फिर विएना की ओर चल पड़े। कुमारी मैक्लिआड उनके साथ थी। विएना दर्शन के बाद वे हंगरी, सर्विया, रुमानिया, बल्गेरिया होते हुए वे कंस्टैन्टिनोपल पहुंचे। यहां भी प्रश्नोत्तर सभाओं का आयोजन हुआ।

स्वामीजी का मन भारत जाने के लिए अकुला रहा था। उपर्युक्त शहरों में ऐश्वर्य एवं विलास की नदियां बह रही थीं। इससे स्वामीजी की विरक्ति; और भी

बढ़ गई।

यहां उनको भारत से आया एक पत्र प्राप्त हुआ। इस पत्र में अल्मोड़ा के मायावती मठ के संस्थापक कैप्टन सेव्हियर की मृत्यु का समाचार था। इस समाचार के बाद तो उनका मन भारत पहुंचने के लिए व्याकुल हो गया। स्वामीजी के मित्रों ने इस स्थिति में इन्हें रोकना उचित न समझा। स्वामीजी ने उनसे विदा ली; और भारत आने वाले जहाज में सवार हो गए। वे चुपचाप भारत आ रहे थे ताकि जगह-जगह उनका स्वागत, अभिनंदन न हो।....और फिर एक दिन अप्रत्याशित रूप से वे बेलूड़ मठ पहुंच गए। मठ के फाटक बन्द हो चुके थे। सन्यासी तथा ब्रह्मचारीगण भोजन के लिए बैठे ही थे कि बगीचे का माली दौड़ता हुआ आया। स्वामी प्रेमानन्दजी ने प्रश्नात्मक मुद्रा में उसे देखा—"कोई साहब आए हैं। फाटक की चाभी चाहिए।"

"इस समय कौन आ सकता है ?"

"साहब हैं।"

"ले,; और उन्हें आदर से ले आ।"

चौकीदार चाभी लेकर बाहर आया। उसने फाटक खोले। घोड़ागाड़ी के नजदीक आया; और अन्दर झांका....कोई न था। कोचवान से पूछा तो उत्तर मिला—"गाड़ी में ही बैठे हुए थे।"

चौकीदार ने एक बार फिर गाड़ी के अन्दर ताक-झांक की और फाटक के द्वार बन्द करके अन्दर आ गया। उसने देखा कि साहब तो भोजनालय के द्वार पर खड़े हैं।

"अरे ! आपने अच्छा मजाक किया। मैं बाहर गाड़ी में आपको तलाश कर रहा था;; और आप यहां हैं ?"

"कौन है ?" भीतर से प्रेमानन्दजी हाथ में दीपक लेकर आए; और द्वार पर खड़े अजनबी का चेहरा स्पष्ट हुआ। साहब ने माथे की टोपी को उतार दिया। प्रेमानन्दजी आश्चर्य से बोले—"अरे ! आप हैं।"

स्वामी विवेकानन्द बच्चों के समान मुस्काते खड़े हंस रहे थे। हंसी रुकी तो वे बोले— 'बाबूराम, मैंने फाटक पर खड़े भोजन की घंटी सुनी। माली को चाभी लाने में देर होती, सो दीवार फांदकर अन्दर आ गया। अनुशासन तो भंग हुआ, पर क्या करूं। भूख लगी है। देर हो जाती तो भोजन न मिलता।"

लगता था, मानो स्वामीजी एक बार फिर से मातुश्री भुवेनश्वरी के 'बिले' बन गए हों; और श्रीरामकृष्णदेव के नरेन।

उनके आगमन से पूरा मठ आलोकित हो उठा....रात्रि की नीरवता कोलाहल में बदल गई।

स्वामीजी को शीघ्र मां (श्रीमती सेव्हियर) को धैर्य बंधाने के लिए मायावती मठ जाना जरूरी था, सो 27 दिसम्बर को उन्होंने कलकत्ते से प्रस्थान किया। काठगोदाम आकर पता लगा कि आगे के मार्ग पर भारी हिमपात हो रहा है। यह हिमपात इस कर्मयोगी का मार्ग न रोक पाया। उनकी अस्वस्थ देह पथ-श्रम से टूट गई। श्रीमती सेव्हियर को उन्होंने धैर्य बंधाया। स्वामीजी की दशा देख, श्रीमती सेव्हियर बोलीं—"इस भारी हिमपात में आपको न आना चाहिए था।"

"मां से कोई पुत्र अलग रह सकता है। लेकिन मां, मुझे अनुभव हो रहा है कि मेरा स्वास्थ्य जर्जर हो गया है।"

"परिश्रम ने आपके स्वास्थ्य को चौपट कर दिया है। आप जितना हो सके, आराम करें"

स्वामीजी मायावती मठ में रम गए। हिमालय का सुनसान, शान्तिपूर्ण स्थान उन्हें विश्राम दे रहा था।

शाम को स्वामीजी ने देखा कि मठ के सन्यासी श्रीरामकृष्णदेव की मूर्ति की बाह्य-पूजा में संलग्न हैं। उस समय तो वे कुछ न बोले, पर प्रातः उन्होंने बाह्य-पूजा की असारता समझाई। स्वामी स्वरूपानन्द तथा श्रीमती सेव्हियर ने स्वामीजी के भाव समझे; और बाह्य-पूजा बन्द कर दी। उनकी समझ में आ गया कि जो लोग द्वैत भाव से साकार उपासना करना चाहते हैं, उनके लिए अद्वैताश्रम योग्य स्थान नहीं है।

यहां आकर स्वामीजी का बचपन लौट आया। एक दिन वे मध्याह्न में घूम-फिरकर वापस आए; और देखा कि भोजन तैयार नहीं हुआ। स्वामी विरजानन्द भोजन व्यवस्था सम्भालते थे। स्वामी विवेकानन्दजी उन्हें डांटने के लिए रसोईघर में आए। रसोईघर में आकर उन्होंने देखा कि स्वामी विरजानन्द गीली लकड़ियों को फूंकने की कोशिश कर रहे थे। सारा रसोई घर धुंए से भर गया था। स्वामीजी चुपचाप लौट आए।

भोजन तैयार होने पर विरजानन्दजी, उसे परोस कर स्वामी विवेकानन्दजी के पास लाए। स्वामीजी बच्चे के समान चिहुंकते हुए बोले—"विरजानन्दजी, आज आपकी शामत आ गई थी। मैं तुम्हें डांटने के लिए रसोईघर तक आया था।"

"गुरुदेव, मुझे इस सौभाग्य से वंचित क्यों रखा ?"

"अरे ! मेरा क्रोध तो भूख के कारण था।"

स्वामीजी ने प्रेम से भोजन किया; और तत्पश्चात् आवश्यक पत्रों के उत्तर लिखने बैठ गए। हिमालय क्षेत्र में शीत की प्रबलता के कारण भीषण तुषार-पात हो रहा था। स्वामीजी को एक कैदी के समान अपने कमरे में बैठा रहना पड़ता था। वे इस असह्य स्थिति मे ऊब गए; और 24 जनवरी, 1901 को बेलूड़ मठ में लौट आए।

स्वामीजी के लिए पूर्वी बंग व आसाम से निमन्त्रण पत्र आ रहे थे। यद्यपि उनका स्वास्थ्य ठीक न था। लेकिन उन्हें याद था कि उनकी जननी ने बहुत पहले बंग व आसाम के तीर्थ स्थान देखने की इच्छा प्रकट की थी। अपनी व्यस्तता में वे जन्मदायिनी की इच्छा पूर्ति न कर पाए थे। इस शुभ अवसर पर उहोंने जननी को साथ लिया; और कुछ सन्यासियों के साथ ढाका चल पड़े। ढाका में भी उनकी अभ्यर्थना हुई। बुधाष्टमी के दिन जननी को साथ ले जाकर उन्होंने लांगलबन्ध में ब्रह्मपुत्र के पवित्र जल में स्नान किया। ढाका में कई स्थानों पर उनके भाषण हुए।

प्रकृति का नियम है कि "जहां राग होगा, वहा द्वेष भी होगा ही। ढाका में भी उसकी कमी न थी। अपने ही लोग स्वामीजी का विरोध कर रहे थे। इसके पीछे उनकी धर्म की नासमझता थी। स्वामीजी से स्वजाति एवं स्वधर्म के प्रति विद्वेष की भावना सहन न हुई। वे सिंह गर्जना कर उठे।" मैं उनकी निन्दा न करूंगा। यदि मुझे उस मूर्तिपूजक ब्राह्मण की पदधूलि प्राप्त न होती, तो मैं कहां होता ? जो भी लोग मूर्तिपूजा करते हों या न करते हों, उनसे मैं यही कहूंगा—"भाई, यदि तुम निराकार या साकार की उपासना करते हो तो ठीक है, परन्तु एक-दूसरे को गाली मत दो। संस्कार के पुराने मकान के जीर्ण अवशेष मात्र बचे हैं। जीर्ण संस्कार हो जाने पर उनकी क्या आवश्यकता है ? संस्कार एक स्वतंत्र सम्प्रदाय का निर्माण करना चाहते हैं, उन्होंने महत्कार्य किया है। लेकिन तुम अपने को अलग क्यों करना चाहते हो ? हिन्दू नाम लेने से लज्जित क्यों होते हो?"

इसके बावजूद भी ब्राह्म नेता स्वामीजी पर लांछन लगाते रहे। स्वामीजी ने इस; और अधिक ध्यान नहीं दिया, क्योंकि वे जानते थे कि कमजोर व्यक्ति का यही हथियार होता है। उन्होंने छुआछूत का भी प्रबल विरोध किया। ढाका के कट्टर हिन्दुओं के विरोध के बावजूद भी वे सभी को गले लगाते थे;; और प्रेम से उनका भोजन ग्रहण करते थे।

अपनी व्यस्तता व अस्वस्थता को किनारे करके स्वामीजी ने नाग महाशय की

जन्म भूमि देवभोग के दर्शन किए। यह उनका संकल्प था, जिसका आज निर्वाह हुआ। यहां से वे गोआलपाड़ा, गोहाटी, कामख्यापीठ व चन्द्रनाथ की यात्रा पर निकले।

स्वामीजी का स्वास्थ्य तेजी से गिर रहा था। शिष्यों व भक्तगणों के कहने पर वे शिलांग आ गए। यहां भी उनके भाषण, व्याख्यान व प्रवचन चलते रहे। शिष्यों को आशा थी कि स्वामीजी के लिए यहां की आबोहवा अनुकूल रहेगी। लेकिन उनकी आशा ने साथ न दिया। स्वामीजी की तबियत गम्भीर हो गई। श्वास कष्ट इतना बढ़ गया कि साथ के लोग भयाकुल हो उठे। इस स्थिति में भी स्वामीजी धैर्य रखे हुए थे। वे काफी कठिनाई से बोले—"भयभीत क्यों होते हो ? मैंने तो दुःख-कष्ट सहने के लिए देह धारण की है।"

स्वामीजी को जैसे-तैसे शिष्यगण बेलूड़ मठ लाए। उनके निर्देशानुसार उनकी अस्वस्थता का समाचार वृद्धा जननी को नहीं दिया गया। स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने स्वामीजी की चिकित्सा के लिए कुशल वैद्य की व्यवस्था की। वैद्य के निर्देशों में आहार-विहार के कठोर नियम थे। स्वामीजी अपने गुरुभाइयों, शिष्यों की चिन्ता देखकर, उनके कहने पर चले। इससे उनके स्वास्थ्य में पहले की अपेक्षा काफी सुधार हुआ। वैद्यजी ने प्रातः, सांय उन्हें घूमने की आज्ञा भी दे दी। भ्रमण में उनके साथ गुरुभाई या कोई शिष्य होता। स्वामीजी उन्हें अपने संस्मरण सुनाते; और निंदकों से निर्भय होने की बात कहते। वे उदाहरण देते—"निवेदिता जैसी योग्य पुत्री का साहस देखो, जो स्वदेश; और परदेश के निंदकों की परवाह न कर, अपने कार्य पर लगी है। हमें मठ की या अपनी निन्दा सुनकर हताश नहीं होना है। ये निन्दक हमारे सहायक हैं, सो इनका प्रतिवाद नहीं करना है।"

स्वामीजी की इच्छा थी कि बेलूड़ मठ में श्री दुर्गा-पूजा करवाई जाए। उनकी इच्छा का पता लगते ही गुरुभाई व शिष्य उसे पूरी करने में लग गए। स्वामीजी ने इस विषय में श्री मां की अनुमति मांगी। श्री मां जानती थी कि सन्यासी को किसी प्रकार की पूजा अथवा धार्मिक कृत्य 'संकल्प' पूर्वक करने का अधिकार नहीं होता। लेकिन स्वामीजी का विधान तो श्रीमां थीं। श्री मां ने उन्हें आज्ञा दी कि वे बिना संशय के श्रीदुर्गा-पूजा करें।

सप्तमी के दिन श्री मां का मठ में आगमन हुआ। दुर्गा प्रतिमा आ चुकी थी। श्री मां की अनुमति से ब्रह्मचारी कृष्णलाल ने पुजारी का आसन सम्भाला तथा तन्त्र-शास्त्र विशारद पण्डित ईश्वरचन्द्र भट्टाचार्य ने तन्त्र धारक का स्थान ग्रहण किया; और पूरी विधि-विधान से दुर्गा माता की पूजा सम्पन्न करवाई। पशु बलिदान के

विकल्प के रूप में चीनी का नैवेद्य तथा मिष्ठानों का प्रयोग किया गया। पूजा के बाद गरीबों को भोजन करवाया गया। ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा देकर विदा किया गया।

स्वामीजी को इतने से संतुष्टि नहीं हुई। मठ में उनके निर्देश से श्री लक्ष्मी, श्री काली व श्री श्यामाजी की पूजा भी शास्त्रानुसार हुई। जिस समय श्रीश्यामाजी की पूजा हो रही थी, उस समय स्वामीजी को जननी का समाचार मिला—"मैं तुम्हें लेकर कालीघाट जाऊंगी ताकि अपनी मनौती पूरी कर सकूं।"

स्वामी अपनी जननी को लेकर कालीघाट आए। मां बोली—"बिले, बचपन में तुझे एक कठिन रोग हुआ था। मैंने मनौती मांगी थी कि यदि तू स्वस्थ हो गया तो विशेष पूजा देकर कालीघाट के श्रीमन्दिर में तुझे लोटपोट करा लाऊंगी। मैं इस बात को भूल गई रे। तेरी अस्वस्थता पर वह बात फिर से याद आई। पूजा तो तूने दे दी। अब काली मां के चरणों में लोटपोट हो।"

मां की आज्ञा का पालन हुआ। मन्दिर की प्रदक्षिणा समाप्त हुई। उसके बाद स्वामीजी ने मन्दिर के पश्चिमी भाग में यज्ञ किया। स्वामीजी के इन सब कार्यों से आलोचकों का निन्दा पाठ कुछ कम हुआ। स्वामीजी का कहना था—"मैं अद्वैतवादी सन्यासी हूं। लेकिन इस नाते मुझे अधिकार नहीं है कि मैं हिन्दू शास्त्र; और धर्म में जोड़-तोड़ करूं। मैं शास्त्र मर्यादा को विनष्ट करने के लिए, नहीं, अपितु पूर्ण करने के लिए आया हूं। जो कुछ होगा, वह शास्त्रोक्त ही होगा।"

स्वामीजी का रोग कटा नहीं। वे शिक्षा-दान व धर्म चर्चा में लगे रहते थे। उन्होंने शिष्यों व गुरुभाइयों को आदेश दिया—"मेरी अस्वस्थता में मुझे घेरे मत रहो। सृष्टि चक्र को समझो; और अपने कर्म पर लगे रहो।"

अक्टूबर, 1901 में वे एक बार फिर गम्भीर रूप से बीमार हो गए। कलकत्ते के प्रसिद्ध चिकित्सक डॉ॰ सन्डर्स ने उनकी चिकित्सा प्रारम्भ की। डॉ॰ ने सख्ती से उन्हें शारीरिक व मानसिक परिश्रम करने से मना कर दिया। शाम को भगिनी निवेदिता उनसे मिलने आई तो वे बोले—"डॉ॰ भी अजीब होते हैं। वे मानसिक परिश्रम पर रोक कैसे लगा सकते हैं ?" स्वामीजी क्षोभ से भरे हुए थे।

उनके इसी क्षोभ में सन् 1901 भी निकला। जनवरी 1902 में स्वामीजी ने जापान से आए; और बेलूड़ मठ में ठहरे जापानी विद्वानों के साथ बुद्धगया जाने का निर्णय किया। बुद्धगया पहुंच कर वे बोधि-द्रुम के नीचे पद्मासन लगाकर बैठ गए। न जाने कब तक वे अमृतवारि में स्नान करते रहे। कुछ दिन रोज यह क्रम चलता रहा। बुद्धगया मठ के महन्त ने स्वामीजी को किसी प्रकार का कष्ट न होने

दिया। जापानी विद्वानों को यहां रुकना था। स्वामीजी शिष्यों के साथ वाराणसी आ गए।

स्वामीजी ने देखा कि वाराणसी में बंगाली नवयुवकों ने 'रामकृष्ण सेवाश्रम' की स्थापना कर रखी है। सेवाश्रम में धन का भारी अभाव था। लेकिन साहसपुंज वे युवक छोटा-मोटा चन्दा करके किराए के मकान में रोगग्रस्त, असहाय, अपाहिज व वृद्ध यात्रियों की सेवा करते। स्वामीजी ने नवयुवकों का यह दृढ़ भाव देखा तो बोले—"तुमने नारायण को पहचान लिया। वत्स, यही सत्य; और मोक्ष का द्वार है। मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है।"

श्रीरामकृष्णदेव का जन्मोत्सव समीप था। स्वामीजी बेलूड़ मठ लौट आए। उनकी अस्वस्थता बरकरार थी। आनन्दोत्सव के दिन आए। मठ का विशाल प्रांगण लोगों से भरने लगा। भजन-कीर्तन चल रहा था। स्वामीजी रोग शैय्या पर पड़े हुए विकल थे। दर्शनाभिलाषी भी समारोह में स्वामीजी को न देख, अकुला रहे थे।

स्वामीजी के पास उनके शिष्य व दो गुरुभाई बैठे हुए थे। उनके उतरे हुए चेहरे देख, स्वामीजी बोले—"क्या हुआ रे ! शरीर पैदा हुआ है तो नष्ट भी होगा ही। मनुष्य के जन्म लेते ही मृत्यु भी साथ लग जाती है। मैं यदि तुम लोगों में अपने भावों को कुछ-कुछ भी जगा सका, तो जानूंगा कि मेरा शरीर धारण करना सार्थक हुआ।"

उन्होंने वाक्य समाप्त किया ही था कि भगिनी निवेदिता दो अंग्रेज महिलाओं के साथ उनके दर्शनार्थ आई। निवेदिता ने श्रद्धा से स्वामीजी के चरण स्पर्श किए। स्वामीजी बोले—"वत्से, शरीर की चिन्ता किए बिना कर्मरत रहो।"

निवेदिता आशीर्वाद लेकर चली गई।

स्वामीजी अस्वस्थ थे, पर फिर भी जिस समय स्वास्थ्य कुछ ठीक रहता वे गुरुभाइयों व शिष्यों के साथ ध्यान में बैठते थे;; और यथासक्य भजन गाते व चर्चा भी करते थे।

जून माह चल रहा था। स्वामीजी सभी बाह्य क्रियाकलापों को त्याग कर अन्तर्मुखी हो गए। गुरुभाई समझ गए कि स्वामीजी देह-त्याग की तैयारी में जुट गए हैं।

इस समय स्वामीजी के शरीर से रोग दूर होने लगे। वे अपनी पीड़ा व्यक्त न करते थे; और बहुधा ध्यान में डूबे रहते थे। एक प्रातः वे स्वामी शुद्धानन्दजी से बोले—"पंचांग तो लाना।" शुद्धानन्द पंचांग ले आए। स्वामीजी ने पंचांग अपने पास रख लिया। उन्होंने अपने देह-त्याग की तिथि तय कर ली। लेकिन इस बात का किसी

को भान तक नही था। सभी समझे बैठे थे कि स्वामीजी के स्वास्थ्य में सुधार हो रहा है।

देह-त्याग से तीन दिन पहले उन्होंने मठ के विस्तृत मैदान का भ्रमण किया। शिष्य व गुरुभाई उनके साथ थे। स्वामीजी धीरे-धीरे चल रहे थे। एक स्थान पर आकर वे रुके; और पूर्ण चेतन होकर बोले—"मैं देह-त्याग दूं तो मेरा अन्तिम संस्कार इसी स्थान पर करना।"

तीन दिन क्या होते हैं ? एक दिन पूर्व स्वामीजी ने शिष्यों को स्वयं परोस कर भोजन करवाया। एकादशी होने के कारण उनका खुद का व्रत था। स्वामीजी हास्य; और विनोद करते हुए प्रफुल्ल थे। शिष्यों ने भोजन किया। स्वामीजी ने ख़ुद उनके हाथ धुलाए।

और फिर आई 4 जुलाई 1902....स्वामीजी ने ब्रह्म मुहूर्त्त में शैय्या त्यागी; और फिर गुरुभाइयों के साथ अतीत की कुछ बातें कीं तथा तथा स्वामी शुद्धानन्दजी व स्वामी बोधानन्दजी से अगले दिन अमावस्या को काली मां की पूजा करने की इच्छा प्रकट की। उनका शिष्य चाय ले आया था। उन्होंने थोड़ी-सी चाय पी; और ठाकुर घर में प्रविष्ट हो गए। आज उन्होंने हमेशा से अलग, ठाकुर घर के द्वार व खिड़कियां बन्द कर दीं। लगभग तीन घंटे वे ठाकुर घर में रहे; और फिर धीरे-धीरे सीढ़ियां उतर कर नीचे आ गए।

वे आनन्द से सुधबुध बिसराए मठ के प्रांगण में टहलने लगे। उनके अधर आनन्दातिरेक हो बुदबुदा रहे थे—**"मन, चल निज निकेतन"**....किसी दिन बालक नरेन्द्र ने यही गाना दक्षिणेश्वर के देवालय में श्रीरामकृष्णदेव के सम्मुख गाया था। स्वामी प्रेमानन्दजी उनके साथ थे। लेकिन स्वामीजी को इसका आभास न था। वे तो अपने में ही खो रखे थे।

भोजन की घंटी बजी। आज स्वामीजी ने सभी के साथ बैठकर भोजन किया। सभी उन्हें अपने बीच पाकर प्रसन्न थे। स्वामीजी की अस्वस्थता ने विछोह पैदा कर दिया था, जो आज समाप्त हुआ। थोड़ा-सा विश्राम करने के बाद उन्होंने शिष्यों को हास्यपूर्ण छोटी-छोटी कहानियां सुनाईं; और उनकी मनोरंजकपूर्ण व्याख्या की।

तीसरे प्रहर वे स्वामी प्रेमानन्दजी के साथ भ्रमण के लिए गए। वे जब लौटे तो आरती का समय हो गया था। ब्रह्मचारीगण स्वामीजी को प्रणाम करके ठाकुर घर की ओर चले गए। स्वामीजी अपने कक्ष में आ गए। अपने साथ आए शिष्य से उन्होंने कहा—"वत्स, कमरे की सभी खिड़कियां व द्वार खोल दो।"

स्वामीजी एक खुली खिड़की के पास आ गए। बाहर घोर अंधियारा छाया हुआ

था। चारों; और निस्तब्धता छाई हुई थी। दूर भागीरथी के जल में सैकड़ों दीप जलते हुए बहे जा रहे थे। स्वामीजी ने दक्षिणेश्वर की ओर दृष्टि डाली; और फिर कुछ देर गगन पर आंखें गड़ाए रखीं। उन्हें आभास हुआ....मानो अगणित नक्षत्रों के मध्य दीर्घकाय श्रीरामकृष्णदेव बिराजमान हों। वे उन्हें हाथ के इशारे से ऊपर बुला रहे थे। पीछे खड़े ब्रह्मचारी ने विनीत शब्दों में उन्हें टोका—"गुरुदेव, आप खड़े-खड़े थक जाएंगे।"

"हां, शायद मेरा यह जर्जर शरीर थक गया है रे। तू जा; और बाहर बैठकर जप कर....एकाग्रता रखना....विचलित मत होना। मैं कुछ देर ध्यान में बैठना चाहता हूं।" स्वामीजी ने पद्मासन लगाया; और ध्यान मग्न हो गए। करीब एक घंटे बाद वे उठे; और पलंग पर लेट गए। उन्हें अथाह गर्मी का आभास हुआ तो उन्होंने ब्रह्मचारी शिष्य को बुलाया; और बोले—"वत्स, जरा पंखा तो झल दो।"

ब्रह्मचारी शिष्य पंखा झलने लगा। स्वामीजी के दाहिने हाथ की उंगलियों में माला के मनके सरकते जा रहे थे। रात्रि के नौ बजे एकाएक उनकी उंगलियों ने गति करनी बन्द कर दी....शिष्य ने देखा कि माला के शीर्ष पर आकर अंगुली थम गई है। स्वामीजी ने दीर्घ निश्वास लिया; और अनन्त निन्द्रा में लीन हो गए। एक अभ्युदय की समाप्ति हो गई....लेकिन भविष्य के लिए वह बहुत कुछ छोड़ गई।

